Digital India
Power To Empower

सत्यमेव जयते

स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

सैन्यविज्ञान

पाठ-संग्रह

वैज्ञानिक तथा तकनीकी
शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(शिक्षा विभाग)
भारत सरकार
1988

सैन्यविज्ञान

पाठ-संग्रह

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
भारत सरकार

1988

© भारत सरकार, 1988

प्रथम ई-संस्करण, 2019

ISBN 81-7092-002-7

अध्यक्ष की कलम से

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, उच्चतर शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1961 में अपनी स्थापना समय से ही, उसे सौंपे गए कार्य-भार अनुसार भारतीय भाषाओं में शिक्षा माध्यम परिवर्तन हेतु विभिन्न विषयों में भारतीय भाषाओं की मानक शब्दावली तथा विश्वविद्यालय स्तरीय विभिन्न विषयक पुस्तकों का निर्माण एवं प्रकाशन करता आ रहा है । इस दीर्घ अवधि में आयोग ने विभिन्न आवश्यक विषयों से संबंधित अंग्रेजी-हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषा शब्दावलियों का निर्माण एवं प्रकाशन किया है । इक्कीसवीं सदी के सूचना प्रौद्योगिकी के इस दौर में शिक्षा एवं ज्ञानार्जन के साधन को सद्यः उपलब्धता में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है । ई-गवर्नेंस, ई-व्यवसाय एवं डिजिटल इंडिया जैसे क्रिया-कलाप दैनंदिन जीवन के अंग हो गए हैं । ऐसे में आयोग ने भी इन अधुनातन साधनों का उपयोग करने का निश्चय किया । इस क्रम में आयोग द्वारा निर्मित सभी शब्दावलियों, परिभाषा-कोशों का ई-संस्करण आपको सहज रूप से उपलब्ध कराने के उद्देश्य से ई-बुक निर्माण योजना पर कार्य प्रारंभ किया गया है । इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु **'सैन्यविज्ञान पाठ-संग्रह'** का ई-बुक का संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है ।

मुझे इस पाठ-संग्रह का ई-संस्करण आप सबको सुलभ कराते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है । इसी भांति आयोग द्वारा अन्य विषयों के भी हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की शब्दावली, परिभाषा-कोशों का ई-संस्करण प्रकाशित करने के कार्य भी प्रगति पर है । आयोग को सौंपे गए महत्वपूर्ण दायित्व में से एक दायित्व, निर्मित शब्दवलियाँ प्रयोक्ताओं तक पहुँचाने का रहा है । इलेक्ट्रोनिक माध्यम से आयोग अपने प्रकाशनों के प्रचार-प्रसार में अधिक प्रभावशाली होगा । मुझे आशा है आयोग द्वारा किए जा रहे इस प्रयास से निर्मित शब्दावलियाँ जन-जन तक पहुंचेगी साथ ही सभी जिज्ञासु इस ई-संस्करण का अधिक से अधिक लाभ उठा सकेंगे ।

प्रो. अवनीश कुमार
अध्यक्ष

सैन्यविज्ञान पाठ-संग्रह ई-शब्द संग्रह निर्माण से संबद्ध आयोग के अधिकारी

प्रधान संपादक

प्रो. अवनीश कुमार

अध्यक्ष

संपादक

डॉ. अशोक एन. सेलवटकर

(सहायक निदेशक)

श्री शिव कुमार चौधरी

(सहायक निदेशक)

श्री जय सिंह रावत

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

श्रीमती चक्प्रम बिनोदिनी देवी

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

सुश्री मर्सी ललरोहलू हमार

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

भूमिका

युयुत्सा मानव मन की एक सहज प्रवृत्ति है। इसीलिए सृष्टि की रचना के साथ ही युद्ध की भावना का उदय भी माना जाता है। ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता का विकास हुआ और वैज्ञानिक उन्नति होती गयी त्यों-त्यों युद्ध के उद्देश्य और तौर-तरीके बदलते गये। आज के युग में सैन्य संचालन इतना जटिल और बहुमुखी हो गया है कि अब यह एक विज्ञान विशेष माना जाने लगा है तथा किसी भी राष्ट्र का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

एक सुसंगठित वैज्ञानिक विषय के रूप में विकसित हो जाने की वजह से इसे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस विषय पर अंग्रेजी में तो विपुल साहित्य उपलब्ध है, पर अभी हिंदी में यह साहित्य नगण्य ही है। इस अभाव की पूर्ति के एक लघु प्रयास के रूप में यह 'सैन्यविज्ञान पाठ-संग्रह' प्रस्तुत है। इस प्रकार इसे एक ऐसी प्रथम विश्वकोशीय पुस्तक माना जा सकता है जिसमें सैन्यविज्ञान से संबंधित अधिकांश व्यवहारपरक विषयों का समावेश किया गया है।

यह पाठमाला 'इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज' के इस विषय से संबंधित लेखों पर आधारित है। विषय-विशेषज्ञों से इन लेखों में यथोचित परिवर्तन और भारतीय परिवेश के अनुसार संशोधन-परिवर्धन कराने के पश्चात् इनका हिंदी अनुवाद किया गया है। इन लेखो में सैन्यविज्ञान विषयक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की गहन विवेचना हुई है तथा युद्ध के मनोविज्ञान एवं संक्रियात्मक, संगठनात्मक, राजनीतिक आदि अनेक पक्षों पर

भी प्रकाश डाला गया है। प्रयत्न यह रहा है कि इसे सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया जाए—पर साथ ही विषयगत प्रामाणिकता भी बनी रहे। इस पुस्तक के निर्माण में सैन्यविज्ञान के शीर्षस्थ विशेषज्ञों का सहयोग मिला है जिसके लिए शब्दावली आयोग उनका अत्यन्त आभारी है।

आशा है, यह पाठ-संग्रह विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी होगा ही, साथ ही इस विषय में रुचि रखने वाले पाठकों एवं विद्वानों के लिए भी पठनीय होगा तथा हिंदी जगत में इसका समुचित स्वागत होगा

प्रो० सूरजभान सिंह
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
नई दिल्ली

विशेषज्ञ परामर्श मण्डल

1. मेजर जनरल डी० के० पालित
2. प्रो० डी० डी० खन्ना, अध्यक्ष, रक्षा अध्ययन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
3. मेजर श्यामलाल, भूतपूर्व अध्यक्ष, सैन्यविज्ञान विभाग, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ
4. ले० कर्नल गौतम शर्मा (सेवानिवृत्त), थलसेना मुख्यालय, नई दिल्ली
5. मेजर के० सी० शर्मा

भाषा संपादन

1. डा० रणवीर रांग्रा, भूतपूर्व निदेशक, के० हि० निदेशालय
2. डा० नरेन्द्र व्यास, प्रधान संपादक
3. श्रीमती पी० भौर्या, भूतपूर्व सहायक निदेशक
4. श्री प्रेम दास, सहायक निदेशक
5. श्री ध्रुव देव शर्मा, सहायक शिक्षा अधिकारी
6. श्रीमती सरोज जैन, सहायक शिक्षा अधिकारी
7. श्रीमती सुदर्शन अरोड़ा, अनुसंधान सहायक
8. कुमारी कुसुम बंसल, अनुसंधान सहायक
9. श्री मदन मोहन लाल शर्मा, अनुसंधान सहायक

मुद्रण एवं प्रकाशन

श्री बी० डी० पंड्या	उपनिदेशक
डा० बी० के० सिन्हा	स०शि०अ० (मुद्रण)
श्री रामफूल	अवर श्रेणी लिपिक
श्री आलोक वाही	कलाकार

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
1. सैनिक संगठन	1
2. सामरिकी और स्त्रातेजी	27
3. मनोवैज्ञानिक युद्ध पद्धति	62
4. राजनीतिक शक्ति और सैन्य शक्ति	77
5. युद्ध पर विज्ञान और टेक्नोलाजी का प्रभाव	95
6. राष्ट्रीय सुरक्षा	113
7. सिविल-सैन्य संबंध	136
8. आंतरिक युद्ध	153
9. युद्ध तथा विदेश नीति	167
10. युद्ध तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि	187
11. वैमनस्य उपशमन	210
12. भयोपरति	217
13. निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण	247
14. रक्षा की अर्थ-व्यवस्था (सैन्य सहायता सहित)	265

सैनिक संगठन

-- कर्नल गौतम शर्मा

सिद्धांत

किसी भी अन्य प्रणाली के समान सैनिक संगठन इकहरी प्रणाली के अंतर्गत राज्य के राजनीतिक उद्देश्यों और अग्रिम पंक्ति के आदमियों के बीच कड़ी का कार्य करता है। यह कुछ सिद्धांतों पर आधारित है जो कई शताब्दियों से नहीं बदले हैं। इसके उच्चतम स्तर पर नीति निर्धारण करने वाली इकाई होती है जिसके कार्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है। इसका कार्य आमतौर पर बाहरी आक्रमण से देश की सुरक्षा और जब आवश्यकता हो तब सरकार की सहायता करना है। राष्ट्रीय हितों के, देश की सीमाओं से भी आगे बढ़ जाने के कारण, इसका कोई सीमा नहीं है कि देश की सेनाएं कहां लगाई जा सकती हैं। ये काम, स्पष्ट रूप से निर्धारित कमान और प्रशासनिक कार्यों वाला एक क्रियात्मक संगठन करता है जिनमें मोटे तौर पर, अभिप्रेरण, प्रशिक्षण और कार्यान्विति-निर्देशन, पूर्ति, उपस्कर और अन्य कल्याणकारी उपायों के साथ-साथ सभी क्षेत्रों के कार्य शामिल हैं। इस संगठन का रूप, अपेक्षाओं के अनुसार होता है जैसे कि अन्य सहायक संगठनों के अतिरिक्त थल, वायु सेना और नौसेना, जिसमें प्रत्येक की भूमिका स्पष्ट रूप से परिभाषित है। संस्थान सिद्धांत के आधार पर इन सेनांगों का एक ऐसा गठन होता है जिसका आकार उनकी भूमिका पर निर्भर करता है। यह अलंघनीय नहीं है और समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। उदाहरण के लिए पहले समय में सशस्त्र गारद होते थे, और उसके बाद अंग-रक्षक, पैदल सेना, सवार सेना, रिसाला, हाथी, रथ, वायुयान, जहाज आदि। यह देख कर अच्छा लगता है कि परंपरा और आधुनिकता जो हालांकि दो परस्पर विरोधी चीजें हैं, सेनाओं में फलती-फूलती हैं। गणतंत्र दिवस की वार्षिक परेड में ये दोनों चीजें यथार्थता में देखने को मिलती हैं–परंपरागत परिधानों में परि-शुद्ध कवायद और साथ ही रेडार, परास्वनिक वायुयान और मिसाइलें। सैनिक संगठन के लिए एक अन्य आवश्यकता है संचार की जो पहले समय में संदेशवाहक, शंख द्वारा और बाद में बिगुल, टेलीफोन और बेतार द्वारा पूरी की जाती रही है।

एक अत्यधिक औद्योगीकृत देश के लिए जिसके हित पूरे विश्व में फैले है, इसका अर्थ है दूर के क्षेत्रों और सागरों में वायु और समुद्र पर नियंत्रण, अपने देश और मित्र देशों के लोगों की सुरक्षा के अतिरिक्त दूर के क्षेत्रों में भी अल्पसूचना पर सीमित युद्ध लड़ सकने वाला एक लचीला संगठन । इसका यह भी अभिप्राय है कि एक पूर्ण सिविल सुरक्षा संगठन तैयार किया जाए जो तुरन्त रणक्षेत्र में भेजा जा सके । सैनिक क्षेत्र में आण्विक टेक्नालाजी के विकास के साथ देश की सशस्त्र सेनाओं को आक्रामक और सुरक्षात्मक दोनों प्रकार की भूमिकाओं के लिए न्यूक्लीय खतरे को भी ध्यान में रखना होगा । जबकि इस क्षेत्र में अति विकसित देश अपनी सुरक्षा योजनाओं में परमाणु-कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर लेते हैं, विकासशील, और कम विकसित देश सदा ही इस विनाश के खतरे में रहते हैं ।

सुरक्षा की योजना बनाने वाले इन दिनों अप्रत्याशित स्थानों से उठने वाले आकस्मिक और आसन्न खतरों से निपटने में कठिनाई महसूस कर रहे हैं । विभिन्न प्रकार के मनुष्यों का एक बड़ा तथा सुसंबद्ध और सुदृढ़ संगठन होने के कारण इसे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और प्रौद्योगिकी कारकों में लगातार और कभी-कभी तेजी से होने वाले परिवर्तनों के अनुसार कार्य करना होता है जिसका प्रभाव रक्षा पर पड़ता है । इसके लिए सदा परिवर्तनशील और उन्नत आसूचना संगठन और विभिन्न देशों के लिए लोगों को प्रभावित करने वाली इन शक्तियों का सही और ठीक-ठीक मूल्यांकन करने की आवश्यकता है ।

इन जटिल मुद्दों ने विचारकों को लचीले सैनिक संगठन का समर्थन करने को बाध्य किया है । छोटी संरचनाओं और फील्ड के कतिपय नियंत्रक मुख्यालयों की भी आवश्यकता है । इस उद्देश्य के लिए एक स्वतंत्र ब्रिगेड का समर्थन किया जा रहा है । ऐसे हथियारों की मांग है जो अधिक मारक शक्ति वाले किंतु हल्के हों और जो विभिन्न प्रकार की जलवायु और भूभाग पर प्रयोग किए जा सकें और विमानवाही या समुद्रवाही हों । छापामार कार्रवाइयां अब लगभग स्थायी हो गई हैं । सीमित संक्रियाओं और राष्ट्रीय स्तर पर फौरी लाभबंदी के लिए इस प्रकार की तुरंत प्रतिक्रिया के लिए घरेलू बेशीय मोरचे पर उच्च स्तर के अभिप्रेरण की आवश्यकता है । रिजर्व बल और क्षेत्रीय सेना के कार्य इसके साथ संबद्ध हैं । विकासशील देशों में द्वितीय सुरक्षा पंक्ति की भूमिका को उचित महत्व नहीं दिया जाता है । कुछ छोटे और अत्यधिक औद्योगीकृत देश इस समस्या का समाधान अल्पकाल के लिए राष्ट्रीय सेवा द्वारा कर लेते हैं ।

सैन्यतंत्र एक और ऐसा कारक है जिसकी व्यवस्था प्रत्येक कमांडर को बहुत बढ़िया ढंग से करनी होती है क्योंकि इसके बिना विजय प्राप्त नहीं की जा सकती । एक आवश्यक बुराई के रूप में अब यह स्थायी हो गई है । इसके लिए अग्रिम पंक्तियों में लड़ने वाले प्रत्येक सिपाही के लिए दस से अधिक आदमियों की आवश्यकता होती है । रणनीति और सामरिक गतिशीलता पर भी बल दिया जाता है । आधुनिक संक्रियाओं में गति के नियंत्रक कारक होने के कारण इस प्रशासनिक संगठन पर भी लगातार दबाव रहता है । एक विशेषज्ञ ने ठीक कहा था—

"अधिकांश स्थानों पर आपूर्ति के लिए हवाई परिवहन सबसे अच्छा साधन है। कुछ स्थानों पर सामान पहुंचाने के लिए यह एकमात्र साधन है और किसी भी स्थान पर सामान पहुंचाने के लिए यह तीव्रतम साधन है ।"

अंतिम आवश्यकता है धन की और लड़ने वाले तंत्र के लिए सभी आर्थिक साधनों को एक करने की । यह आवश्यकता किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं है । मौजूदा समय में अत्यधिक परिष्कृत प्रौद्योगिकी के कारण किसी भी देश के साधनों को काफी मात्रा सुरक्षा प्रयत्नों में लग जाती है । इसके साथ ही आकस्मिक संक्रियाएं और प्राकृतिक विपदाएं, जिनके लिए किसी भी देश की शस्त्र सेनाएं सदा ही तैयार और सज्जित रहनी चाहिएं, राष्ट्रीय कोष पर भारी बोझ डालती हैं । देश की अखंडता को बनाए रखने के लिए कोई भी कीमत या त्याग अधिक नहीं समझा जाता, इस तथ्य को स्वीकार करते हुए देश के योजनाकारों के सम्मुख निस्संदेह एक कठिन कार्य है ।

भारतीय संदर्भ में सैनिक संगठन का विकास आगामी पैराओं में दिया गया है । इससे स्पष्ट हो जाएगा कि अतीत काल में भारत इस क्षेत्र में कई देशों से बहुत आगे था ।

भारतीय सैन्य संगठन

सेना शब्द का अर्थ है—सशस्त्र कार्मिकों का एक संगठन जो राज्य की सेवा में हो । जब से समाज बना है उसके पास मनुष्यों का एक ऐसा दल रहा जिसने बाहरी खतरों से बचाव करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रखी थी । जैसे जैसे उनका कार्यक्षेत्र बढ़ता गया, इन लोगों को उचित स्थान दिया गया, गंभीर संकट के समय अन्य लोगों की सहायता ली जाती थी । दिन प्रति दिन अधिकाधिक महत्व प्राप्त करने वाली अन्य सैकड़ों आवश्यकताओं के अलावा इन कार्यों के लिए अत्यधिक शारीरिक कुशलता, हथियारों के प्रयोग में दक्षता, सेनाओं की तैनाती

और शत्रु पर श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए सामरिकी का ज्ञान आवश्यक था। इस प्रकार स्वतः ही एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया जिसने इस कला में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली जिसे बाद में युद्ध कला की संज्ञा दी गई। अपने कार्यों और युद्ध के बाद की लूट का अधिकांश माल अपने कब्जे में करने और इसके साथ ही राज सत्ता से अपनी निकटता के कारण ये लोग संभ्रांत—राजा, कुलीन, अभिजात बन गए। अंतर्जन-जातीय संबंधों के कारण इन्होंने अपनी स्थिति और अधिक मजबूत कर ली और अभिजात कहलाने लगे।

प्रारंभिक काल

यह काल वर्ण-व्यवस्था या श्रम-विभाजन की शुरुआत का काल भी था और भारत में शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रिय कहलाने लगे। लौकिक सत्ता के विपरीत धार्मिक सत्ता उस समय ब्राह्मणों के हाथ में थी और आने वाले समय में उन्होंने गुरु (अध्यापक) और मंत्रियों के रूप में शासन कला के साथ-साथ युद्ध-कला में भी दक्षता प्राप्त कर ली थी इनमें से चाणक्य 2,000 वर्षों के बाद भी एक प्रकाश-स्तंभ और महान ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में जाना जाता है। मनु-स्मृति में इस बात का उल्लेख है कि सेना में ब्राह्मणों की नियुक्ति की जाती थी। विश्वामित्र और द्रोणाचार्य क्रमशः राजा दशरथ (रामायण) के पुत्रों और कौरवों और पांडव राजाओं (महाभारत) के प्रसिद्ध गुरु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परंपरा बाद में भी चालू रही। अंतिम मौर्य राजा का कमांडर-इन-चीफ पुष्यमित्र संघ एक ब्राह्मण था। पाल राजा कुमारपाल के महान जनरल और मंत्री वैद्य-देव ने अपने स्वामी के लिए दो उल्लेखनीय विजय प्राप्त की थीं।

इस व्यवस्था का पालन बहुत सख्ती से नहीं किया गया। शुक्र नीति के अनुसार जो भी व्यक्ति बहादुर, स्वस्थ, आत्मसंयमी और आवश्यक योग्यताओं से युक्त होता था, उसे सेना की कमान सौंपी जा सकती थी चाहे वह शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या मनेच्छ कोई भी क्यों न हो। सामाजिक व्यवस्था के कठोर और अनम्य प्रतीत होने वाले विभाजन के बावजूद समय-समय पर स्थानांतरण और पदोन्नतियां होती रहीं और लोगों को अपने ज्ञान और अन्य विशिष्ट क्षमताओं के कारण उच्चतर पदों में शामिल किया गया। इस प्रकार हालांकि विश्वामित्र क्षत्रिय थे परन्तु ज्ञान और धर्म के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के कारण ऋषि बन गए। ऐसा कहा जाता है कि मौर्य वंश के प्रवर्तक चंद्रगुप्त मौर्य भी एक शूद्र थे। अफगान राजा के कमांडर-इन-चीफ हेमू, पानीपत की दूसरी लड़ाई में जिसका बहुत प्रमुखता से उल्लेख मिलता है, हालांकि एक वैश्य थे, परंतु उसने अपने आप को एक महान

सैनिक नेता के रूप में स्थापित कर लिया था और ऐसे समय में कमांडर-इन-चीफ के रूप में उनकी नियुक्ति, जब शासन परिषद् में इस पद के लिए कई दावेदार और प्रतियोगी होंगे, युद्ध-कला में उनकी योग्यता को प्रमाणित करती है। इस प्रकार समाज को बनाए रखने के लिए युद्ध को एक आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर लिया गया था जिसका उपयोग वास्तव में तभी किया जाता जब समझौते के अन्य सभी उपाय समाप्त हो जाते थे।

समाजशास्त्रियों ने सेना को, सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यवस्थित हिंसा के वैध साधन के रूप में मानने के कारण, कुछ अलग संदर्भ में प्रस्तुत किया है। अतः सरकार के आदेश के अधीन सेना हिंसात्मक कार्रवाई करती है, कभी-कभी यह अपने घृणिततम रूप में होती है लेकिन उसे स्वीकार करना पड़ता है और विधि-सम्मत माना जाता है। इन हिंसात्मक कार्रवाइयों की भी धर्मों द्वारा प्रशंसा की गई और उन्हें पवित्र भी माना गया—

"लड़ाई में मरना अच्छा।

स्वर्ग का मार्ग युद्ध भूमि से होकर जाता है।" (महाभारत)

सभी धर्मों में इस प्रकार की सूक्तियां हैं। परिणामस्वरूप शस्त्रास्त्रों की, जो किसी समय और आज भी अधिकांशत. स्टील के हैं, पूजा की जाने लगी और उन्हें पवित्र माना गया। सेना को जो सम्मान और प्राथमिकता दी गई वह इसी विचारधारा का फल है।

किसी भी देश के सैनिक संगठन की जड़ें उसके अतीत में होती हैं। भारत के संदर्भ में यह बिल्कुल सत्य है। महाकाव्यों और पुराणों में एक निश्चित पद्धति और युद्धविज्ञान के बहुत प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन भारत में सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन कौटिल्य द्वारा किया गया। राजा का सेना के प्रति एक निश्चित कर्त्तव्य था और दिन के आठ प्रहरों में से कम-से-कम दो प्रहर हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सेना की व्यवस्था देखने और अपने कमाण्डर-इन-चीफों के साथ सैनिक कार्रवाइयों की योजनाओं पर चर्चा करने में व्यतीत किए जाते थे। मैगस्थनीज और एरियन जो सिकन्दर के बाद भारत में आए, उन्होंने भी हाइडेस्पीज के युद्ध के समय इस सैनिक संगठन का जो स्वरूप था उसका विस्तृत ब्योरा दिया है।

राज्य एक स्थायी सेना रखता था। यह काफी रोचक बात है कि नवीन और उन्नत शस्त्रास्त्रों द्वारा हुए अभिनव परिवर्तनों के बावजूद इनमें से कुछ घटक देश में आज भी मौजूद हैं। सेना में रसद विभाग और चिकित्सा विभाग भी होते

थे। सेनानी (क्वार्टर मास्टर जनरल) सेनाओं के आराम, कल्याण और स्वास्थ्य के लिए जिम्मेदार होता था। मैगस्थनीज़ के अनुसार मौर्य स्थायी सेवा में 60,000 पैदल सैनिक, 30,000 घुड़सवार, 8,000 रथ (प्रत्येक में एक रथ-वान और दो लड़ाकू सैनिक होते थे) और 9,000 हाथी (प्रत्येक पर एक महावत और तीन तीरंदाज होते थे) थे। ध्वजसहित हाथी पर सवार राजा का, जमात-स्थल प्रदान करने के अतिरिक्त युद्ध में एक निश्चित कार्य होता है। लड़ाई के व्यूहबद्ध या स्थैतिक होने के कारण हाथी को युद्ध का आदर्श साधन जाना जाता था। घुड़सवार सेना की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी और घोड़ा न केवल हमारे देश की सेना का बल्कि विश्व भर की सेनाओं का एक आवश्यक अंग था, परंतु प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, टैंकों के आगमन ने लड़ाकू जवानों के इस वफादार साथी को गौण स्थिति में पहुंचा दिया। लेकिन फिर भी घोड़ों को युद्धभूमि से पूरी तरह से हटा सकने में लगभग आधी शताब्दी और लग गई। समारोह आदि के उद्देश्यों के लिए उसके अवशेष अभी भी दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे राष्ट्रपति के अंगरक्षक।

अर्थशास्त्र में चतुरंगिणी (चार स्तरी सैनिक संगठन) के अध्यक्षों अर्थात् घुड़सवार, हाथियों, रथों और पैदल सेना के व्यवस्थापकों के कर्त्तव्य विस्तार से दिए गए हैं। लड़ने वाले अधिकांश व्यक्ति जो क्षत्रिय होते थे, समाज की रक्षा के लिए हथियार धारण करते थे। आधुनिक सेनाओं के विपरीत, जहां बिना किसी प्रकार के वर्ग भेद के केवल एक ही प्रकार के अर्थात् नियमित-सैनिक होते हैं, वहां अर्थशास्त्र के अनुसार प्राचीन सेनाओं में छह विभिन्न वर्गों के सैनिक होते थे। मोल (बल) (नियमित पुश्तैनी सैन्य बल), भृतक (भृतक या किराए का); श्रेणी-बल (निगमों या संघों द्वारा दिए गए सैनिक); मित्र-बल (मित्र राष्ट्रों या सामंतों द्वारा दिए गए सैनिक); शत्रु पक्ष के भगोड़े और जनजाति के लोग जो पहाड़ी और अग्रवर्ती क्षेत्रों में लड़ने के लिए आदर्श थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना का अधिकांश भाग पैदल सेना के होने के बावजूद, उसने सिकन्दर महान् की सेना में दृष्टव्य पश्चिमी प्रभाव की दृष्टि से अपने सैनिक संगठन का सुधार और आधुनिकीकरण किया। उसने अपने अभियानों के दौरान यूनानी भृतक सैनिकों को भी भर्ती किया। सीमा के साथ-साथ सुरक्षा के लिए नई चौकियों का निर्माण और पुरानी चौकियों की मरम्मत करके सीमा क्षेत्रों को मजबूत किया। इस उद्देश्य के लिए सीमान्त सुरक्षा दलों को भी प्रशिक्षित किया गया।

यह चौथी शताब्दी ई० पूर्व की बात है और इसी संगठन चन्द्रगुप्त मौर्य को अपने राज्य का, मगध में अपने गढ़ से उत्तर पश्चिम में मकरान (गैड्रोशिया) से अरब सागर तक और उत्तर में और आगे काबुल (पैरोपनीसदाई) यहांतक कि कंधार (अराकोशिया) तक विस्तार करने में सहायता की। इस सीमा को आसानी से रक्षा की जा सकती थी और यही वह वैज्ञानिक सीमा थी जिसको प्राप्त करने के लिए आगामी 2000 वर्षों तक देश में उसके सभी उत्तराधिकारी व्यर्थ में इच्छा करते रहे। मुगल काल के दौरान उस क्षेत्र में कुछ भीतरी सड़कें बनाई गईं लेकिन उन पर बहुत दिन कब्जा नहीं रहा और जब वह कब्जा प्राप्त होने वाला था तब ब्रिटिश लोगों ने, जिनका एक शताब्दी तक इन पर कब्जा रहा, भारत के (1947) स्वतंत्र होने पर, उत्तर पश्चिमी क्षेत्र और वे सभी दर्रे जो देश में पहुंचने के मार्ग थे, रेडक्लिफ पंचाट के अनुसार भारत से छीन लिए और भारत को एक बार फिर उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व दोनों ओर उस वैज्ञानिक सीमा को अपनाना पड़ा जिसने 25 वर्षों की छोटी-सी अवधि में एक के बाद एक समस्याएं पैदा कर दीं।

भारत* की सुरक्षा को समझने के लिए एक तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए। यह एक विशाल भूखण्ड है जिसके उत्तर में बर्फ से ढके हिममंडित अगम्य पहाड़ हैं, पूर्व में बड़ी-बड़ी नदियां और घने जंगल और दक्षिण में हिन्द महासागर है। उत्तर-पश्चिमी पहाड़ भी हिमालय की पर्वत शृंखला का ही विस्तार है। दक्षिण में भी इसी प्रकार की पर्वत श्रेणियां हैं जो समुद्र तक फैली हुई हैं। परन्तु इन पर्वत श्रेणियों को खैबर और बोलन दर्रों के द्वारा पूरे वर्ष भर पार किया जा सकता है। ऊसर पहाड़ियां और रास्ते में रसद की परेशानी, इसके साथ पंजाब और उसके आगे बड़ी-बड़ी नदियां किसी भी विदेशी द्वारा लम्बे समय तक युद्ध जारी रखने के लिए अवरोधक कारक थे। उत्तर भारत मैदानी भाग था। विस्तृत भूखंड के साथ-साथ ही उसमें से होकर बहने वाली बड़ी-बड़ी नदियां किसी भी प्रकार के युद्ध के लिए उतनी ही बड़ी बाधाएं थीं इसलिए इस क्षेत्र को एक के नियंत्रण में रखने के लिए महान नेतृत्व, संगठन और साधनों की आवश्यकता थी। इसलिए जब कभी इसका अभाव होता था उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट जाता था जो आपस में लड़ते रहते थे। और जब उत्तर-पश्चिमी दर्रों के पार से विदेशी प्रहारक दूरी के अन्दर आ जाते थे तब पंजाब और आसपास के राजाओं को उस आघात को सहना पड़ता था। इन भीतरी सड़कों को उपमहाद्वीप या पूरे भारत

*यहां भारत से अभिप्राय राजनीतिक रूप में उस पूरे उपमहाद्वीप से है जिस रूप में वह अगस्त 1947 तक था।

के लिए कभी भी खतरा नहीं माना गया। इस प्रकार उस दिशा से किसी भी प्रकार के स्थलीय आक्रमण के लिए उपमहाद्वीप की सुरक्षा का भार पंजाब और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों पर था।

उत्तरवर्ती काल

परवर्ती शताब्दियों के सैनिक संगठन को जो सीमित भूमिका निभानी होती थी, उसके लिए वह प्रभावी साधन था। उस समय उत्तर पश्चिमी-प्रदेश के वास्तविक अभिरक्षक कुषाणों द्वारा लगातार युद्ध लड़ते रहने से यह स्पष्ट है कि उस समय के सैनिक संगठन बृहदाकार और मजबूत थे। उन्होंने उपमहाद्वीप में किसी को किसी भी प्रकार से घुसने नहीं दिया। उनके बाद कुछ समय तक अनिश्चितता की स्थिति रही और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से हूणों के आक्रमण संबंधी खतरों का सामना करने की जिम्मेदारी गुप्त वंश पर आ पड़ी। इस विशिष्ट वंश परंपरा में चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, समुद्रगुप्त और उनके बाद हर्षवर्धन का, महान योद्धा और राजनेता के रूप में प्रमुख स्थान है जिन्होंने युद्धों में अपनी सेनाओं का नेतृत्व किया। इस काल के दौरान सामरिक संकल्पना में परिवर्तन हुआ। कुछ चुने हुए गढ़ों से स्थैतिक या व्यूहबद्ध युद्ध-पद्धति के स्थान पर हल्की सेनाओं के साथ गतिशीलता और प्रहारशक्ति का युग प्रारंभ हुआ। तुरंत परिणाम प्राप्त करने के लिए घुड़सवार, तीरंदाजों पर अधिकाधिक भरोसा किया जाने लगा। युद्ध के साधन के रूप में रथ का प्रयोग समाप्त हो गया। भारी और दुर्वह तीर-कमान, तलवारों और भालों के स्थान पर हल्के शस्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा। अगली कुछ शताब्दियों तक कोई उल्लेखनीय सम्राट या राजा नहीं हुआ और भारतीय लड़ाकू सेनाओं को 8वीं शताब्दी में पहली बार एक नौजवान अरब जनरल के विरुद्ध कठिन परीक्षा देनी पड़ी।

अति प्राचीन काल से भारतीय धर्मयुद्ध लड़ते थे। भारत पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों के द्वारा धर्मयुद्ध का खुला उल्लंघन किए जाने से, आने वाले वर्षों में उसे कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा। उन्होंने धार्मिक स्थानों, शिक्षा केंद्रों को नष्ट करके और युद्ध बंदियों, दासों और महिलाओं पर अत्याचार करके अपनी लूटमार जारी रखी। अपनी संकल्पना ही के अनुसार प्रत्येक सैनिक-प्रणाली पारंपरिक होती है और वह वर्तमान की अपेक्षा भूत पर अधिक निर्भर रहती है। इसलिए, भारतीय जनरल और राजा कुछ भी नहीं भूले और न ही उन्होंने कुछ सीखा। परिणामस्वरूप राजपूत लोगों ने जो देश के पारंपरिक रक्षक थे, युद्ध-प्रणाली को उसके शुद्धतम रूप में अपनाया जिसके कारण उन्हें कई पराजयों का सामना करना पड़ा। अपने से श्रेष्ठ शत्रु के सम्मुख जौहर और आत्म-बलिदान

अपने प्राचीन गौरव सहित कुछ वर्षों पूर्व तक किया जाता रहा। लेकिन महाराणा प्रताप सिंह ने युद्ध प्रणाली की संकल्पना में परिवर्तन किया और अन्य रण कौशल अपनाया जिसके अनुसार लड़ाई के मैदान से हटना भी युद्ध-पद्धति का एक रूप हो गया। ये प्राचीन संकल्पनाएं देश की जन-शक्ति और उसके स्रोतों को नष्ट करने का साधन थीं और उन्होंने सैन्य विचारधारा में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया। परिणामस्वरूप भारतीय सेनाएं पुराने ढंग से ही संगठित होती रहीं।

प्रथम मुस्लिम आक्रमण

यहां एक प्रत्युत्तर देना जरूरी है। हमारा प्रारंभिक इतिहास अधिकांशतः यूरोपीय या मस्लिम इतिवृत्तों और यात्रा वृत्तान्तों पर आधारित है जिसकी पुष्टि के लिए शायद ही कोई स्थानीय प्रामाणिक स्रोत हो। आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में देश पर हुए प्रथम मुस्लिम आक्रमण का विवरण 300 वर्ष बाद एक पर्यटक द्वारा दिया गया। इन विवरणों के अनुसार भारतीय सैनिक संगठन ने उल्लेखनीय प्रदर्शन किया और आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में मुहम्मद-बिन-कासिम का कड़ा मुकाबला किया। अगले 300 वर्षों को उचित परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। मुसलमान धर्मावलंबी दूर-दूर के देशों पर अपना अधिकार जमा रहे थे और यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने भारत पर जो इन विस्तृत रेगिस्तानों से बहुत दूर नहीं था, आक्रमण नहीं किया। क्या इसका कारण यह था कि उत्तर-पश्चिम की हमारी सीमा के इन पहरेदारों ने कड़ा मुकाबला किया था ?

सतत आक्रमण

स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) से पहले 1000 वर्षों तक विदेशियों के विरुद्ध सतत संघर्ष जारी रहा जिसमें अनेक बार छोटी किंतु सुसज्जित, संगठित और प्रभावी नेतृत्व वाली विदेशी सेनाओं ने अधिक विशाल भारतीय सेनाओं पर विजय प्राप्त की थी। हालांकि भारतीय शासकों ने डटकर मोर्चा लेने का साहसिक प्रयत्न किया लेकिन नई संकल्पना या अधिक अच्छे रणकौशल के बिना हमेशा पहली लड़ाइयों की नीति को ही दोहराया गया। अफगान लोग, जिन्होंने घुड़-सवार सेना के इन नए सुधारों को युद्ध के निर्णायक शस्त्र के रूप में प्रस्तुत किया था, स्वयं मुगलों की श्रेष्ठ सेना और रणकौशल के सम्मुख तब हार गए जब बैरमखां (अकबर का संरक्षक और कमांडर-इन-चीफ) ने पानीपत की दूसरी लड़ाई (1956) में विजय प्राप्त की और मुगल साम्राज्य की दृढ़ नींव रखी।

मुसलमानों के अधीन

विभिन्न भारतीय शासकों और मध्य युग में राज्य करने वाले अफगान और मुगल शासकों और बाद के मराठा और सिख राजाओं, जिन्होंने अंग्रेजों का कड़ा मुकाबला किया, के सैनिक संगठनों में कोई मूलभूत अंतर नहीं था। यदि कोई अंतर था भी जो पराजय का कारण बना, तो उस पर इसी लेख में आगे विचार किया जाएगा। संपूर्ण शक्ति राज्याध्यक्ष और राजा में केंद्रित थी और राजा ही सर्वोच्च कमांडर होता था। एक सेनापति या कमांडर-इन-चीफ की नियुक्ति भी की जाती थी। युद्ध मंत्री या मंत्री राजा की सेना के प्रशासन में सहायता करता था। अफगान उसे दीवान-ए-अर्द कहते थे। विभिन्न घटकों के अपने-अपने अध्यक्ष होते थे जैसे, "मीर मंज़िल" (क्वार्टर मास्टर जनरल), मीर बाहरी (नौसेना विभाग), मीर आतश (तोपखाना) और मीर बख्शी (लेखा)। सैनिकों और घोड़ों की जांच-पड़ताल के लिए मुगल और अफगानों के पास एक पूर्ण संगठन होता था। राज्याध्यक्ष के पास समारोह के लिए और अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा और राजधानी की सुरक्षा दोनों के लिए अंगरक्षक होते थे। चूंकि यह व्यक्तिगत रिवाज था अत: इन व्यक्तियों का अत्यधिक विश्वासपात्र और राजभक्त होना आवश्यक था।

मुख्य घटक पैदल सेना, घुड़सवार सेना, हाथी और तोपखाना थे। उनकी संख्या प्रत्येक को दिए जाने वाले महत्व के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी लेकिन फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि धीरे-धीरे घुड़सवार सेना का महत्व बढ़ता गया हालांकि पैदल सेना को लड़ाई के मैदान की रानी समझा जाता था। मौजूदा शताब्दी में टैंकों के आगमन और घुड़सवारों के अप्रचलित हो जाने से एक परिवर्तन आया। इन सेनांगों को 10, 1000 और 10,000 तथा इसी प्रकार के गुणांकों में बांटा जाता था। अफगानों के अधीन 10,000 सैनिकों के डिवीज़न का अध्यक्ष मलिक, 1000 लड़ाकू सैनिकों का अमीर, 100 सैनिकों का सिपहसालार और 10 सैनिकों की सबसे छोटी इकाई, जिसे अब सेक्शन कहते हैं, का अध्यक्ष खालिद कहलाता था। मुगलों ने मन्सबदारी पद्धति को अपनाया और इसके अंतर्गत सवार (घोड़े) और ज़ात (पैदल) की संख्या के अनुसार ओहदेदार होते थे। अकबर के समय में मन्सबदारों के 33 ओहदे थे और इनमें 5,000 से लेकर 50,000 तक सैनिक और घोड़े होते थे।

नियमित सेना

प्रत्येक राज्य के पास अपनी नियमित स्थायी सेना होती थी और उत्तरदायित्व का क्षेत्र बढ़ने पर गवर्नरों को इसका अधिकार था कि वे अपनी टुकड़ी में और आदमी

भर्ती कर लें, परंतु सम्राट के आह्वान पर उन्हें उपलब्ध कराना होता था। इन सेनाओं के अनुरक्षण के लिए जमीनें दी जाती थीं। इस पद्धति का दुरुपयोग भी किया जा सकता था और इसका अनेक बार दुरुपयोग किया भी गया। परन्तु इसका संचालन सरल था हालांकि इसके दोनों तरफ बुराइयां थीं। इस पद्धति की प्रभाविता राज्याध्यक्ष के व्यक्तित्व और उसकी शक्ति पर निर्भर थी। दूर-दूर के प्रांतों की लंबी दूरी और संचार व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण इसमें विद्रोह की जड़ें और भविष्य में स्वतंत्र राज्यों के स्थापित हो जाने की संभावनाएं भी थीं। प्रांतीय गवर्नर प्रायः राजकुमार, राजा के रिश्तेदार या महत्वपूर्ण व्यक्ति हुआ करते थे और मध्ययुगीन भारतीय इतिहास इनके विद्रोहों को दमन करने के अभियानों से भरा पड़ा है। ऐसे ही एक विद्रोह को दबाने के लिए अकबर ने गुजरात की ओर 6 दिनों की बाध्य-मार्च की थी। यह उन दिनों होने वाले मंद सैन्य संचलनों के दौरान द्रुत कार्रवाई का एक दुर्लभ उदाहरण है। नियमित सैनिकों के अतिरिक्त आपात स्थिति के दौरान कुछ अन्य लोग और जिहाद के लिए स्वयंसेवक भर्ती किए जाते थे। धन की हमेशा कमी रहती थी जो कि सोने और चांदी के सिक्कों में बांटा जाता था और इसलिए अधिकांशतः वेतन समय पर नहीं मिलता था। सभी संबंधित व्यक्तियों द्वारा इस कमी की पूर्ति लूटमार और डकैती द्वारा की जाती थी जिसके लिए ऐसा प्रतीत होता था कि कोई प्रभावी व्यवस्था नहीं थी। इसी क्षेत्र में भ्रष्टाचार और अयोग्यता की जड़ें भी निहित थीं। शिवाजी ने इसके विरुद्ध प्रभावी कदम उठाए और इस बुराई को दूर करने के लिए कठोर नियम बनाए।

शस्त्रास्त्र

तलवार, कटार और भाले श्रेष्ठ माने जाते थे हालांकि पूर्ववर्ती युग में तीर-कमान और घुड़सवार तीरंदाज़ बहुत अधिक भयंकर समझे जाते थे क्योंकि उनमें मारक शक्ति के साथ-साथ गतिशीलता भी थी। बाबर द्वारा तोपखाने और गनों में उपयोग के लिए बारूद के प्रचलन के बाद, ये लड़ाई में और किलों पर काफी लोकप्रिय हो गए। हालांकि तोपखाने की शाखा के अध्यक्ष के पद पर विदेशी लोग नियुक्त किए जाते थे, परंतु हमारे देश में तोपखाना भी कभी प्रभावी अंग नहीं रहा। मुगल शासकों ने अपने तोपखाने के लिए अंग्रेज, डच, जर्मन, फ्रांसीसी और भारतीय ईसाई नियुक्त किए और उसमें तोप, हल्के और भारी राकेट, मार्टर,

---

इसी कारण से टैंक सैनिक अपने को घुड़सवार सेना का उत्तराधिकारी समझते हैं और उन्होंने सेना के श्रेणीबद्ध संगठन में उनका स्थान ले लिया।

अवक्षेपक, घुमाऊ तोप, गजनाल और हथनाल शामिल थे। रकाब आकार वाले गोले आदि से युक्त तोपखाना सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था।

बारूद के उपयोग ने सेना संगठन में एक नए तत्व को शामिल कर दिया जिसे भारतीयों ने शीघ्र ही अपना लिया। भारत में यूरोपीय लोगों द्वारा की गई संक्रियात्मक कार्रवाई ने एक और व्यापक महत्व के सिद्धांत को उजागर किया। यह था—उचित सैनिक संगठन, प्रशिक्षण, अनुशासन, भर्ती और वेतन। शिवाजी ने मुगलों और यूरोपीय लोगों की सभी अच्छी बातों को अपनाया और उन्हें अपनी सेना में लागू किया। इस सेना के साथ उन्होंने कई लड़ाइयां लड़ीं और अपने शत्रुओं के विरुद्ध जितनी भी लड़ाइयों में वे स्वयं शामिल हुए उनमें से एक में भी उनकी पराजय नहीं हुई। लेकिन उनके बाद पेशवाओं के शासन-काल में अपकर्ष प्रारंभ हो गया जब मराठा सैन्य प्रणाली में सामंतवाद ने सिर उठाना शुरू कर दिया। होलकर को छोड़ कर अधिसंख्य सरदारों ने अंग्रेजों को उनकी चाल से हराने के लिए यूरोपीय लोगों को काफी संख्या में भर्ती किया। यह प्रयोग सफल नहीं हुआ क्योंकि इनमें लोग ऊंचे स्तर के नहीं थे और अपने नए मालिक के प्रति वफादार नहीं थे। रणजीत सिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने इन यूरोपीय लोगों को अधिक संख्या में भर्ती करके और अपनी सेना को विदेशी ढंग से संगठित करके इस प्रणाली को और आगे बढ़ाया। यह भी असफल सिद्ध हुआ। रणजीत सिंह अपने जीवन काल में अंग्रेजों के साथ अपनी शक्ति आजमाने से वंचित रहे और उनके बाद जब सामना करना पड़ा तो परिणाम पूर्वनिश्चित था। प्रथम और द्वितीय सिक्ख-युद्ध सिक्ख सैन्य प्रणाली की सजीव झांकी और अंतिम कार्रवाई थे। यही नहीं, यह भारतीयों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध अंतिम और आखिरी दृढ़-संकल्पयुक्त लड़ाई थी।

समीक्षा

अंतिम और वर्तमान चरण की चर्चा करने से पूर्व उन पूर्ववर्ती सैन्य प्रणालियों की कमियों और त्रुटियों की जांच कर लेना संगत होगा जिनके कारण ये प्रणालियां अफ़गान, मुगल और बाद में अंग्रेजों की छोटी सेनाओं के सम्मुख असफल हो गईं। वैसे तो सभी प्रणालियां, मुख्यतः सैनिक प्रणाली, कुछ सिद्धांतों पर आधारित होती है, जिनका उल्लंघन करने से अनर्थ की संभावना रहती है। भारत एक विशाल उपमहाद्वीप है और बहुत ही कम मौकों पर यह एक केंद्रीय सरकार के अधीन रहा है। लेकिन हमारी पराजयों का कारण यह नहीं था क्योंकि यूरोप में हमसे काफी छोटे राज्यों ने कई शताब्दियों तक अपने से बड़ी सेनाओं के विरुद्ध

और अपनी सुरक्षा के प्रति गंभीर संकट के समय अपना अस्तित्व बनाए रखा। भारत में इन राज्यों में संयुक्त होने की प्रवृत्ति और एकता के कुछ मूलभूत तत्वों और सतत नीति का अभाव था। यहां प्रत्यक्ष ज्ञान और सही दृष्टिकोण का नितांत अभाव था। इस अवधि के दौरान किसी भी प्रकार की आसूचना प्रणाली नहीं थी जो समय पर आसन्न आक्रमण या संभावित खतरे की चेतावनी दे ताकि जिन नए शस्त्रों या रण कौशल का उन्हें सामना करना हो उनके विरुद्ध प्रभावी जवाबी उपाय किए जा सकें। भारत में युद्ध-प्रणाली अत्यधिक वैयक्तिक और व्यक्ति-प्रधान थी और प्रत्येक छोटा-बड़ा राज्य अपने ही क्षेत्र में कार्रवाई करता था। एक-दो बार गठबंधन और संघ बनाए गए लेकिन कमान या नियंत्रण में कोई अग्रिम और उचित योजना नहीं थी, और लड़ाई के दौरान उन्होंने अपने-अपने कमांडरों के अधीन अलग-अलग इकाई के रूप में कार्रवाई की थी। इससे अनुशासन की कमी का पता लगता है। पानीपत की तीसरी लड़ाई से पूर्व के राजा सूरजमाल का भाऊ के दल को छोड़ जाना अनुशासनहीनता का एक ज्वलंत उदाहरण है। नेतृत्व गुण भी बहुत ऊंचे स्तर का नहीं था। कमांडर बड़ी-बड़ी लड़ाइयों या संघ के संचालन में अनुभवी नहीं थे, जैसे कि भाऊ के मामले में स्पष्ट है। लड़ाई में कमान, अनुभव या प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप नहीं बल्कि पारिवारिक या पुश्तैनी आधार पर दी जाती थीं। यही तथ्य इस महत्वपूर्ण विद्या के ह्रास के लिए जिम्मेदार है। जब आत्मनिर्भरता और योग्यता के स्थान पर अंधविश्वास और ज्योतिषियों पर अधिक भरोसा किया जाता था तब हमारी कई लड़ाइयों में निराशावाद के प्रमाण भी दिखाई दिए। अंततः बाद के समय में अपरिपक्व विचारों और विदेशियों की संदिग्ध वफादारी पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा। मराठा युद्धों और बाद में सिख युद्धों में यह कई बार देखने को मिला जहां यूरोपीय कमांडर अंतिम शक्ति-परीक्षा से पूर्व ही अंग्रेजो सेनाओं के साथ वापस चले गए। भारतीय कमांडरों द्वारा फौजी कार्रवाई की योजना में ऐतिहासिक और भौगोलिक कारकों के महत्व को बिल्कुल भी ध्यान में नहीं रखा जाता था। फलस्वरूप पराजयों का सामना करना पड़ा और विदेशियों की छोटी सेनाओं के हाथों हमारी बड़ी सेनाओं का भी विनाश हो गया।

ब्रिटिश युग

उपर्युक्त ब्यौरे से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में प्राचीन समय से सुस्पष्ट सैनिक संगठन और परंपरा थी जिसका ब्रितानी लोगों ने तुरंत लाभ उठाया। अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा लेने पर उन्हें स्थानीय साधनों और लोगों पर निर्भर रहना

आवश्यक था। इसके कारण भाड़े के सैनिकों की एक सेना गठित की गई जो अन्ततः ब्रिटिश-भारतीय सेना के नाम से जानी गई। भारत में मौजूदा सैनिक संगठन सीधे इसी ढांचे पर आधारित हैं जिसे 1947 मे अंग्रेज छोड़ कर गए और आज भी उसी ढांचे पर आधारित है। हालांकि इसे एक राष्ट्रीय सेना का रूप प्रदान करने के लिए इसमें समय-समय पर परिवर्तन किए गए। अब यह कुछ युद्धप्रिय जातियों* के लिए सुरक्षित नहीं है और अब तक प्रचलित कुछ संधियों के अनुसार नेपालियों सहित सभी भारतीय नागरिकों के लिए खुली है। कुछ विशेषताओं को ध्यान में रखने के अतिरिक्त इस विकास के विस्तार से लाने की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजों के प्रारंभिक अड्डे बंबई, मद्रास और बंगाल क्षेत्र में थे जो बाद में प्रेसिडेंसी बन गए। इसलिए उनकी सेनाओं में तब तक तीन सुस्पष्ट विशिष्टताएं थीं जब तक कि उन्होंने मिल कर भारत की एक सेना का रूप नहीं ले लिया। भारतीय सेना के अधिकांश रेजिमेंटों के नामों, रिवाजों और परंपराओं में यह सम्मिलन अब भी मौजूद है। एक अन्य परंपरा यह है कि कुछ वर्ग रेजिमेंटों को चालू रखना जिसमें विशेष वर्ग और जाति के लोग ही भर्ती किए जाते हैं और उनके नाम उन्हीं के आधार पर रखे गए हैं जैसे कि सिख, मराठा, जाट, राजपूत, गढ़वाल रेजिमेंट आदि।

उच्चतर कमान संगठन

प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास के साथ-साथ भारतीयों के हाथों में अधिकाधिक शक्ति आती गई परन्तु अंत समय तक रक्षा नीति और उस पर होने वाले व्यय पर नियंत्रण भारतीय विधान-मंडल के अधिकार क्षेत्र में नहीं था। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान विश्व भर में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए सशस्त्र सेनाओं की भर्ती की जाती थी हालांकि यह निर्णय किया जा चुका था कि भारत

*युद्धप्रिय जाति शब्द को ठीक अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया और इसका बहुत दुरुपयोग भी किया गया। इसका अभिप्राय है क्षत्रियों को छोड़कर अन्य सभी भारतीय, क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि कुछ जातियों के समस्त लोग योग्य सैनिक बनते है और इसलिए इन्हीं जातियों के लोगों को प्रांतीय सीमाओं का ध्यान रखे बिना सेना में भर्ती किया जाता है। ये जातियां थीं, अहीर, सिख, गढ़वाली, कुमायूनी, मराठा, गोरखा आदि। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान 'युद्धप्रिय जातियों' का सिद्धांत निर्मूल सिद्ध हुआ जब वे लोग जिन्हें अब तक 'निम्न वर्ग' और युद्ध से बचने वाला समझा गया था, योग्यता, उच्च शिक्षा और विशिष्ट कार्यों के प्रति अभिरुचि के कारण अधिक संख्या में थल सेना, नौसेना और वायु सेना में भर्ती किए गए। ऐसी भर्ती करने और शारीरिक मानदंड में भी ढील देने का एक अन्य कारण यह था कि युद्ध के दौरान सेना विस्तार की भारी मांग को पूरा करने के कारण युद्धप्रिय जातियों का स्रोत लगभग समाप्त हो गया था।

सभी दृष्टियों से आधुनिकतम सेना रखेगा परंतु केवल उतनी ही जो बाहरी आक्रमण के विरुद्ध भारत की सुरक्षा के लिए तथा आंतरिक सुरक्षा बनाए रखने के लिए पर्याप्त हो। रक्षा-सचिव के अधीन रक्षा विभाग सबसे बड़ा सैन्य समन्वय संगठन था। 1942 में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में रक्षा-सदस्य के रूप में किसी सिविलियन की नियुक्ति होने तक यह जिम्मेदारी कमांडर-इन-चीफ की थी और वह तीनों सेनाओं का अध्यक्ष था। सिविलियन रक्षा-सदस्य की नियुक्ति हो जाने पर भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया क्योंकि उसे कुछ महत्वहीन कार्य दिए गए। हालांकि रक्षा-सदस्य कार्यकारिणी परिषद् की सभी बैठकों में भाग लेता था, परंतु कमांडर-इन-चीफ अपने पद के कारण प्रमुख समन्वयक बना रहा और रक्षा-नीति निर्धारित करने में उसकी निर्णायक भूमिका होती थी। 1946 में आंतरिक सरकार के गठन के बाद एक और महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। जब राजनीतिक दलों में से किसी एक में से रक्षा सदस्य की नियुक्ति की गई और कमांडर-इन-चीफ वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् का असाधारण सदस्य नहीं रहा। लेकिन वह स्थल सेना, नौसेना (रायल भारतीय नौसेना) और वायुसेना (रायल भारतीय वायुसेना) का कार्यपालक अध्यक्ष बना रहा और सदस्य का सलाहकार बन गया।

1947 के बाद परिवर्तन

15 अगस्त, 1947 के बाद और परिवर्तन आया। जब रक्षा सदस्य को रक्षा मंत्री मनोनीत किया गया और प्रथम बार वह रक्षा-नीति, रक्षाबजट और सशस्त्र सेनाओं के प्रशासन के लिए विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी बना। एक कमांडर-इन-चीफ के स्थान पर सेना के तीनों अंगों के अलग-अलग अध्यक्ष नियुक्त किए गए और उनके समन्वय और संघटन की जिम्मेदारी रक्षा मंत्री और रक्षा मंत्रालय को सौंपी गई। चूंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद भारत को कश्मीर में भारी खतरे का सामना करना पड़ा, अतः प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिमंडलीय रक्षा समिति गठित की गई जिसके सदस्य उप-प्रधान मंत्री, वित्त मंत्री और रक्षा मंत्री थे। बाद में तीनों अंगों के अध्यक्ष भी इसके सदस्य बन गए। अब यह कार्य राजनीतिक मामलों की मंत्रिमंडलीय समिति करती है। रक्षा मंत्री इस समिति के अधीन देश की सुरक्षा से संबंधित अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करता है। रक्षा मंत्री की समिति के अतिरिक्त उसकी अध्यक्षता में प्रत्येक सेवा के लिए एक-एक समिति है। चीफ आफ स्टाफ समिति सैनिक योजनाएं बनाने और रक्षा समस्याओं पर सरकार को परामर्श देने का कार्य करती

है। युद्ध के दौरान यह समिति सरकार* के नियंत्रण के अधीन दिन-प्रतिदिन की सैनिक संक्रियाओं का संचालन करती है।

विशिष्ट कार्यों के कार्यान्वयन के लिए बाद में कई विशेष समितियां बनाई गईं। ये समितियां हैं—संयुक्त योजना समिति, संयुक्त प्रशासन योजना समिति, संयुक्त आसूचना समिति, संयुक्त संचार इलेक्ट्रानिच समिति, प्रधान कार्मिक अधिकारी समिति, प्रधान पूर्ति अधिकारी समिति, नए शस्त्रास्त्र तथा नवीन उपस्कर उत्पादन तथा आपूर्ति समिति आदि। इन समितियों के लिए मंत्रिमंडल सचिवालय के सैनिक स्कंध से कर्मचारी लिए जाते हैं।

रक्षा मंत्रालय

रक्षा मंत्रालय के चार अलग-अलग विभाग इस प्रकार हैं :—

(i) रक्षा विभाग जिसका अध्यक्ष रक्षा सचिव होता है और जो तीनों सेनांगों और अंतःसेवा संगठनों का कार्य देखता है।

(ii) रक्षा उत्पादन विभाग, जिसका अध्यक्ष सचिव, रक्षा उत्पादन होता है और यह विभाग रक्षा उत्पादन, योजना तथा विभागीय उत्पादन यूनिटों (आर्डनैंस फैक्टरी, भारी वाहन फैक्टरी, अवाडी) और रक्षा सार्वजनिक क्षेत्र के यूनिटों के नियंत्रण से संबंधित मामलों की देख-भाल करता है।

(iii) रक्षा आपूर्ति विभाग। इसका अध्यक्ष भी सचिव, रक्षा उत्पादन होता है। यह विभाग पहले आयात किए गए उपस्कर और अतिरिक्त हिस्से-पुर्जों के देशीयकरण के लिए उत्तरदायी है।

(iv) रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन जिसका अध्यक्ष रक्षा मंत्री का वैज्ञानिक सलाहकार होता है। यह भारत सरकार का सचिव और रक्षा और अनुसंधान विकास संगठन का महानिदेशक भी होता है।

रक्षा विभाग भारत की सुरक्षा और उससे संबंधित सभी कार्य करता है। इसमें सुरक्षा के लिए तैयारी और वे सभी कार्य शामिल हैं, जो युद्ध के दिनों में उसके कार्यान्वयन के लिए और युद्ध की समाप्ति के बाद प्रभावी सैन्य-विघटन, थल सेना, नौसेना और वायु-सेना के प्रशासन, तीनों सेनांगों, प्रादेशिक सेना और सहायक वायु सेना के लिए रिजर्व जुटाने के लिए जरूरी हो सकते हैं। इसके

*अधिक ब्यौरे के लिए देखें, सिविल-सैन्य संबंध पर लिखा गया अध्याय।

अतिरिक्त रक्षा विभाग के कार्यों में थल सेना, नौसेना, और वायु सेना के साथ-साथ उत्पादन, सैन्य फार्म संगठन, कैन्टीन स्टोर विभाग, रक्षा सेवा प्राकलनों से भुगतान की जाने वाली असैनिक सेवाओं से संबंधित कार्य, जल सर्वेक्षण, नौ-परिवहन संबंधी चार्ट तैयार करना, छावनियों का निर्माण और उससे संबंधित अन्य विषय, रक्षा उद्देश्यों के लिए जमीन और सम्पत्ति का परिग्रहण, अधिग्रहण, और अभिरक्षा तथा त्याग और पेंशनधारियों सहित भूतपूर्व सैनिकों से संबंधित मामले शामिल हैं। इस उद्देश्य के लिए कई अंत:सेवा संगठन स्थापित किए गए। इनमें सैन्य भूमि और छावनियां, राष्ट्रीय रक्षा कालेज, संयुक्त बोज लेख ब्यूरो, विदेशी भाषा स्कूल, ऐतिहासिक अनुभाग, सेना खेलकूद, नियंत्रण बोर्ड, सशस्त्र सेना फिल्म व फोटो डिवीजन, जन सम्पर्क निदेशालय, रक्षा मंत्रालय पुस्तकालय, सशस्त्र सेनाओं की चिकित्सा सेवाएं, पुनर्वास महानिदेशालय और राष्ट्रीय केडेट कोर महानिदेशालय शामिल हैं।

रक्षा प्रबंध

वर्तमान युग विज्ञान और तीव्र औद्योगीकरण का युग है। इन दोनों ने ही रक्षा सेनाओं को प्रभावित किया है। रक्षा प्रबंध इस कार्यालय का महत्वपूर्ण पहलू है और रक्षा प्रबंध संस्थान, सिकन्दराबाद का इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वित्तीय सलाहकार की अध्यक्षता में वित्त मंत्रालय (रक्षा) रक्षा-व्यय की छानबीन के लिए उत्तरदायी है। सैन्य व्यय संबंधी सभी प्रस्तावों की जांच वित्तीय सलाहकार द्वारा की जाती है जो रक्षा बजट तैयार करने में भी मदद करता है।

उपर्युक्त समितियों का गठन प्रत्येक देश की अपनी-अपनी जरूरतों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है किंतु यह जनता, जिसमें चरम सत्ता निहित है, के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा देश की रक्षा के लिए जन-शक्ति, साधनों और अन्य क्षमताओं के उत्तम उपयोग को सुनिश्चित करने के लिए एक तरीका है और इसके साथ ही यह सैनिक शक्ति पर सिविल शक्ति के प्रभुत्व का भी द्योतक है। चूंकि इन कार्यों का स्वरूप अत्यन्त विशिष्ट है, अत: तीनों सेनांगों के अध्यक्षों को सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर के राष्ट्रपति तक जाने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। ये अध्यक्ष अधिकांश समितियों के सदस्य होते हैं, अत: ये समितियां उन्हें अपनी विशेषज्ञ सलाह देने के लिए भी बुला सकती हैं। चूंकि रक्षा मंत्रालय उच्चतर रक्षा नीति और अन्य अंत: सेवा संगठनों के कार्यों की देखरेख करता है अत: तीनों सेनांगों में से हर एक का रक्षा मंत्रालय के अधीन अपना-अपना उच्च मुख्यालय

है। फरवरी, 1948 में तीनों सेनांगों के कमांडर-इन-चीफों के ये नाम रखे गए—चीफ आफ आर्मी स्टाफ (थल सेनाध्यक्ष) और कमांडर-इन-चीफ, भारतीय सेना; चीफ आफ नेवल स्टाफ (नौ सेनाध्यक्ष) और नेवल आफिसर कमांडिंग, रायल भारतीय नौसेना और चीफ आफ एयर स्टाफ (वायुसेनाध्यक्ष) और एयर मार्शल कमांडिंग रायल भारतीय वायुसेना। जनवरी 1950 में भारत के गणतंत्र बन जाने पर भारत के राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर बन गए। तीनों सेनांगों के अध्यक्षों के पदों में भी परिवर्तन आया और अब उन्हें थल सेनाध्यक्ष, नौसेनाध्यक्ष और वायुसेनाध्यक्ष कहा जाने लगा। इन सभी का ओहदा समान है जैसे जनरल, एडमिरल और वायुसेना में मार्शल। 1950 में नौसेना और वायुसेना के पदनामों के साथ "रायल" शब्द हटा लिया गया और कई रेजिमेंटों को दिए गए शाही निशान वापस ले लिए गए। थलसेना, नौसेना और वायुसेना के मुख्यालय उसी आधार पर संगठित किए गए ताकि सरकार को अधिक-से-अधिक अच्छी सलाह दी जा सके और इसके साथ ही उसकी नीतियों और निर्णयों को लागू किया जा सके। इन मुख्यालयों का शांति और युद्ध दोनों के दौरान अपने-अपने सेनांगों पर सीधा अधिकार और नियंत्रण है।

1957–62 की अवधि के दौरान रक्षा नीति का निर्माण हो रहा था और उपस्करों के चुनाव तथा देश में उनके निर्माण और विकास के संबंध में नीति बनाने का प्रयत्न किया गया। 1962 के अंत में हुए मुकाबले और उत्तरी सीमा से बढ़ते हुए खतरे को देखते हुए इस प्रक्रिया में तेजी लाई गई। इस प्रकार वर्ष 1962–63 के दौरान हमारी रक्षा नीति दृढ़ नहीं रही और इसके कारण इस क्षेत्र में आने वाले वर्षों के लिए व्यवस्थित योजना बनाने के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर सर्वतोन्मुखी परिवर्तन भी हुए।

थल सेनाध्यक्ष के अधीन थल सेना मुख्यालय की कई शाखाएं हैं जिनके प्रभारी, प्रधान स्टाफ अफसर (पी० एस० ओ०) होते हैं। इनका प्रमुख कर्तव्य प्रशासन के कार्यान्वयन में थल सेनाध्यक्ष की सहायता करना है और वे अपनी सेवा, अनुभव और अधिकार के कारण काम का काफी बोझ अपने ऊपर ले लेते हैं। इन अधिकारियों के पदनामों और ओहदों में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। जनवरी, 1965 में उप थल सेनाध्यक्ष और चीफ आफ जनरल स्टाफ का नाम क्रमशः सह थल सेनाध्यक्ष और उप थल सेनाध्यक्ष रखा गया। एडजुटेंट जनरल, मास्टर जनरल आफ आर्डनैन्स, अन्य प्रधान स्टाफ अफसर हैं। प्रमुख इंजीनियर और सैनिक सचिव थल सेना मुख्यालय में विभिन्न शाखाओं के अन्य प्रमुख अध्यक्ष हैं। सह अध्यक्ष के अधीन जनरल स्टाफ शाखा निम्नलिखित कार्य करती है—

सैनिक संक्रियाएं, सैनिक आसूचना, सैनिक प्रशिक्षण, समाघात विकास, सैनिक सर्वेक्षण जिसमें नक्शों का अनुरक्षण और सप्लाई और इंजीनियरी स्टाफ संबंधी मामले भी शामिल हैं। उपाध्यक्ष जनरल स्टाफ शाखा के अन्य कार्यों को देखता है। यथा, स्टाफ के कर्तव्य, शस्त्रास्त्र और उपस्कर, आर्मर्ड कोर, तोपखाना, सिगनल, पैदल सेना, प्रादेशिक सेना, रक्षा सुरक्षा कोर। एडजुटेंट जनरल की शाखा कल्याण, स्वास्थ्य और सैनिक कानून के अतिरिक्त जनशक्ति, भर्ती, छुट्टी, वेतन और भत्ते, पेंशन, सेवा की अन्य शर्तों और अनुशासन के लिए जिम्मेदार हैं। क्वार्टरमास्टर जनरल की शाखा कार्मिकों के संचलन, स्टोर और उपस्कर, रसद, नए घोड़ों की सप्लाई और पशु-चिकित्सा संबंधी सेवाओं, सेना डाक व्यवस्था, पायनियर और कैन्टीन सेवाओं, निर्माण-कार्य नीति, अग्निशमन और निर्माण कार्यों की तकनीकी जांच और सैनिक इंजीनियरी सेवाओं के बिलों का कार्य करती है। मास्टर जनरल आफ आर्डनैंस अधिप्राप्ति नीति के सभी पहलुओं और आर्डनैंस आपूर्ति के सभी सामान और उपस्करों की व्यवस्था करने, उन्हें स्टोर करने, वसूली करने, उनकी मरम्मत करने और उनके अनुरक्षण के लिए जिम्मेदार है। इसमें नौसेना और वायुसेना के लिए सैनिक परिवहन, गाड़ियां, शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, सिगनल उपस्कर, आम सामान और वस्त्रों के साथ-साथ आम उपयोग की वस्तुओं की सप्लाई करना शामिल है। सैनिक सचिव, अधिकारियों से संबंधित कार्य देखता है जैसे कमीशन देना, तैनाती, स्थानांतरण, पदोन्नति, सेवा-विमुक्ति, सेवा-निवृत्ति, इस्तीफा, अशक्तता, रिजर्व में स्थानांतरण, गोपनीय रिपोर्ट रखना, सेना के सभी गैर-चिकित्सीय अधिकारियों के व्यक्तिगत रिकार्ड रखना और इसी प्रकार के अन्य कार्य। इंजीनियरी यूनिटों और इंजीनियरी सामान से संबंधित सभी मामले, इंजीनियरी कोर और सैनिक इंजीनियरी सेवा के प्रशासन और कार्मिक संबंधी मामले रक्षा सेनाओं के लिए सभी प्रकार के आवासों और निर्माण-कार्यों के डिजाइन, निर्माण और अनुरक्षण का कार्य मुख्य इंजीनियर की शाखा द्वारा किया जाता है।

1947 से पहले के युग में देश की सेना तीन स्थैतिक कमानों में विभाजित थी। प्रत्येक का अध्यक्ष एक लेफ्टिनेंट जनरल था। अब ऐसी पांच कमानें हैं: उत्तर, मध्य, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण। ये आगे एरिया में बंटी होती हैं—एल० आफ सी० एरिया, एफ एरिया और स्टेशन। उच्चतम लड़ाकू विरचना, सेना है जो आगे कोर, डिवीजन और ब्रिगेड में बंटी हुई है। बटालियन/रेजिमेंट वह सबसे छोटी यूनिट है जिसे नियोजित किया जा सकता है और जो स्वतंत्र कार्रवाई कर सकती है।

प्रेसीडेंसी सेनाओं के प्रारंभिक दिनों से आज तक अधिकारियों की भर्ती में कई परिवर्तन हो चुके हैं। अधिकारी कोर के भारतीयकरण में काफी समय लग गया और 1939–45 के युद्ध के दौरान इसमें तेजी आई। सभी ब्रिटिश अधिकारियों के चले जाने पर 1947 के बाद भारत सेना का पूरी तरह भारतीयकरण हो गया। अधिकारियों की नियमित कोर के अलावा अल्पकालिक कमीशन प्राप्त अधिकारी भी हैं। ब्रिटिश युग के दौरान मध्य ग्रेड के अधिकारी भी होते थे जिन्हें वायसराय का कमीशनप्राप्त अधिकारी (वी०सी०ओ०) कहा जाता था हालांकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस रैंक की उपयोगिता संदिग्ध हो गई परन्तु इसे बनाए रखा गया और इसे अब जूनियर कमीशन प्राप्त अधिकारी (जे० सी० ओ०) कहा जाता है। एक और महत्वपूण परिवर्तन जमादार के पदनाम में हुआ जो कि जे० सी० ओ० के लिए निम्नतम रैंक है और इसे 1965 के बाद से नायब सूबेदार कहा जाने लगा।

भारत के सैनिक इतिहास में 1962 का वर्ष एक मोड़ था। चीन के हाथों पराजित होने पर हमें अपनी विदेश नीतियों में परिवर्तन करना पड़ा और रक्षा सेनाओं का पुनर्गठन और विस्तार करना पड़ा। थल सेना की संख्या बढ़ा दी गई और अब वह 8.37 लाख है। उन्नत और आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों और उपस्करों को लागू करने के साथ-साथ सैनिक विरचनाओं और यूनिटों का पुनर्गठन भी किया गया। सेना को संक्रियात्मक दृष्टि से प्रभावशाली बनाने के लिए प्रशिक्षण सुविधाएं बढ़ाई गईं। चूंकि नियमित सेना राष्ट्र की जनशक्ति का बहुत छोटा अंश होती है अतः प्रादेशिक सेना के गठन के द्वारा आम जनता को शामिल किया जाता है। यह सुरक्षा की दूसरी पंक्ति के रूप में कार्य करती है।

नौसेना

ब्रिटेन की प्रथा के अनुसार भारतीय थल सेना के बाद नौसेना का नंबर आता है। सितंबर 1934 में कुछ ही लोगों से इसकी शुरूआत की गई और दूसरे युद्ध के प्रारंभ में रायल भारतीय नौसेना में 1313 आदमी थे। युद्ध की समाप्ति तक इस भारतीय टुकड़ी में संख्या बढ़ कर 23,567 हो गई। युद्ध के बाद विसैन्यीकरण द्वारा और विशेष रूप से विभाजन (1947) के बाद नौसेना की शक्ति, जन और सामग्री दोनों दृष्टियों से बहुत कम हो गई। तब इसके पास एक फ्रिगेट, एक सुरंग मार्जक स्क्वाड्रन और एक सर्वेक्षण जहाज था। नौसेना अपना दायित्व प्रभावशाली ढंग से पूरा कर सके, इसके लिए जहाजी बेड़े के विकास के लिए तुरंत कदम उठाना आवश्यक था। इसके कार्य ये हैं :—(क) 5,600 किलो मीटर

लम्बे तट और बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में दूर-दूर तक फैले लगभग 300 द्वीपों की सुरक्षा करना, (ख) महत्वपूर्ण समुद्री मार्गों को अपने समुद्री व्यापार के लिए खुला रखना ताकि हमारे यंत्रीकृत जहाजों द्वारा आवश्यक चीजों की लगातार सप्लाई की जा सके। इसके साथ ही इन समुद्री मार्गों का शत्रु द्वारा उपयोग किए जाने में रुकावट डालना और (ग) तट के आसपास के संस्थानों जैसे आयलरिग्स और अपने भूभागीय समुद्रों में उपलब्ध अन्य सुविधाओं की रक्षा करना। अन्य कम जाने-माने कार्य हैं—अपने समुद्री मार्गों में सुरक्षित नौचालन के लिए मानचित्र या चार्ट बनाना, अविराम तस्कर-विरोधी कार्रवाइयां करना, आपात्-कालीन स्थिति में अथवा प्राकृतिक विपदाओं में फंसे हुए जहाजों की सहायता करना। इसका एक अन्य बढ़ती जिम्मेदारी का संबंध हमारे उन सुविधाकार्यों की रक्षा से है जो विशाल प्राकृतिक संसाधन खोजने के लिए समुद्र की सतह के नीचे 320 किलोमीटर के अनन्य आर्थिक क्षेत्र (जो समुद्र के 5 लाख किलोमीटर से भी अधिक क्षेत्र में फैला हुआ है) में किए जा रहें हैं। यह कार्य समुद्री टोह स्क्वाड्रन, जिसमें पूर्णतः नौसेना के ही कार्मिक होते हैं, द्वारा किया जा रहा है।

ये बहुत विशाल कार्य हैं और प्रायः यू० के० से जहाज लेकर छोटे पैमाने पर इनकी शुरुआत कर दी गई थी। एच० एम० एस० क्रूजर एशिलिस जिसका नाम बाद में आई० एफ० एस० दिल्ली रखा गया, भारतीय नौसेना का ध्वज पोत था। अन्य प्राप्त किए गए जहाज थे—तीन "आर" वर्ग के ध्वंसक (राजदूत, रणजीत, और राणा); एक क्रूजर (मैसूर), दो सुरंग मार्जक और चार तटीय सुरंग मार्जक। जो फ्रिगेट बाद में शामिल किए गए थे वे थे—कुकरी, कृपाण, कुठार, ब्रह्म-पुत्र, तलवार, त्रिशूल, व्यास और बेतवा। 1957 में एक विमानवाहक पोत प्राप्त किया गया जिसका नाम आइ० एन० एस० विक्रांत रखा गया। यह सीहाक (ब्रिटिश) और एलिज़ (फ्रांसीसी) हवाई जहाजों से लैस था। उनके स्थान पर अब वी० एस० टी० ओ० एल० हवाई जहाज लगाए जा रहे हैं। इस प्रकार की शक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय है अधिक मानव शक्ति और सभी प्रकार के रैंकों को उन्नत करना।

1947 में नौसेना मुख्यालय को दो विभागों में संगठित किया गया—चीफ आफ स्टाफ और प्रशासन चीफ। बम्बई में एक फ्लैग अफसर कमांडिंग (प्रभारी कमोडोर) होता था जिसके अधीन कोचीन, मद्रास, विशाखापत्तनम और कलकत्ता स्थित नौसेना कमानें थीं। उसके बाद में नौसेना मुख्यालय की कार्य कुशलता में सुधार लाने के लिए उसे समय-समय पर कई बार पुनर्गठित किया गया और अब नौसेनाध्यक्ष के अधीन सह-नौसेनाध्यक्ष, उपनौसेनाध्यक्ष, कार्मिक प्रमुख, सामग्री

प्रमुख है। सैन्यतंत्र प्रमुख का पद अभी हाल में समाप्त कर दिया गया है। सह-नौसेनाध्यक्ष के अधीन सहायक नौसेनाध्यक्ष (नीति, योजना) और समाघात नीति और सामरिकी, स्टाफ ड्यूटी के निदेशक, प्रमुख जल सर्वेक्षक, प्रबंध सेवाएं, नौसेना योजनाएं, निर्माण और प्राप्ति परियोजनाएं हैं। उपाध्यक्ष, नौसेना, वायु स्टाफ, नौसेना वायु सामग्री, पनडुब्बी आयुध, नौसेना संक्रियाओं, आसूचना और सिगनल शाखा के उत्तरदायी हैं। कार्मिक प्रमुख, चिकित्सा, नौसेना प्रशिक्षण, कार्मिक सेवाओं, नौसेना शिक्षा और मौसम विज्ञान और जन एडवोकेट जनरल निदेशालयों को देखभाल करता है। सामग्री प्रमुख के अधीन लीडर फ्रिगेट परियोजना, नौसेना डिजाइन, गोदी अनुरक्षण, समुद्री और विद्युत इंजीनियरी निदेशालय, नौसेना निर्माण, शस्त्रास्त्र और उपस्कर विभाग हैं। सैन्यतंत्र सहायता, वस्त्र और खाद्य, आयुध पूर्ति, पूर्तियां और नौसेना आयुध निरीक्षण का कार्य जो अब तक सैन्यतंत्र प्रमुख के अधीन था, कार्यकारी शाखा के साथ पूर्ति और कार्यालय शाखाओं के समेकन की नीति के अनुसार अन्य विभागों में बांट दिया गया है।

बम्बई स्थित नौसेना गोदी, जो भारतीय नौसेना का मुख्य बेस है, के कार्य को प्रभावशाली ढंग से पूरा करने के लिए उसका विस्तार कर दिया गया है। उचित समन्वय को ध्यान में रखते हुए तटीय रक्षा सैन्य बल की स्थापना के साथ तटीय सुरक्षा की जिम्मेदारी भी इसे सौंप दी गई है। राष्ट्र की, तटीय जहाजों और उपस्करों के संबंध में आत्मनिर्भर होने और विदेशी सहायता पर निर्भर न रहने की राष्ट्रीय नीति के अनुसार ब्रिटेन के विकर्स येरो के सहयोग से लेण्डर श्रेणी के फ्रिगेट के निर्माण के लिए एक बड़ी परियोजना शुरू की गई है और अब तक ऐसे चार जहाज तैयार किए जा चुके हैं। नीलगिरि, हिमगिरि, उदयगिरि, द्रोणगिरि—और दो अन्य तारागिरि और विंध्यगिरि—निर्माणाधीन हैं। अन्य प्रकार के जहाज भी निर्माणाधीन हैं। विशाखापत्तनम और पोर्टब्लेयर में उपलब्ध सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है। नौसेना की बढ़ती हुई जिम्मेदारियों को ध्यान में रखते हुए नौसेना की पश्चिम कमान और पूर्व कमान एक-एक फ्लैग अफसर कमांडिंग-इन-चीफ के अधीन स्थापित की गई है और इनके बेस बम्बई और विशाखापत्तनम में है। अक्तूबर 1977 से कोचीन में दक्षिण नौसेना कमान का एक फ्लैग अफसर कमांडिंग-इन-चीफ नियुक्त किया गया है ताकि दक्षिण में लगभग गोवा के अक्षांश से और पश्चिम से पाक जलडमरू मध्य तक फैले समुद्री क्षेत्र में कार्रवाई की जा सके। नौसेना तटीय स्थापनाएं जामनगर, ओखा, बम्बई, गोवा, कोचीन, मद्रास, विशाखापत्तनम् और कलकत्ता में स्थित हैं। देश में अपनी तरह के पहले किल कमांडर को पोर्ट-ब्लेयर, अन्डमान और निकोबार द्वीपसमूह की सम्मिलित सेना/वायु कमान के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया गया है।

वायुसेना

तीनों सेनाओं में वरीयता क्रम में वायुसेना का नंबर सबसे अंत में आता है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान मामूली शुरुआत के बाद अब वायुसेना ने देश की सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। भारतीय वायुसेना की शुरुआत अक्तूबर, 1932 में हुई थी जब इसे रायल भारतीय वायु सेना (आर० आई० ए० एफ०) कहा जाता था। 1939 से पूर्व रायल भारतीय वायुसेना की भूमिका इस प्रकार थी (क) भारत की आन्तरिक सुरक्षा बनाए रखना (ख) भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त के कबीलों को नियंत्रण में रखना, (ग) अफगानिस्तान या रूस की ओर से होने वाले खतरों का मुकाबला करना, (घ) हमलावर शत्रुओं से भारतीय पत्तनों और तट सीमा की रक्षा करना और (ङ) भारत को 'बाह्य सुरक्षा' के महत्वपूर्ण साधनों को अधिक सुदृढ़ बनाना। यह वायुसेना ब्रितानी सुरक्षा से भी सम्बद्ध थी और रायल भारतीय वायुसेना का प्रयोग अबीसीनिया, मिस्र, सिंगापुर और बर्मा जितने दूर के स्थानों पर भी किया गया। शेटफील्ड समिति की सिफारिशों के अनुसार तटीय सुरक्षा वालिंटियरों की वापिती और ओडेक्स वायुयानों की टुकड़ियां (फ्लाइट) कराची, बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में गठित की गईं। इन टुकड़ियों में सिविलियनों को शामिल करने के साथ-साथ रायल वायुसेना के विशेषज्ञों को शामिल करके उन्हें मजबूत बनाया गया। भारत स्थित रायल वायुसेना पर भी भारत की सुरक्षा की जिम्मेदारी थी। विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में केवल 144 भारतीय वायुसैनिक थे। उपस्करों में दो सैन्य सहयोगी स्क्वाड्रन (ओडेक्स) जो प्रत्येक एक फ्लाइट टुकड़ी के बराबर थी, दो बमबार स्क्वाड्रन (वापिती) और एक बमबार परिवहन स्क्वाड्रन (8 विकर्स वेलेन्टिया) शामिल थे। भारतीय वायुसेना के प्रथम स्क्वाड्रन का गठन भी इसी समय हुआ।

इस छोटी सी शुरूआत से युद्ध के अंत तक रायल भारतीय वायुसेना पर्याप्त सैन्य बल के रूप में विकसित हो गई। प्रारंभिक अवस्थाओं में लोगों में काफी जोश था और रायल भारतीय वायुसेना की सभी स्क्वाड्रनों की कमान पूर्णतः भारतीयों के हाथ में थी और भू-कर्मचारी वर्ग भी पूर्णतः भारतीय थे। जब बड़े पैमाने पर विस्तार का कार्य शुरू हुआ तब कठिनाई पैदा हुई। ऐसा लगता है कि भारतीय पायलट बनने के इच्छुक नहीं थे और प्रशिक्षण स्कूलों में भारी अपव्यय (60 प्रतिशत तक भी) होता था। इस समस्या को सुलझाने के लिए रायल भारतीय सेना के ब्रितानी अंग का विस्तार किया गया। शिक्षा और भाषा की कठिनाई के कारण हवाई सैनिकों की भर्ती की समस्या और भी बड़ी थी। अधिक

वेतन और भत्ते के द्वारा सेवा को अधिक आकर्षक बनाया गया और एक स्थानापन्न योजना भी शुरु की गई जिसके अनुसार भारतीय अधिकारी और वायु-सैनिक रायल वायुसेना में लगाए जाते थे और रायल वायु सेना के कार्मिक रायल भारतीय वायुसेना में । चूंकि मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के साथ-साथ रायल वायु सेना, अमरीकी वायुसेना और दक्षिण पूर्वी एशिया कमान के लिए भारत विशालतम बेसों में से एक था, अत: इसने देश मे वायु सेना की सुविधाओं की उपलब्धता को बहुत बढ़ावा दिया जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में बहुत काम आई । जुलाई, 1945 में देश में 1638 भारतीय वायुसेना के अधिकारी और 26,900 अन्य रैंकों के भारतीयों के अतिरिक्त 13,727 संयोधी या योद्धा (नामांकित) और 26,469 संयोधी या योद्धा (अनामांकित) थे । विसैन्यीकरण और वायु-सेना के बटवारे से सेना को काफी धक्का पहुंचा और 1947 में उसके पास नम्बर 1 संक्रिया ग्रुप और नं० 2 प्रशिक्षण ग्रुप था । भारतीय नौसेना की तरह वायुसेना मुख्यालय की भी दो शाखाएं थीं — वायुसेना और प्रशासन । उसके बाद बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ और इसका क्षेत्र तथा कार्य के आधार पर गटन किया गया । कुछ अति-उन्नत व अधुनातन हवाई जहाज प्राप्त कर लेने पर अब भारतीय वायुसेना आधुनिक वायुसेना हो गई है । उसके कार्य हैं :—(क) हमारे क्षेत्र की वायु सुरक्षा (ख) हवाई आक्रमण द्वारा विनाश, इसमें शत्रु-प्रदेश के अन्दर तक मार करना और शत्रु की युद्ध की संभाव्य शक्ति को नष्ट करना शामिल हैं और (ग) जमीनी लड़ाइयों और नौसेना कार्रवाइयों में हवाई सहायता देना, जिसे पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध के दौरान बड़े गौरव के साथ पूरा किया गया । वायुसेनाध्यक्ष के अधीन एक सहवायुसेनाध्यक्ष, उपवायुसेनाध्यक्ष, प्रभारी वायु अफसर (प्रशासन), प्रभारी वायु अफसर (अनुरक्षण) हैं । उप-वायुसेनाध्यक्ष के अधीन सहायक वायु सेना अध्यक्ष (योजना), तथा प्रशिक्षण, पद्धति मूल्यांकन, शिक्षा, योजना और कार्यक्रम परियोजना ग्रुप, वित्तीय योजना और हवाई स्टाफ आवश्यकताओं के निदेशकों के अतिरिक्त सांख्यिकी उपनिदेशक भी हैं । सह-वायुसेनाध्यक्ष आक्रामक संक्रिया, संयुक्त संक्रिया (योजना), हवाई सुरक्षा, आसूचना, उड़ान सुरक्षा, मौसम विज्ञान, सिगनल, शस्त्रास्त्र, परिवहन और समुद्री संक्रिया के वायु सेना स्टाफ निरीक्षण और वायुसेना प्रकाशनों के लिए जिम्मे-दार है । सहायक वायुसेनाध्यक्ष इन कार्यों को पूरा करने में उसकी मदद करता है ।

प्रभारी वायु सेना अफसर (प्रशासन) के अधीन सहायक वायुसेनाध्यक्ष (कार्मिक) और जज एडवोकेट जनरल के अलावा चिकित्सा सेवाओं, लेखा,

कार्मिक (हवाई सैनिक), कार्मिक सेवाओं, वायु सेना निर्माण कार्य, संगठन और वेतन, पेंशन और विनियमावली के निदेशक भी काम करते हैं। प्रभारी वायुसेना अफसर, अनुरक्षण के अधीन क्रमशः सैन्य तंत्र, प्रणाली और इंजीनियरी के लिए तीन सहायक वायुसेनाध्यक्ष होते हैं और प्रत्येक सहायक वायुसेनाध्यक्ष के अधीन विस्तृत कार्यों के लिए अनुरक्षण निदेशक के अलावा निदेशक होते हैं।

1947 में सभी वायुयान मरम्मत डिपो, पाकिस्तान में चले जाने के कारण सभी कुछ नए सिरे से शुरू करना पड़ा। कानपुर में एक वायुयान मरम्मत डिपो खोला गया जिसे एयर वाइस चीफ मार्शल हर्जिंदर सिंह के गतिशील नेतृत्व में विनिर्माण डिपो में बदल दिया गया। नए वायुयानों के प्राप्त कर लेने पर और इस क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की भारत की नीति के कारण इन वायुयानों और उनके अतिरिक्त हिस्से पुर्जों के निर्माण का काम शुरू किया गया। हेंटर, केनबरा, मिग और सुखाई वायुयान प्रहार करने के लिए है। ए० एन० 12, फेयर चाइल्ड पैकेट, कैरीबो डैकोटा और एच० एस० 748 परिवहन की जरूरतों को पूरा करते हैं। हेलीकाप्टरों का बेड़ा—एम० आई० 8 और एम० आई० 4, चेतक और चीता-हेलीकोप्टर लिफ्ट और संचार के काम आता है। 1962 में चीन द्वारा चढ़ाई के बाद विस्तार की इस प्रक्रिया को तेज किया गया। उस समय वायुसेना का लक्ष्य सभी प्रकार के 45 स्क्वाड्रन रखना निर्धारित किया गया। उस समय कई देशों ने अपने अपने वायुयान ए० एन० 12 (रूस), सी 119 (अमेरिका), कैरिबो (कनाडा) और डेकोटा देने की इच्छा व्यक्त की। अब पालम, इलाहाबाद और शिलांग में क्रमशः पश्चिमी, मध्य और पूर्व, तीन संक्रिया कमान हैं। अनुरक्षण और प्रशिक्षण कमान क्रमशः नागपुर और बंगलोर में है। थल सेनाओं में एक वर्ग के अधिकारी हैं और नौसेना में छह प्रकार के लेकिन वायुसेना में जनरल ड्यूटी (पायलट और नौसंचालक) और ग्राउंड ड्यूटी वाले केवल दो प्रकार के वर्ग होते हैं। ग्राउंड ड्यूटियों में तकनीकी, प्रशासनिक, उपस्कर, लेखा, मौसमविज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा और दंत-चिकित्सा शाखाएं शामिल हैं। वायुसेना के रैंकों और अन्य सेवाओं में उनके समान पदों के लिए देखिए परिशिष्ट-1।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सैनिक संगठन, स्वयं समाज का वास्तविक प्रतिबिंब है जो गतिशील और जीवंत है। देश की आंतरिक आवश्यकताओं और बाहरी खतरों के आधार पर बदलती संकल्पनाओं के अनुसार पिछले 2,000 वर्षों के दौरान समय-समय पर परिवर्तन किए गए। इस विकास प्रक्रिया के तीन

स्पष्ट भाग हैं। पहले युग में मनुष्य और घोड़ों के साधारण हथियार थे जिसके बाद में गन-पाउडर के आगमन के परिणामस्वरूप और अंत में विज्ञान और औद्योगीकरण के कारण इनमें नवीन परिवर्तन करने पड़े। इस अंतिम घटक ने पिछले 200 या लगभग इतने ही वर्षों के दौरान सैनिक संगठन के प्रत्येक पहलू को अधिक वैज्ञानिक आधार पर गठित करने में सहायता दी। जंगलों, दलदल प्रदेशों, पहाड़ों, नदियों और समुद्रों के कारण आने वाली किसी भी बाधा को अजेय नहीं समझा गया। हवाई शक्ति ने युद्धकला को एक और आयाम प्रदान किया जबकि पनडुब्बी ने तीसरा। इन शस्त्रों के साथ ऐसा प्रतीत होता है कि हम पुनः वीर-गाथा युग में पहुंच गए है। रासायनिक और गैसीय युद्ध-पद्धति इनका ही विस्तार है।

इनके लिए उच्चतम स्तर की जागरूकता और लचीलेपन की आवश्यकता है जिसमें मनुष्य की पटुता हमेशा ही परिस्थिति का सामना करने की क्षमता रखती है। लेकिन फिर भी संकल्पनाएं और रूढ़ियां राष्ट्र के स्वरूप के समान, बड़ी मुश्किल से समाप्त होती हैं। जांच-पड़ताल और साहस की भावना प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न होती है और इसलिए हार और जीत के जिन वर्णनों से इतिहास भरा पड़ा है वे खून पसीने से रंगे हुए हैं। यदि जीवित रहने की इच्छा भी समाप्त हो जाए तो दक्षता और सुस्पष्ट संगठन भी टूट जाता है। यह एक मूलभूत घटक है जिस पर अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। सरल शब्दों में इसका अभिप्राय है—बन्दूक चलाने वाला आदमी, उसका मनोबल, मूल्य, भावना और निष्ठा।

अंतिम विश्लेषण के रूप में यह कहा जा सकता है कि सशस्त्र सेनाएं मूलतः आपात्कालीन सेवाओं के समान हैं और जंगल स्थित जानवरों के समान कभी भी पूर्णतः विश्राम की स्थिति में नहीं होतीं। सेना ऐसी संगठित होती हैं कि उसके सभी भाग इस प्रकार डिजाइन, विकसित, तैनात, प्रशिक्षित, संभरित, सूचित और निर्देशित किए जाते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर तुरंत और सम्मिलित कार्रवाई करने के लिए उन पर निर्भर किया जा सके। अच्छे संगठन पर भी महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं निर्भर करती हैं जिनके द्वारा भावी कार्रवाई के स्वरूप पर मूलतः विचार किया जाता है और अविरल संशोधन किए जाते हैं।

सामरिकी और स्त्रातेजी

मेजर जनरल डी. के. पालित

युद्ध पद्धति का विश्लेषण

युद्ध-पद्धति का अध्ययन हमेशा से ही काफी जटिल विषय रहा है यद्यपि आम धारणा इसके बिल्कुल विपरीत है। वास्तविक लड़ाई, यानी जब सेनाओं की आपसी मुठभेड़ हो रही हो, अपेक्षाकृत सरल कार्य हो सकता है, परन्तु इससे पहले और बाद की प्रक्रियाओं के दौरान जटिल और अक्सर परस्पर विरोधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो दिनोंदिन जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं।

परमाणु युद्ध के प्रारम्भ से पहले युद्ध-संचालन की जिम्मेदारियां सरकार के विभिन्न विभागों में स्पष्टतः बांटी जा सकती थीं। राज्य की नीति बनाना, युद्ध के लिए राज्य के साधनों को संगठित करना और फिर युद्ध के परिणामों का राज्य के हित साधन में उपयोग करना राजमर्मज्ञों तथा राजनीतिज्ञों का काम था। लेकिन जहां तक वास्तविक विधियों व प्रक्रियाओं का संबंध है, जिनसे युद्ध का संचालन किया जाता है यानी सेनाओं का नियोजन और संचालन या लड़ाइयों का सक्रिय नियंत्रण, यह एडमिरलों, जनरलों और एयरमार्शलों जैसे व्यावसायिक सैनिकों का क्षेत्र था। इस प्रक्रिया में आम आदमी या साधारण नागरिक तो मुख्यतः दृष्टा ही रहता था, यद्यपि वास्तविक युद्ध के समय कभी-कभी वह भी अपनी किसी विशेष रुचि या विशेषज्ञता के कारण राजनीतिक और सैनिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता था।

आज यह सब बदल गया है, क्योंकि जिन परिस्थितियों के आधार पर युद्ध की योजना बना कर उसका संचालन किया जाता था उनके बदल जाने से पूरा परिप्रेक्ष्य ही बदल गया है। पहली बात तो यह है कि विश्व के अधिकांश प्रमुख राष्ट्रों के लिए युद्ध लगभग एक सतत प्रक्रिया बन गया है क्योंकि तथाकथित शांति की अवधि में भी सेनाएं आमने-सामने डटी रहती हैं, अथवा 'शीतयुद्ध' या तनातनी का वातावरण बना रहता है। दूसरे, अब जिम्मेदारियों का स्पष्ट बंटवारा नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, युद्ध संचालन की विधियां तथा प्रक्रियाएं भी अब राजमर्मज्ञों तथा राजनीतिज्ञों का कार्य हो गई हैं, क्योंकि आजकल युद्ध के बड़े-बड़े हथियारों, जैसे अणुबम आदि के प्रयोग का अधिकार व्यावसायिक

सैनिकों/विशेषज्ञों के बजाय इन्हीं लोगों के पास है। फिर भी 'संकट संभाल' और 'टक्कर नियंत्रण' जैसी धारणाएं युद्ध पद्धति पर छा जाती हैं। इस प्रकार सैनिक स्त्रातेजी, जो परंपरा से व्यावसायिक सैनिकों/विशेषज्ञों का कार्य था, राजनीतिज्ञों की नीति संबंधी फाइलों में भी पहुंच गई। इसके साथ ही सरकारी स्तर पर नीति-निर्धारण, सैनिक मूल्यांकन और सलाह पर इतना निर्भर हो गया है कि आज व्यावसायिक सैनिक विशेषज्ञों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने विशेषज्ञतापूर्ण सहयोग को केवल स्त्रातेजिक प्रश्नों और समस्याओं तक सीमित न रख कर अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग दें। पहले उनसे कभी ऐसी अपेक्षा नहीं की जाती थी।

विशेषज्ञ तथा युद्ध

जहां तक साधारण लोगों का प्रश्न है, अब विचार-विमर्श में उन्हें भी निश्चित स्थान प्राप्त हो गया है। इनमें वे वैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं जिनके विशेषज्ञ ज्ञान के बिना परंपरागत युद्ध-नेता आज के शस्त्रास्त्रों की पूरी क्षमता का न तो अंदाज लगा सकते हैं और न उनका पूरा उपयोग ही कर सकते हैं। साथ ही इनमें बुद्धिजीवी भी शामिल हैं जिनसे आण्विक प्रयोगों तथा आर्थिक और मनोवैज्ञानिक युद्ध-संबंधी वादविवादों में और युद्ध के अन्य जटिल पहलुओं पर अपने परिष्कृत तर्क-वितर्क प्रस्तुत करने की अधिकाधिक अपेक्षा की जाती है।

अतः यह अनिवार्य हो गया है कि अब पहले की अपेक्षा समाज का व्यापक वर्ग युद्ध विषयक अध्ययन की अपनी जिम्मेदारी को पहचाने। भावी संघर्ष में युद्ध के बेहतर निर्देशन तथा राष्ट्रीय नीति-निर्धारण में अधिक सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि उसमें कितने व्यापक समुदाय-वर्ग का संयुक्त योगदान रहा है। यदि इस योगदान को महत्वपूर्ण बनाना है तो यह जरूरी है कि एक सीमा तक युद्ध क्रियाविधि और प्रक्रियाओं की बुनियादी जानकारी को शिक्षा-पद्धति का एक अंग बना दिया जाए।

अब हम युद्ध-अध्ययन में शामिल आधुनिक युद्ध-पद्धति की तैयारी और संचालन की प्रक्रियाओं के कार्यमूलक, संक्रियात्मक और चक्रीय विश्लेषण को लेंगे। साथ ही, सामरिकी और स्त्रातेजी के इतिहास का संक्षिप्त सर्वेक्षण भी करेंगे ताकि पिछली शताब्दियों के दौरान युद्ध-पद्धति की जो आधुनिक विधियां विकसित हुई हैं उनका विश्लेषण हो सके।

कार्यमूलक पहलू

युद्ध का विश्लेषण और अध्ययन कई परिप्रेक्ष्यों में किया जा सकता है। कार्यमूलक दृष्टिकोण से इसके तीन मुख्य पहलू हैं—योजना, कार्यान्वयन और सैन्य-तंत्र।

मोटे तौर पर युद्ध योजना का उद्देश्य होता है युद्ध शुरू होने से पूर्व तथा उसके बाद की प्रत्येक अगली कार्यवाही के लिए अपने देश की सशस्त्र सेनाओं को ऐसे स्थानों पर तैनात करना कि वे शत्रु-सेना की तुलना में अधिक लाभदायक स्थिति में हों। यह सभी स्तरों पर नियुक्त जनरल स्टाफ की जिम्मेदारी होती है चाहे वह मंत्रिमंडल में हो या किसी सेना में या फिर फील्ड में नियुक्त की संरचनाओं में हो।

इस विस्तृत संदर्भ में योजना में, युद्ध के वस्तुतः शुरू होने से पहले, ये पहलू शामिल हैं जैसे रक्षा-तंत्र का संगठन, युद्ध नीति का निर्माण, औद्योगिक और आर्थिक साधनों का सदुपयोग करना, जनबल जुटाना तथा अन्य कई ऐसे आवश्यक तत्वों का समन्वय करना जो किसी देश की युद्ध क्षमता के अनिवार्य अंग हों। आजकल इस स्तर पर योजना लगभग पूर्णतः विभिन्न मंत्रालयों के विभागों और सलाहकारों द्वारा बनाई जाती है। उसका समन्वय युद्ध मंत्रिमंडल (जैसा कि अमेरिका में है) या राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् जैसे उच्चस्तरीय संगठन द्वारा किया जाता है। इस प्रकार उच्चतम स्तर पर योजना का उत्तरदायित्व सैनिक नेताओं का नहीं बल्कि सिविल सरकार का हो गया है। यह वर्तमान शताब्दी की अपनी विशिष्टता है।

एक बार जब सरकारी नीति बना ली जाती है तब सैनिक योजना के रूप में उसका कार्यान्वयन सेना के स्टाफों द्वारा किया जाता है जिन पर युद्ध के लिए सेनाओं को संगठित करने और संक्रियात्मक और प्रशासनिक योजनाएं तैयार करने की जिम्मेदारी है। संपूर्ण स्त्रातेजिक योजना के अनुमोदित हो जाने पर संक्रियाओं के विभिन्न क्षेत्रों के सेनापतियों को अलग-अलग कार्य सौंप दिए जाते हैं। इस प्रकार निचले मुख्यालयों में योजना चक्र चालू हो जाता है।

सेना के कमान के प्रत्येक सोपानक पर जनरल स्टाफ स्त्रातेजिक और संक्रियात्मक योजना के सभी पहलुओं के लिए जिम्मेदार होता है। इनके ही मूल्यांकन के आधार पर सेनाओं के अपेक्षित आकार, उनके प्रबंध और आवाजाही की योजना, प्रशिक्षण नीति, हथियार और उपस्कर प्रणालियां, सैन्य तंत्र-सहायता और युद्ध की तैयारी से संबंधित अन्य असंख्य निर्णय लिए जाते हैं।

1945 से जब परमाणु युद्ध संबंधी समस्याओं को राजनीतिक और स्त्रातेजिक नीति-निर्धारण के समय ध्यान में रखा जाने लगा तब विश्व की प्रमुख शक्तियों ने अपनी-अपनी उच्च स्तरीय और स्थायी रक्षा परिषदें स्थापित कर लीं जो शांति काल में भी समय-समय पर स्त्रातेजिक नीति की समीक्षा करने और उसके पुन: निर्धारण के लिए अपनी बैठकें आयोजित करती हैं। इन सलाहकार संस्थाओं में सरकारी क्षेत्र के अतिरिक्त समाज के अन्य वर्गों में से भी विशेषज्ञ शामिल करने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। भविष्य में भी यही पैटर्न रहेगा और व्यावसायिक विशेषज्ञों के अलावा बाहर के विशेषज्ञों को भी अपनी भूमिका निभाने के लिए तैयार किया जाना चाहिए।

कार्यान्वयन

यद्यपि योजना युद्ध के अन्य कार्यों से पहले एक तार्किक क्रम से तैयार कर ली जाती है लेकिन युद्ध का निर्णायक कार्य योजना को कार्यान्वित करना ही होता है और यह युद्ध वास्तव में युद्ध-क्षेत्र में कमाण्डर का कौशल होता है।

सैनिक इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहां एक योग्य कमाण्डर ने किसी कमजोर योजना का चतुराई से अनुपालन करके अर्थात् युद्ध क्षेत्र में सेनाओं के अच्छे संचालन द्वारा उसे सफल बना दिया। ब्रिटिश सैनिक इतिहास ऐसे कई उदाहरणों से भरा पड़ा है। सच तो यह है कि ब्रिटेन ने अपने योजनाकारों की कार्यकुशलता पर निर्भर रह कर युद्ध लड़े होते तो बहुत कम युद्धों में विजय मिल पाती।

इससे उल्टा कभी-कभी ही होता है। यदि कार्यान्वयन कमजोर या साधारण दर्जे का हो तो अत्यधिक सावधानीपूर्वक तैयार की गई योजना के भी सफल होने की संभावना नहीं रहती। यदि सामरिक दृष्टि से संचालन कमजोर है तो स्त्रातेजिक तैयारी, चाहे वह कितनी भी अच्छी क्यों न हो, योजना की सफलता को सुनिश्चित नहीं कर सकती।

सैन्य-तंत्र

सबसे अन्त में आता है सैन्य-तंत्र का संचालन। यहां सैन्य-तंत्र से हमारा 'अभिप्राय' प्रशासन के उस सीमित अर्थ में नहीं है जिसमें इसे अंग्रेज लोगों ने माना है बल्कि सैन्य-तंत्र को ऐसे व्यापक अर्थ में लेना है जिसमें इसका उपयोग दूसरे महायुद्ध में अमरीकी लोगों ने किया।

'प्रशासन' कहां से आरंभ होता है, कहां खत्म होता है और कहां से संभारिकी शुरू होती है, इसमें सीमा रेखा खींचने का प्रयत्न न करते हुए 'संभारिकी' में संक्रियात्मक योजना को पूरा करने तथा फील्ड में 'प्रशासन' के वास्तविक अनुपालन के लिए सभी स्तरों पर परिवहन और अनुरक्षण की योजना बनाना भी शामिल है। वास्तव में परिवहन और फील्ड में अनुरक्षण केवल इसके दो पहलू हैं यद्यपि ये दोनों ही प्रमुख पहलू हैं। नई 'संभारिकी' में सैनिक तत्व और क्षमता ही शामिल नहीं है बल्कि यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, जिसमें पूरे साधनों को जुटाना, उद्योग, शक्ति, चिकित्सा सेवाएं, वैज्ञानिक अनुसंधान, कृषि, प्रचार और लड़ने के लिए राष्ट्रीय निश्चय के साथ भी सूक्ष्म रूप से जुड़ी हुई है। युद्ध के लिए साधनों की व्यवस्था करने के संबंध में सैनिक और सिविलियन क्षेत्रों के बीच कार्यकलाप और उत्तरदायित्वों का पारंपरिक अंतर एकदम समाप्त हो गया है। आजकल संभारिकी से अभिप्राय है—संपूर्ण राष्ट्रीय साधनों को युद्ध भूमि में जुटा देना

संक्रियात्मक पक्ष

नए ढंग से विचार करने पर युद्ध की प्रक्रियाओं का विश्लेषण संक्रियात्मक दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पहले उल्लिखित तीनों कार्य इसमें आ जाते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण में युद्ध-पद्धति पर स्त्रातेजिक और सामरिक दो दृष्टियों से विचार किया जाता है।

स्त्रातेजी और सामरिकी

ऐसा करने से पूर्व यह जरूरी है कि युद्ध कार्यों के प्रसंग में 'स्त्रातेजी' और 'सामरिकी' शब्दों की व्याख्या की जाए जैसा कि पहले कहा गया है।

क्लाज़विट्ज ने इनकी व्याख्या राजनीतिक सैनिक स्तर पर की है। 'सामरिकी' का अर्थ है समाधान में सशस्त्र सेनाओं का उपयोग और 'स्त्रातेजी' का अर्थ है युद्ध जीतने के उद्देश्य से इन समाधानों के प्रयोग का सिद्धांत। उच्च स्तर अर्थात् राज्य स्तर पर यही संकल्पना है और इसमें युद्ध के चरम उद्देश्य पर विचार भी शामिल हैं। अपने पूर्ण अर्थ में स्त्रातेजी का प्रारंभ राजनीतिक क्षेत्र से ही होना चाहिए क्योंकि युद्ध लड़ना अपने आप में साध्य नहीं है—इस मूलभूत स्वयंसिद्ध तथ्य को सदा स्वीकार नहीं किया जाता है।

यद्यपि राजनीतिक और सैनिक स्त्रातेजी में कोई मूलभूत अंतर नहीं है, दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। यहां हम सैनिक स्त्रातेजी की व्याख्या करते

का प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि संक्रियात्मक संदर्भ में केवल सैनिक स्त्रातेजी पर ही विचार किया जा सकता है। नीचे स्त्रातेजी को परिभाषित करने के जो प्रयास हुए हैं उनमें सैनिक स्त्रातेजी और सामरिकी आपस में संबद्ध मानी गई हैं।

'अभियान संचालन और निर्देशन की कला स्त्रातेजी है जबकि लड़ाई में सेनाओं के कुशल संचालन की कला को सामरिकी कहते हैं।'

'वह तरीका जिसके द्वारा एक कमाण्डर अपने शत्रु को युद्ध के लिए मजबूर कर देता है, स्त्रातेजी है जबकि सामरिकी वे साधन हैं जिनके द्वारा वह लड़ाई में अपने शत्रुओं को हराने का प्रयत्न करता है।'

'संपूर्ण युद्ध क्षेत्र स्त्रातेजी का क्षेत्र है जबकि सामरिकी का कार्यक्षेत्र रणभूमि है।'

"सिद्धांततः स्त्रातेजी का संबंध उन बड़े पैमाने के उपायों से है जिनके द्वारा सशस्त्र सेनाएं यथासंभव अनुकूल परिस्थितियों में निर्णायक मोर्चे पर लड़ती हैं और सामरिकी का संबंध लड़ाई में जो कुछ होता है उससे है। इस प्रकार स्त्रातेजी को रणकौशल का विज्ञान कहा जा सकता है जबकि सामरिकी सेनाओं के संचालन का विज्ञान है।"

ऊपर की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि विभिन्न लोगों द्वारा स्त्रातेजी और सामरिकी की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ लोग भौगोलिक आधार पर इनमें भेद करते हैं अर्थात् वह पूरे युद्ध क्षेत्र से संबंधित है अथवा उसके बहुत सीमित भाग से जिसे रणभूमि कहते हैं। दूसरे लोग स्त्रातेजी और सामरिकी का वर्गीकरण संक्रिया के प्रकार या कमान के स्तर के आधार पर करते हैं।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रातेजी का प्रयोग मुख्यतः योजना संबंधी कार्यों में होता है और कार्यान्वयन में उसका बहुत थोड़ा ही दखल होता है जबकि सामरिकी योजना के छोर से प्रारंभ होती है और उसका प्रयोग मुख्यतः लड़ाई के निष्पादन में होता है।

एक बार सम्पर्क हो जाने पर कार्यान्वयन का निर्णायक चरण अर्थात् विध्वंस शुरू हो जाता है।

33

सामरिकी का विकास

सबसे पहले हम युद्धकला के उन सभी पक्षों पर विचार करेंगे जिनके द्वारा किसी कमांडर की प्रतिभा वास्तविक युद्ध क्षेत्र में अभिव्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त उन सभी विभिन्न तरीकों पर भी विचार किया जाएगा जिनके द्वारा युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए वह अपनी सेनाओं को युद्ध में लगाता है। शत्रु से जूझने की इस प्रक्रिया को सामान्यतः सामरिकी कहा जाता है।

ऐतिहासिक

इतिहास के आदि काल से युद्ध के शस्त्रास्त्रों को दो मुख्य वर्गों में बांटा गया है। प्रधान शस्त्र जैसे तलवार, बल्लम और संगीन। इनका उपयोग मुठभेड़ों में किया जाता है। दूसरे प्रक्षेपास्त्र जैसे कि तीर, गोलो और अति-विस्फोटक गोले जिनका उपयोग दूर से शत्रु को नष्ट करने के लिए किया जाता है। सामान्य शब्दों में प्रधान शस्त्र अधिक निर्णायक साधन होते हैं क्योंकि इनका उपयोग अपने हाथ से समीप से किया जाता है। इसमें जूझने से बचने को संभावना नहीं रहती या यों कहिए कि मरने या मारने को स्थिति होती है और इसका उपयोग विजय या पराजय में ही होगा।

इसके विपरीत प्रक्षेपणास्त्रों का उपयोग कमांडर को अधिक अवसर प्रदान करता है। ये अस्त्र दूसरे स्थान से छोड़े जाते हैं और इसलिए मुख्य सेना हटाई जा सकती है और उसे प्रक्षेपणास्त्रों के प्रभाव की परवाह किए बिना पुनर्गठन करके पुनः युद्ध में लगाया जा सकता है।

युद्ध-पद्धति की क्लास्कीय अवधि में अधिकांश सामरिकीय विकास इस बात पर निर्भर था कि ऊपर वर्णित दोनों वर्गों के शस्त्रास्त्रों में से किसका प्रभुत्व रहा और लड़ाई में उनका उपयोग किस क्रम में किया गया है। युद्ध-पद्धति के प्रारंभिक रूपों में लड़ाई के तरीकों में मुख्यतः प्रधान सामरिकी ही शामिल थी। उसके बाद प्रक्षेपण-अस्त्रों का विकास शुरु हुआ। हालांकि शुरू में स्वतंत्र शस्त्रों की अपेक्षा इनका उपयोग प्रधान शस्त्रों के सहायक के रूप में ही होता था। जैसा कि हम देखेंगे इन दोनों प्रकार के वर्गों के शस्त्रास्त्रों में संतुलन को स्थापना युद्ध-पद्धति के इतिहास के अपेक्षाकृत बाद की अवस्था में हुई।

फायर और संचलन

यह शुरू से ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किसी भी कमांडर का बुद्धि कौशल अर्थात् सामरिकी दो समान रूप से महत्वपूर्ण मूल तत्वों पर निर्भर

है। एक शस्त्रास्त्र शक्ति तथा दूसरा युद्ध में इनके सतत प्रयोग की कुशलता। शस्त्रों का सतत प्रयोग फील्ड में गतिशीलता या तीव्रता लाता है। इसी कारण हम सामरिकी को 'फायर और संचलन' की विद्या कहते हैं (लेकिन अपनी असावधानी के कारण हम प्रायः इस पद-बंध में और के बजाय फायर पर बल देते हैं)। यह संकल्पना कई कमांडरों की समझ से परे रहती है और अधिकांश लड़ाइयां पंगुता आधार पर अर्थात् अकेले शस्त्र शक्ति को सामरिकी का एकमात्र आधार मान कर लड़ी जाती हैं। सामरिकी के संचालन में शस्त्र शक्ति के साथ बराबर की मान्यता देनी चाहिए।

विरचनाएं

सामरिकी का अगला महत्वपूर्ण घटक है, फील्ड में सेनाओं की उपयुक्त विरचनाएं बनाना ताकि उनके शस्त्रों और उपस्करों का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके। मोटे तौर पर तीन मूल विरचनाएं हैं—चाहे तैनात की जाने वाली सशस्त्र सेना में दस आदमी हों या दस हजार, चाहे वे बंदूक से लैस हो या टैंकरोधी प्रक्षेपास्त्रों से। तीन मूलभूत विरचनाएं हैं लाइन, कालम और वर्ग व्यूह। इन्हीं से भिन्न-भिन्न रूप बनते हैं। लाइन में लड़ाई के साथ शस्त्र शक्ति अधिक केंद्रित होती है लेकिन उसमें गहनता और लचीलेपन का अभाव होता है। कालम में जंगी चाल और गहनता की संभावना होती है लेकिन उसमें सेनामुख, पुरोभाग और पार्श्व-सुरक्षा की कमी रहती है। वर्ग विरचना में गहनता और पार्श्व-सुरक्षा दोनों होती हैं और पर्याप्त संकेन्द्रण की सुविधा भी होती है। इसमें जंगी चालों की सुविधा कम होती है और इसका उपयोग मुख्यतः प्रतिरक्षा को सामरिकी में किया जाता है चाहे वह नेपोलियन की डिवीजन वर्ग व्यूह रचना हो या चौमुखी प्रतिरक्षा विरचना की आधुनिक संकल्पना हो।

अंत में रणभूमि में भूमि का उपयोग सामरिक कार्यान्वयन की चौथी मूलभूत आवश्यकता है। आज चाहे यह स्वतः स्पष्ट बात मानी जाए लेकिन हम आगे देखेंगे कि इतिहास में एक बहुत लंबे अर्से तक सामरिकी की दृष्टि से भूमि के उपयोग को वास्तव में ध्यान में नहीं रखा गया।

कादेश की लड़ाई

1288 ई० पूर्व लड़ी गई कादेश की लड़ाई से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन मिस्री लोग युद्ध कला में पारंगत थे। उनकी सेनाओं के सभी सेनांगों (पैदल, रथ, धनुर्धारी) के स्वतःपूर्ण डिवीजनों के रूप में संगठन, उनकी कुशल प्रशासन

व्यवस्था, पार्श्व आक्रमण का कौशल, दल और संकेन्द्रण का उपयोग—वास्तव में उनके सैन्य विज्ञान की प्रत्येक शाखा उन्हें अपने से हजार वर्षों या उससे भी अधिक बाद आने वाले यूनानी और फारसी लोगों से सैनिक शक्ति की दृष्टि से कहीं अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करती है ।

फ्लेंक्स

यूनानी लोगों द्वारा रिकार्ड की गई सबसे प्राचीन संगठित सामरिक विरचना थी । विरोधी सेनाओं के व्यवस्थित सैनिकों की इकहरी पंक्तियां जो समानांतर स्थिति में एक दूसरे के आमने-सामने खड़ी रहती हैं उनकी गहराई भिन्न-भिन्न हो सकती है । लड़ाई की इस विरचना को मैकडूनियन फ्लेंक्स के अध्ययन से सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है । फ्लेंक्स में 16,384 सैनिक होते है जो कि लाइन की एक भारी पैदल सेना का प्रतिनिधित्व करते थे । इसमें 1024 फाइल (पंक्ति) होती हैं और प्रत्येक फाइल (पंक्ति) में 16 व्यक्ति एक दूसरे के पीछे होते हैं । फाइल सबसे छोटी यूनिट होती थी और दो-दो के योग से बड़ी यूनिट बनाई जाती थी । फ्लेंक्स के सैनिक के पास एक 21 फुट का भाला, एक तलवार और एक गोल ढाल होती थी । बख्तरबंद दस्ते कवच के रूप में लोहे के हेलमेट और उरस्त्राण पहनते थे ।

फ्लेंक्स व्यूहरचना से, जैसा हम समझते हैं, मुख्य शिक्षा यह मिलती है कि उसमें किसी भी प्रकार की रिजर्व सेना का अभाव था तथा परिचालनीयता की कमी थी । पिछली लाइनों के रिजर्व सैनिकों को कहीं और नहीं लगाया जा सकता था क्योंकि वास्तव में वे अगली लाइनों के हताहतों का स्थान लेने के लिए होते हैं । एक बार जब फ्लेंक्स की रचना हो जाती थी तब सेना का कोई भी अंग युद्ध-स्थल पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं भेजा जा सकता था ।

331 वर्ष ईसा पूर्व आरबेला की लड़ाई में सिकन्दर ने फाइलों की गहराई को कम कर दिया था और अपनी फ्लेंक्स को भी आठ दलों में बांट दिया था और उनके बीच अपेक्षाकृत अधिक दूरी थी । इस कारण उसे अधिक परिचालनीयता मिल गई और वह फारसी नेता की अपेक्षाकृत अनम्य विरचना के बाएं बाजू की ओर से आक्रमण करके और अपनी विशिष्ट तिरछी चाल से उस पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त कर सका । उसकी विजय ने सर्वप्रथम बगली आक्रमण के सिद्धांत को स्थापित किया

रोमन लीजन

समतल भूमि पर फ्लेंक्स विरचना अभेद्य हो सकती है लेकिन कोई भी सामरिक विरचना जो स्थलाकृतिक विभिन्नताओं के अनुरूप न ढल सके, चल नहीं सकती। यह 168 वर्ष ईसा पूर्व की पाइडना की लड़ाई में स्पष्ट हो गया था जबकि रोमनों की अधिक लचीली लीजन (अक्षोहिणी) विरचना के सम्मुख फ्लेंक्स अन्ततः असफल हो गई। इस अवसर पर रोमनों ने फ्लेंक्स की कमजोरी को पकड़ लिया और ऐसे स्थान पर लडने के लिए मजबूर किया जो फ्लेंक्स विरचना के लिए हरेक दृष्टि से प्रतिकूल था। फ्लेंक्स के विभिन्न स्कंध बीच-बीच की ऊबड-खाबड़ जमीन के कारण अलग-अलग हो गए और रोमनों ने मौके का फायदा उठाते हुए बीच में घुस कर आक्रमण करके यूनानियों को हरा दिया।

रोमनों के पास ऐसे कोई हथियार नहीं थे जो यूनानियों के प्रधान कौशल से अधिक प्रभावी हों। फ्लेंक्स की सेना ने अपनी दक्षता, अनुशासन, और प्रशिक्षण का उच्च स्तर अंतिम समय तक बनाए रखा। इसलिए प्रथम दृष्टि में यूनानी पद्धति की असफलता के कारण का पता लगाना कठिन है। वास्तव में लीजन विरचना की श्रेष्ठता का असली कारण यह था कि रोमनों ने परिचालनीयता और रिजर्व तैनात करने के महत्व को जल्दी ही समझ लिया था।

48 ईसा पूर्व फारसलस की लड़ाई में जूलियस सीज़र ने सर्वप्रथम रिजर्व सैनिकों को संकेंद्रित रखने की आवश्यकता को सिद्ध किया और उसके बाद चल-सेना को। पोम्पे के विरुद्ध अपनी व्यूह रचना में सीज़र ने, जिसका दायां बाजू असुरक्षित था, दसवीं लीजन को बाएं बाजू के पीछे रखा था। जैसा कि उसका पूर्वानुमान था पोम्पे ने अपनी श्रेष्ठ घुड़सवार सेना के साथ सीज़र के दाहिने बाजू पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया। तब सीज़र ने अपनी रिजर्व दसवीं लीजन को पोम्पे की घुड़सवार सेना पर भालों (पीलम) से जवाबी हमला करने के लिए इशारा किया। पैदल सेना और घुड़सवारों की मुठभेड़ में भीषण लड़ाई के बाद असंगठित घुड़सवार सेना उखड़ गई। सीज़र ने दसवीं लीजन के साथ अपना जवाबी हमला जारी रखा और अंततः पोम्पे को हरा दिया।

घुड़सवार सेना का अभ्युदय

अंततः रोमन लीजन घुड़सवार सामरिकी के समक्ष धराशायी हो गई। 378 ई० में हाड्रिया नोपल की लड़ाई में घुड़सवार सेना को आक्रमण में मुख्य प्रधान तत्व के रूप में इस्तेमाल किया गया। मध्य यूरोप के गोथिक घुड़सवारों

के हमले ने बादशाह वेलन के लीजनों के अव्यवस्थित सैनिकों को छिन्न-भिन्न कर दिया और रोमन बुरी तरह हार गए। उनका सेनापति और 40,000 से भी अधिक सैनिक मारे गए। इस आकस्मिक विजय से केवल रोमन लीजन ही समाप्त नहीं हुआ बल्कि इससे पैदल सेना की सामरिक सर्वोच्चता का भी अंत हो गया। उस दिन से लगभग हजार वर्षों तक युद्ध स्थल पर घुड़सवार सैनिकों का साम्राज्य रहा। एशिया से एटलांटिक तक राज्यों तथा साम्राज्यों का भाग्य-निर्णय घुड़सवार छापामार दलों द्वारा होता था। इनमें साइथियन, ईसाई, तातार या सारासम शामिल थे।

यह अचम्भे की बात है कि इस अवधि में जबकि ईसाई जगत् में लगातार लड़ाईयां होती रहीं, सामरिकी के विकास के बहुत ही कम साक्ष्य उपलब्ध हैं। युद्धपद्धति घुड़सवारों की भिडंत तक सीमित हो गई थी और इसमें एक दूसरे के विरुद्ध असीमित संख्या में घुड़सवार झोंक दिए जाते थे। कभी-कभी नई तकनीक का उपयोग भी किया जाता था जैसे कि हूण लोगों ने किया। उन्होंने समीपी लडाई से बचने के लिए अपने घुड़सवार तीरंदाजों का बड़ी संख्या में उपयोग किया। दसवीं शताब्दी के बाइजेन्टाइन सम्राट लियो ने दांव पेंच पर आधारित नए प्रकार की युद्ध पद्धति को शुरू करने का और पश्च गमन का प्रपंच रचने का प्रयत्न किया। लेकिन हल्की घुड़सवार सेना की सामरिकी में कोई स्थायी परंपरा या अन्य सैद्धांतिक विकास उभर कर स्थापित नहीं हो पाया। मध्य युग के बाद के वर्षों में—जो वास्तव में सामरिकी का अंधा युग था—जब कवचधारी शूरवीर शौर्यतापूर्ण विजयों के लिए कृतसंकल्प होकर यूरोप में घूमते थे तब भी चूक के कारण कमान की कला में भी कमी थी क्योंकि जब एक बार लड़ाई शुरू हो जाती थी तो जनरल ही नहीं बल्कि राजा भी आम सिपाही की तरह लड़ना चाहते थे। कवचधारी शूरवीरों की लड़ाइयों के परिणामों का निर्णय या तो उनकी संख्या पर निर्भर करता था या व्यक्तिगत शूरवीरों की आपसी लड़ाई पर। कला के रूप में युद्ध की पहचान एकदम समाप्त हो गई थी।

बारूद

यूरोप में बारूद के प्रयोग की खोज तेरहवीं शताब्दी में हो गई थी लेकिन मस्केटों (छोटी बंदूकों) का आविर्भाव पंद्रहवीं शताब्दी में ही हो पाया। एक बार फिर बंदूकों और बारूदघरों के प्रति 'शासक वर्ग' के विद्वेष ने विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप में उचित सामरिक सिद्धांत के विकास में बाधा डाली। इसलिए 'फायर और संचलन' सामरिकी के विकास में और घुड़सवार सेना को उसके परंपरागत सहायक सेना के रूप में विकसित करने में दो सौ वर्ष और लग गए।

इस युग में सशस्त्र सेनाओं का उचित विकास उन सभी सेवाओं की शोचनीय कमी के कारण नहीं हो पाया जो किसी भी सेना के बेरोक-टोक और शीघ्र आने-जाने में सहायक होती हैं। सड़कें बहुत खराब थीं और काफी बड़े क्षेत्र में थीं ही नहीं। परिवहन सेवा के रूप में भी कोई सेवा उपलब्ध नहीं थी। सेनाओं के साथ हमेशा ही बड़ी संख्या में शिविर जन हुआ करते थे जो मुख्य भाग की गति को सीमित करते थे। सैन्य दल से अपेक्षा की जाती थी कि लूट मार करके अपना निर्वाह करें और स्वातेजी भी बहुधा किसी उजड़े हुए क्षेत्र से किसी ऐसे क्षेत्र में, जहां भोजन और अन्य सामग्री उपलब्ध हो सके, जाने की प्रशासनिक आवश्यकता से नियंत्रित की जाती थी।

ऐसी परिस्थितियों में घुड़सदार सेना—जिसे उतनी मात्रा में सहायता की आवश्यकता नहीं होती और जो किसी भी स्थिति में छोटी चल यूनिटों में प्रयोग में लाई जाती थी—ही मुख्य लड़ाकू सेना समझी जाती रही। दुर्वह्य तोपखाने और अपरिचालनीय पैदल सेना के अनेक सैनिकों का युद्ध में निर्णायक घटक के रूप में पूरा उपयोग नहीं किया गया।

पुनर्जागरण

सामरिकी के प्रयोग में पुनर्जागरण का श्रेय स्वीडन के सम्राट गुस्तावस एडोल्फस को है जो इतिहास में 'उत्तर का शेर' के रूप में प्रसिद्ध है। उसका पहला कदम था अपनी सेना का गठन, प्रत्येक अंग को पूर्ण रूप से पुनर्गठित करना और फिर सभी अंगों के आधार पर उनकी सामरिकी को समेकित करना तथा उन्हें शस्त्रों और संचलन पर अध्यारोपित करना। जिन मुख्य सिद्धांतों पर उसके सुधार आधारित थे वे हैं : अच्छे मार्च अनुशासन तथा संगठन संचलन युद्ध परिचालन के बीच संबंध, मस्केट को युद्ध-पद्धति का प्रमुख शस्त्र मानना। फायर शक्ति को सेना के सभी अंगों के समन्वय का आधार मानना, और सुदृढ़ प्रशासन तंत्र का महत्व।

ये सुधार चाहे कितने ही आश्चर्यजनक और मौलिक थे परन्तु उसकी सफलताएं मुख्यत: तोपखाने के विकास पर आधारित थीं। जैसे तुर्क लोगों ने सबसे पहले सीजगन, का महत्व समझा, उसी प्रकार गुस्तावस ने हल्की तोपों, फील्ड गन के महत्व को सर्वप्रथम समझा और तीन, चार और छह पौंड की वास्तव में हल्की और चल फील्ड गन को प्रवर्तित किया।

संगीन

इसी समय के लगभग संगीन के प्रयोग ने पैदल सेना की सामरिकी के विकास में मदद की। मस्केटधारियों (बंदूकचियों) की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उन्हें बचाव के लिए भाला फेंकने वालों की आवश्यकता थी क्योंकि आमने-सामने की लड़ाई में घुड़सवार सेना के आक्रमण को रोकने के लिए कोई साधन नहीं थे। संगीन के प्रयोग से बंदूकचियों को भाला फेंकने वालो द्वारा बचाव की आवश्यकता नहीं रही। इससे उन्हें आघातरोधी वह शक्ति प्राप्त हो गई जिसके कारण उन्हें घुड़सवार सेना से बचाव के लिए सघन विरचनाएं करने की आवश्यकता नहीं रही—उन दिनों तोपखानों के बढ़ते हुए प्रयोग की यह प्रक्रिया घातक थी।

घुड़सवार सेना के युग में जिस अपकर्षता की स्थिति में पैदल सेना पहुंच गई थी उससे गुस्तावस ने उसे ऊपर उठाया। उसने यह महसूस किया कि पैदल सेना में भी अपनी सचल अन्तःशक्ति है जो मुख्यतः भू पर उनकी अनुकूलन शक्ति पर आधारित है और उसने पैदल सेना को सबसे महत्वपूर्ण सेनांग के रूप में पुनः स्थापित कर दिया। इस समय के बाद से यूरोप की सेनाओं में पैदल सेना के अनुपात में क्रमिकवृद्धि दिखाई पड़ी। लेकिन फिर भी एकमात्र प्रधान कार्रवाई द्वारा जूझने की पारम्परिक विचारधारा ही सामरिक निष्पादन का आधार बनी रही; 'फायर और संचलन' सिद्धांत को लागू करने के कोई लक्षण नज़र नहीं आते थे।

पैदल सेना को प्राथमिकता

जैसे-जैसे यूरोपीय सेनाओं में पैदलसेना के अनुपात का क्रमिक विकास हुआ—कुछ मामलों में यह वृद्धि तीस प्रतिशत से 75 प्रतिशत तक, वह भी कुछ ही दशकों के भीतर हुई—वैसे-वैसे सेनाओं में सैनिकों की संख्या अत्यधिक अनुपात में बढ़ी। सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में फ्रांस के राजा लुई की सेनाओं ने फील्ड में 2 लाख के लगभग सैनिक लगाए। सेनाओं की संख्या में इस आकस्मिक वृद्धि से इस बात की जरूरत महसूस की गई कि संग्राम-मोर्चों के लिए युद्धरत सैन्य दलों को बड़े क्षेत्र की आवश्यकता है। अब जनरलों के लिए यह संभव नहीं रह गया कि वे ऐसे खुले स्थानों का चुनाव कर सकें जहां वे शत्रु सेना का सामना कर सकें। सेनाओं को अपने संक्रिया क्षेत्रों में अपरिहार्य स्थलाकृतिक लक्षणों को शामिल करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्हें पहाड़ियों, नदियों, बाड़ों और इमारती

क्षेत्रों को अपने अभियान में लेना पड़ा या उन्हें युद्ध-क्षेत्र के रूप में प्रयुक्त करना पड़ा। इस कारण कार्रवाई के लिए टोह, स्काउट ड्रिल, मार्च करने और विश्राम के समय बचाव आदि जैसी छोटी संक्रियाओं का महत्व बढ़ गया। इससे पूर्व शत्रु की विरचना में कमजोर स्थल ही किसी कमांडर के मुख्य सामरिक उद्देश्यों के आधार होते थे। अब स्थलाकृतिक उद्देश्यों का महत्व भी स्पष्ट होने लगा और इससे भू के अनुकूल सेनाओं के विन्यास की कला का विकास हुआ। शत्रु के कमजोर स्थलों को भेद सकने की योग्यता के स्थान पर स्थलाकृतिक लक्ष्यों पर कब्जा करना ही सामरिक कौशल की मुख्य कसौटी बन गया।

नई संकल्पनाएं

इन नई संकल्पनाओं के कारण अगली शताब्दी में सामरिकी के विकास में बहुत उन्नति हुई। मार्लबरो ने जो इतिहास का एक महानतम सामरिकीविद था, इन विचारों पर लगातार मनन किया और इनमें सुधार किए। रेमलीज़ में मार्लबरो ने यह सिद्ध किया कि आक्रमण के लिए सुभेद्य क्षेत्र वह है जो शत्रु सेना की पश्चगमन रेखा के सबसे अधिक समीप हो। उसने अपनी सामरिकी में आकस्मिकता के तत्व को शामिल किया और ब्लैनहीम और रेमलीज़ में निश्चित रूप से यह सिद्ध किया कि किसी भी पोज़ीशन में मूल कारक स्थलाकृतिक ही है। मार्लबरो का सामरिकी सिद्धांत ही नेपोलियन की सामरिकी का और वास्तव में सामान्यतः आधुनिक सामरिकी का मूल भाव है।

यद्यपि सामरिकी के सिद्धांत में विकास की दिशा में एक बड़ा परिवर्तन फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन के युद्धों के बाद आया लेकिन आधुनिक युद्ध का प्रथम युग तब तक शुरू हो चुका था। प्रशिया के फ्रेडरिक महान् की सैनिक शिक्षा ने भूतकाल से अलग होने का पहला मौका प्रदान किया और नेपोलियन युग के बीच का मार्ग प्रशस्त किया।

फ्रेडरिक ने पुरानी 'प्रणाली' का विरोध किया। उसने एक ऐसी सेना का गठन किया जिसे तेज़ी से आगे बढ़ने के लिए प्रशिक्षित किया गया और इससे भी अधिक एक ऐसी पैदल सेना का गठन किया जो तेजी से फायर कर सकती थी। उसने कठोर ड्रिल और प्रशिक्षण के द्वारा अपनी सेना को मार्च-अनुशासन सिखाया ताकि वह अपनी सामरिक सचलता को बढ़ा सके। उसने अपने तोपखाने में भी अभिनव परिवर्तन किए जैसे गहराई में निशाने पर मार करने के लिए होइट्ज़र का प्रयोग और अपने तोपखाने को सचल बनाने के लिए घुड़सवार

बैटरी का संगठन करना। इसके बाद प्राचीन घुड़सवार सेना के चार्ज के स्थान पर फायर शक्ति लड़ाई में निर्णायक कारक हो गई।

इस समय के दौरान स्थापित प्रथा में एक और बड़ा परिवर्तन हो रहा था परन्तु इस बार किसी अन्य महाद्वीप में। सदियों से योरप की पैदल सेना सघन विरचनाओं में लड़ा करती थी और अपने ठीक-ठीक निशाना न लगाने वाले मस्केटों से विरोधी सैनिकों पर फायर करने के पूर्व एक दूसरे से दो गज की दूरी पर आ जाती थी। चमकीली वर्दियों में सज्जित सैन्य दल जब समीपी लड़ाई लड़ते हुए कई जटिल क्रियाएं, जैसे फायर करना, कुछ कदम पीछे लौटना, घुटना-टेक स्थिति में आना, मारना और फिर खड़े होकर आगे बढ़ना और दूसरी बौछार करना आदि, करता है उसमें एक प्रकार की अवास्तविकता प्रतीत होती है लेकिन फिर भी यह परंपरागत युद्ध-प्रणाली का एक भाग था। लेकिन राइफलयुक्त मस्केट के विकास के साथ, जो कि लम्बी परास के किसी लक्ष्य पर निशाने साध कर फायर करने में सक्षम थी, वह सब कुछ बदल गया हालांकि यूरोपीय रूढ़िवादियों की ओर से इसका काफी विरोध हुआ।

अमेरिका के औपनिवेशिक युद्धों में ब्रिटिश लोगों ने अमरीकी-भारतीयों से मुठभेड़ की कला सीखी। इन लोगों ने पूर्ववर्ती लड़ाइयों में छिपी हुई पोजीशनों से और लम्बी परास से फायर करके भारी संख्या में ब्रिटिश सैनिकों को हताहत किया। इन दावपेंचों को विफल करने के लिए रायल अमरीकन राइफल की स्थापना की गई जो प्रथम आधुनिक पैदल सेना थी और 'राइफल' परंपरा की पूर्ववर्ती थी। यह हल्का सैन्य दल छद्मावृत्त काले बटनों वाली (हरी) जाकेट पहनता था। ये छिपे हुए स्थानों पर बिखरे रहते थे और तीन या चार सौ गज की दूरी से निशाने पर फायर करते थे। यह लंबी-परास की आधुनिक लड़ाई की शुरुआत थी।

नेपोलियन नवप्रवर्तन :—नेपोलियन की सेना के अधिकारी इस सबक को नहीं भूले थे। पुरानी औपचारिक सामरिकी बदल दी गई और मुठभेड़कर्ता (बंदूकची या पक्के निशानेबाज जैसा कि फ्रांसीसी उन्हें कहते थे) भारी पैदल सेना के सामने एक स्क्रीन के रूप में विस्तारित क्रम में इस्तेमाल किए जाने लगे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे यह कौशल सफल सिद्ध होता गया, बंदूकचियों की पूरी बटालियनें तैयार की जाने लगीं जिनका काम था रक्षा के लिए मुख्य सेनांग से काफी आगे बिखरे और छिपे हुए स्थानों से फायर करके शत्रु सेना को उलझाए रखना और अग्रिम पंक्ति के रूप में एक छिपे स्थान से दूसरे छिपे स्थान की ओर बढ़ते रहना और जब शत्रु आक्रमण करे तब बिखर कर बाजू में हो जाना।

लाइन विरचना पैदल सेना की सामरिकी का इतने अधिक समय तक आधार रही कि वह 'युद्ध प्रणाली' का स्वीकृत भाग बन गई। नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना ने न केवल आगे मार्च करने के लिए बल्कि कुछ परिवर्तनों के साथ युद्ध के लिए भी कालम विरचना को अपना लिया था। इस प्रणाली के लाभ—कमान और परिचालनीयता की सरलता, जमीन की आवश्यकताओं के अनुसार अपने को ढालने के स्थान पर उसके उपयोग की क्षमता, गहराई का तुरंत उपलब्ध होना—रिवोली, मारेन्गो और अन्य लड़ाइयों में काफी अच्छी तरह दिखाई पड़े।

नेपोलियन द्वारा अपनी सेना को डिवीजनों और सेनाकोरों में संगठित करने से न केवल सामरिक सचलता प्राप्त हुई बल्कि उसने सामरिक महत्व भी प्राप्त कर लिया—प्रत्येक डिवीज़न या कोर की अपनी पैदल सेना, घुड़सवार सेना, तोपखाना और सहायक सेवाएं थीं। नेपोलियन की डिवीजनें भिन्न-भिन्न दिशाओं से अलग-अलग समय पर युद्ध स्थल पर आती थीं और शत्रु पर एक साथ सामने और बाजू से आक्रमण करती थीं। सबसे पहले आने वाली डिवीजन फायर द्वारा शत्रु सेना को रोके रखती थी, फिर बगली डिवीजनें पहली के फायर की आड़ में अलग-अलग दिशाओं से प्रकट होकर प्रहार कर देती थीं।

नेपोलियन के नेतृत्व में सामरिकी में एक अन्य महत्वपूर्ण विकास हुआ, सैन्य दल द्वारा प्रहार करने से पूर्व भारी गोलाबारी करना। कुछ मामलों में वह अपने तोपखाने को प्रहारक सैन्य दल से आगे ले गया ताकि शत्रु सेना पर अधिक प्रभावशाली ढंग से गोलाबारी की जा सके। प्रहार के लिए चुने गए स्थल से गोलाबारी इतनी तेजी से की जाती थी कि पैदल सेना के प्रहार से पूर्व ही शत्रु सेना के हौसले पस्त हो जाते थे।

इन सामरिक विधियों—भारी गोलाबारी, चारों ओर से घेरा डालते हुए कालमों का आगे बढ़ना, कालम विरचना के बलपर आक्रमण करना—के समेकन का प्रभाव यह हुआ कि उसकी विजय निर्णायक हुई। नेपोलियन का सामरिक उद्देश्य शत्रु सेनाओं को नष्ट करके निर्णायक जीत प्राप्त करना था। इस उद्देश्य को उसने फायर और परिचालन के समेकन द्वारा प्राप्त किया और एक मात्र सामने से आक्रमण करने की पद्धति को नहीं अपनाया जिसमें शत्रु सेना पीछे हट कर सुरक्षित स्थान पर लौट सके। अगर उसने पुराने रणकौशल को अपनाया होता तो उसके हारे हुए विरोधी अंततः पुनः संगठित होकर उसके विरुद्ध इकट्ठे हो सकते थे तथा और कुछ नहीं तो मध्य यूरोप में संनिघर्षण युद्ध तो छेड़ ही सकते

थे। लेकिन स्थिति यह रही कि उसने वर्षों तक अपने विरोधियों पर कई निर्णायक सामरिक विजय प्राप्त करके अपनी सामरिक श्रेष्ठता बनाए रखी।

बीसवीं शताब्दी :—अब हम बीसवीं सदी की सामरिक स्थिति पर चर्चा करेंगे। प्रथम विश्व युद्ध के संबंध में यह कहा जाता है कि संघर्ष इतने बड़े पैमाने पर था और उसमें प्रयोग किए गए हथियारों की विनाशकारी शक्ति इतनी अधिक थी कि इस दलदल में आत्मघाती नरसंहार के विषय में एक अपरिहार्य तत्व विद्यमान था जिसकी वजह से दोनों ओर अनावश्यक रूप से असंख्य व्यक्ति हताहत हुए। हो सकता है कि कोई दार्शनिक इसे इस रूप में वर्णित करे कि यह मान्य सैनिक मूल्यांकन नहीं है।

पश्चिमी मोर्चे पर हुई इस विवेकहीन नरहत्या का प्रत्यक्ष कारण सामरिक अयोग्यता था। 1914 और 1918 के बीच युद्ध क्षेत्र में जो परिस्थितियां मौजूद थीं उनका विकास—विशेष रूप से अमेरिका में—लगभग पचास वर्षों से हो रहा था। लेकिन यूरोप के सैनिक नेताओं में से बहुत कम अपने आप को इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार तैयार कर सके थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही सामरिक नीति प्रतिरक्षा की ओर अधिक झुक गई थी। प्रारंभिक ब्रीच-भरकों का स्थान मैगज़ीन राइफल ने ले लिया था और मशीनगन के आविर्भाव ने रक्षात्माक फायर के संपूर्ण पक्ष को बदल दिया। बगली सेनाओं द्वारा अन्तर्बद्ध तिर्यक् फायर वस्तुतः आक्रमणकारी सैन्य दल की टुकड़ी के समक्ष गोलियों की बौछार करके एक आवरण-सा फैलाया जा सकता था। शायद यह पर्याप्त नहीं था इसलिए, जटिल और खाइयों से युक्त कांटेदार बाड़ वस्तुतः आगे बढ़ना असंभव कर देती थी। मशीनगन और कांटेदार बाड़ के इस नए संयोजन ने रक्षा शक्ति को इतना अधिक बढ़ा दिया था कि आक्रमण के लिए तैयार सिपाही उसके सामने आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। लेकिन इस मूलभूत सामरिक सत्य को अधिकांश सैनिक नेताओं ने नहीं समझा।

प्रथम विश्व युद्ध

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान सेना के कमाण्डर, जो बहुत से मामलों में कभी भी अग्रिम पंक्ति के निकट नहीं गए थे एवं जिन्होंने पीछे की ओर मीलों दूर स्थित मुख्यालय से अपने आदेश जारी किए थे, सामने के आक्रमण मे शत्रु सेना की रक्षा पंक्तियों पर चार्ज करने के लिए निकट विरचना में इन खाइयों

युक्त स्थानों से आगे अपने आदमी भेजते रहे। जब हताहतों की संख्या बढ़ती गई तो इनको संख्या कम करने को दृष्टि से विभिन्न तरोके अपनाए गए जैसे तोपखाने को तैयारो, घूमपट, टैंक सहायता। लेकिन पैदल सेना द्वारा आक्रमण करने का तरोका मूलतः वही रहा—शत्रु सेना को अस्तव्यस्त करने के लिए तेज चोखों के साथ भारो संख्या में बायनेट द्वारा चार्ज करना।

बहुत समय से यह स्पष्ट है कि आधुनिक युद्ध पद्धति में बायनेट के घावों से हताहत होने वालों को संख्या बहुत कम है। 1914 से 1918 के युद्ध में भी यह संख्या इतनो कम थी कि इन्हें "विविध कैजुअल्टो" को 0.2 प्रतिशत में ही जोड़ दिया गया था। इस वर्ग में दुर्घटनाओं, आत्महत्या और "अन्य असामान्य कारणों" से हुई मृत्यु शामिल है। लेकिन आज भी रूढ़िवादी विचारधारा "शत्रु का बायनेट से सामना" करने पर विश्वास करती है और नए रंगरूटों को प्रघात कार्रवाई के इस प्राचीन तरीके के लिए तैयार करने में प्रशिक्षण का काफो समय बरबाद हो जाता है।

ऐसी आशा की जाती थी कि "फायर और संचलन" सामरिकी के प्रयोग से पश्चिमो मोर्चे पर हताहत होने वाले लोगों की संख्या में काफी कमी हो जाएगी। लेकिन इस संदर्भ में भी तोपखाने की पूरी क्षमता को कमी इस्तेमाल नहीं किया गया —मित्र राष्ट्रों द्वारा तो निश्चित रूप से नहीं किया गया और जर्मन लोगों द्वारा केवल कुछ सीमा तक इसका उपयोग किया गया। सेनाओं ने अपनी बन्दूक की क्षमता और आकार तथा अपने गोला-बारुद की मात्रा को काफी बढ़ा लिया था। पैदल सेना द्वारा आक्रमण किए जाने से घंटों पहले काफी बड़े क्षेत्र पर हजारों की संख्या में गोले बरसाए जाते थे और हताहतों की संख्या बढ़ती जाती थी। लेकिन फिर भी तोपखाने द्वारा सहायता की यह पद्धति मोर्चों के गतिरोध को तोड़ने में सहायक नहीं हो सकी।

सामरिक प्रगतिरोध की इस स्थिति का असली हल टैंक के आविष्कार के साथ हुआ जिसने सबलता और सुरक्षा दोनों को पुनः स्थापित किया। गोली-रोधी कवच उसके चालकों का छोटे शस्त्रों की फायर और किरच के गोले से बचाव करता था और उसकी चक्रपट्टी तार की बाड़ के पीछे छिपी खाइयों को पार कर सकती थी।

टक का पहली बार उपयोग जुलाई 1916 में सौम्मे की लड़ाई में हुआ लेकिन यह प्रयोग निष्फल रहा क्योंकि उसकी सामरिक क्षमता का पूरा

उपयोग नहीं किया गया। उसके चालकों को किसी नए शस्त्र को चलाने के लिए आवश्यक सुविचारित प्रशिक्षण नहीं दिया गया और न ही अंतःसंचार प्रणालो या पूर्ति प्रणाली में कोई फेर-बदल किया गया। अप्रैल, 1917 में आरास के युद्ध में टैंक की सहायता ठोस सिद्धांतों के आधार पर ली गई।

संपूर्ण युद्ध के दौरान तोपखाने का सही इस्तेमाल नहीं किया गया। अतः विकल्प के रूप में एक नई युद्ध सामरिकी का उदय टैंकों के बाद में किए गए प्रयोग के साथ हुआ। चार वर्षों में पहली बार कैम्ब्रे में, सामान्य आक्रमण-पूर्व रोक को समाप्त करना सामरिकी की दृष्टि से एक अप्रत्याशित घटना थी। आक्रमण बेला से पूर्व गनों को रजिस्टर करने की भी अनुमति नहीं थी। कवचित मशीन गन प्लेटफार्म के रूप में प्रयोग किए जाने से टैंकों ने पैदल सेना को आगे बढ़ने में मदद की और विजय को संभव बनाया।

लेकिन टैंक की उपयोगिता इससे भी अधिक थी। उन्होंने यह दिखा दिया कि वे सहज रुप से स्वतंत्रतापूर्वक आक्रामक कार्रवाई करने में सक्षम हैं और उनमें पारवेधन की शक्ति भी है। यदि अपने आगे बढ़ने की कार्रवाई में उन्हें पर्याप्त सहायता मिल सके तो क्या वे युद्ध-क्षेत्र में निर्णय प्राप्त नहीं कर सकते? इसका उत्तर ब्रिटिश जनरल स्टाफ के पास है—लेकिन एक बार फिर रूढ़िवाद और परंपराएं अलंघ्य बाधाएं सिद्ध हुईं।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान दोनों पक्षों के कमांडरों द्वारा जो सामरिक विवशता या निस्सहायता दिखाई गई वह मुख्यतः अधिकारी संवर्ग द्वारा नए हथियारों और प्रणालियों के अनुसार अपने आप को परिवर्तित करने की मानसिक अनिच्छा से उद्भूत थी। युद्ध शुरु होने से पूर्व इस निस्सहायता की स्थिति को समाप्त करने के लिए सभी तकनीकी साधन उपलब्ध थे जैसे मशीन गन, आधुनिक तोपखाना और कैटरपिलर और ट्रैक्टर सहित पेट्रोल चालित गाड़ियां। लेकिन फिर भी नए सामरिक सिद्धांत के निर्माण के लिए इनमें से किसी का भी पूरा फायदा नहीं उठाया गया—यहां तक कि जर्मन लोगों द्वारा भी नहीं।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद आर्मर के प्रशंसकों (फुलर, लिडल हार्ट, होबार्ट और अन्य) ने आर्मर के परीक्षण में रुचि बनाए रखने के लिए असफल प्रयत्न किए लेकिन युद्ध कार्यालय के कट्टर घुड़सवार सेना के जनरल उन सभी विचारों के विरोधी थे जो घुड़सवार सेना को प्रतिस्थापित

कर सकते थे और चौथे दशक के मध्य तक भी वे मशीनीकरण को दूर रखने के लिए पृष्ठारक्षी लड़ाई लड़ते रहे।

दूसरा विश्व युद्ध

मई 1940 में पश्चिमी यूरोप पर की गई चढ़ाई में जर्मन लोगों ने वास्तव में मित्रराष्ट्र की अपेक्षा कम टैंकों से आक्रमण किया था। कुल संख्या (3,500) के विरुद्ध जर्मन सेना की 136 डिवीजनें, जिनमें 35 टैंक बटालियन (2,574) शामिल थीं, लगाई गईं। केवल वायुसेना की दृष्टि से जर्मन सेना श्रेष्ठ थी। लेकिन जहां मित्र राष्ट्रों की योजना स्थिर मोर्चाबंदी संकल्पना पर आधारित थी वहां जर्मन जनरलों का उद्देश्य था पहले से चुने हुए स्थानों से सैन्य बल का संचलन और संकंद्रण। फ्रांसीसी सेना की लगभग आधी कवचित सेनाएं स्थिर युद्ध में सहायता करने के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंटी हुई थीं। दूसरा आधा भाग भी, जिसमें आर्मर की सात डिवीजनें शामिल थीं, खंडों में बंटा हुआ था और इसी रूप में उसका उपयोग किया गया। इसके विपरीत जर्मनों ने अपनी 10 पेंजर डिवीजनों को इकट्ठा करके तीन पेंजर कोर बना लिए थे। ये ही तीन संकेंद्रित आर्मर विरचनाएं थीं जिन्हें तीन चुने हुए स्थानों डिनान, मोनथीम और सेडान से आक्रमण का मुकाबला करना था। इस स्थिति में, इस प्रकार की समेकित स्त्रातेजिक योजना और सामरिक संचलन प्रत्येक दबाव-स्थल को भेद सकने में समर्थ थे।

जर्मन बिल्ट्जक्रीग प्रणालियों की अत्यधिक सफलता ने रैखिक सुरक्षा की संकल्पना की स्वाभाविक कमजोरियों को उजागर कर दिया। इस प्रणाली में आक्रमणकारी सेनांग द्वारा एक बार अन्दर घुस जाने पर, पूरे भाग की निरंतरता को बनाए रखने के लिए पूरी लाइन के साथ-साथ बाहर निकलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होता। उन दिनों जब युद्ध स्थल पर सामरिक संचलन मुख्यतः पैदल सेना पर निर्भर था, सुरक्षा पंक्ति से वापसी एक संभव संक्रिया थी क्योंकि शत्रु द्वारा अनुवर्तन ज्यादा से ज्यादा धीमा और सीमित हो सकता है। लेकिन बिल्ट्जक्रीग संचलन के समक्ष इस आचार की संक्रिया के परिणामस्वरूप जो अव्यवस्था और गड़बड़ पैदा होती है वह सफलता की किसी भी बड़ी संभावना को समाप्त कर देती है जैसा कि फ्रांस में जर्मनों के आक्रमणों के दौरान बार-बार स्पष्ट हुआ। फिर भी, यदि किसी प्रकार सफलतापूर्वक पीछे लौट भी आए तो भी किसी भी पक्ष के लिए पीछे हटने की भी एक सीमा होती है। इस प्रक्रिया की किसी अवस्था में शत्रु पर प्रत्याक्रमण

भी करना चाहिए क्योंकि प्रत्याक्रमण की सामरिक योजना के बिना किसी भी आक्रमणकारी को नहीं हराया जा सकता और सुरक्षा का उद्देश्य आक्रमण के समान ही शत्रु को हराना ही है —केवल सैनिकों को हताहत करना नहीं है।

1941 की जर्मनो को चढ़ाई के दौरान रूसी सुरक्षा सामरिका ने सुरक्षात्मक युद्ध–पद्धति को नई संकल्पनाओं पर प्रकाश डाला। जब गुडेरियन, हौथ और रेनहार्ड के पेन्जर दल सशस्त्र आक्रमण द्वारा रूसी क्षेत्र में अन्दर तक घुस गए तब इन अन्दर घुसे हुए सैन्य दलों ने रूसी सेनाओं के चारों ओर घेरा डाल लिया ताकि उन्हें इस घेरे से बने हुए कैसल या पाकेट में रोके रखा जा सके। लेकिन घिरी हुई रूसी सेनाएं पीछे नहीं हटीं, उन्होंने इन कैसलों को किले के रूप में इस्तेमाल किया और अलग पड़ जाने पर भी मुकाबला करती रहीं। अब इतने वर्षों के बाद यह कहना मुश्किल है कि यह युद्ध पूर्व की लाल सेना का औपचारिक सुरक्षात्मक सिद्धांत था या नहीं, लेकिन जहां तक सुरक्षात्मक युद्ध पद्धति का सवाल है 1941-1943 के दौरान रूसी सेनाओं द्वारा उपयोग किए गए तरीकों ने एक पूर्णतया नूतन सामरिक सिद्धांत प्रस्तुत किया—'एरिया' या 'वेब' प्रतिरक्षा प्रणाली जिसमें केवल अग्रप्रतिरोध और फायर शक्ति द्वारा ही नहीं बल्कि इन फंसे हुए स्थानों से सामरिक परिचालन करके आक्रमण को विफल किया जा सकता है। इस प्रणाली में गहराई में आक्रमण को विफल करने की दृष्टि से कई विशिष्ट बिंदु या सुरक्षित क्षेत्रों को ध्यान में रखा जाता है।

यह केवल रैखिक सिद्धांत से अलग हो जाना ही नहीं है बल्कि यह एक ठोस प्रतिरक्षा प्रणाली भी है जो बहुत सीमा तक परिचालनीयता और सुचलता पर निर्भर है— और पश्चिमी सेनाओं की पुरानी निष्क्रिय संकल्पना के एकदम विपरीत है। इस नए सिद्धांत ने ब्लिट्ज़क्रीग प्रकार के आक्रमण का सामना करने का उचित तरीका बताया जैसा कि बाद में यूरोप और अफ्रीका के युद्ध क्षेत्रों में सिद्ध भी हो गया।

जर्मन ब्लिट्ज़क्रीग को मैदान-सामरिकी का उद्देश्य समग्र आर्मर के साथ आक्रमण का सामना करना था— कभी-कभी 240 टैंकों की एक पूरी 'पेंजर' डिवीजन 'मुठभेड़ एशिलम' के रुप में आगे बढ़ती थी—लेकिन उसे मशीनीकृत तोपखाने और पैदल सेना की विरचनाओं की भी भरपूर सहायता मिलती थी। ब्रिटिश लोगों ने जो अपने सैनिक खर्च में बचत करने की आवश्यकता

से सदा ही ग्रस्त रहते थे, अपने आर्मर युद्ध-पद्धति के सिद्धांत के अनुरूप इन रण कौशलों को अपनाया—हल्की सचल आर्मर विरचनाओं के साथ टैंक के साथ टैंक की लड़ाई।

इसने एक विस्मयकारी भ्रांत धारणा को जन्म दिया। आर्मर को एक स्वतंत्र और प्रमुख भूमिका प्रदान करने की दृष्टि से उन्होंने इस सिद्धांत को विकसित किया कि आधुनिक तेज गतिक लड़ाइयों में प्रमुख कारक संक्रिया क्षेत्र में आर्मर श्रेष्ठता प्राप्त करना है और इसलिए टैंकों के साथ टैंकों की लड़ाई आर्मर कोर का उद्देश्य होना चाहिए।

तदनुसार 1940 से 42 की अवधि में ब्रिटिश सामरिक सिद्धांत ने सिखाया कि आर्मर श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र चल भूमिका के रूप में हल्के आर्मर सैन्य दल की भर्ती की जाए जो शत्रु के आर्मर को ढूंढ़ कर उसे नष्ट कर सके। इस अव्यावहारिक रुख के परिणाम, पश्चिमी रेगिस्तान की सर्वनाशक टैंक कार्रवाई में अत्यधिक स्पष्ट हो गए थे।

वास्तव में जर्मन लोग एकदम उलट रूप में आर्मर सिद्धांत को महत्व देते थे—अर्थात् आर्मर का उपयोग आर्मररहित सेना पर किया जाएगा—और उसमें भी सबसे कमजोर हिस्से पर ताकि शत्रु सेना को जल्दी भेदा जा सके। शत्रु के आर्मर का सामना टैंक रोधी तत्वों और गोता-बमबारी द्वारा किया जाना चाहिए न कि जर्मन कवचित (आर्मर) सेनाओं द्वारा जिनका मुख्य काम हमेशा ही 'जितनी जल्दी हो सके शत्रु पक्ष में घुस जाना, कमजोर स्थलों पर से घुसपैठ करके स्त्रातेजिक स्थानों पर पहुंचना' होता था।

मित्र राष्ट्रों को ओर यह जिम्मेदारी एक पैदल सेना के जनरल आयिन्लेक पर पड़ी कि वह दृष्टि सीमा को पुनः स्थापित करे और आर्मर की स्वतंत्र टैंक कार्रवाई को भूमिका को धीरे-धीरे परिवर्तित करके उन्हें मुख्य भू-युद्ध में सर्वांग सेना को सहयोग देने की भूमिका प्रदान कर दे।

स्त्रातेजी के आधार

ऐतिहासिक— यहां स्त्रातेजी शब्द का जिस रूप में प्रयोग किया गया है उसमें वे सब विभिन्न अर्थ, जिसमें इसकी व्याख्या को जा सकती है, शामिल हैं—राजनीतिक स्त्रातेजी, सैनिक स्त्रातेजी और नेपोलियन अर्थ में 'महा सामरिकी' (या संक्रियाएं)—हालांकि ये विभिन्न शब्द विभिन्न स्तरों पर स्त्रातेजिक मार्ग

को सूचित या द्योतित करते हैं, लेकिन फिर भी इसकी संपूर्ण संकल्पना में आधारभूत एकता है। आजकल उच्चतम स्तर पर स्त्रातेजी की जिम्मेदारी सरकार पर है, इसलिए इसे 'राजनीतिक स्त्रातेजी' कहा जाता है। सेना मुख्यालय में इसी संकल्पना को 'सैनिक स्त्रातेजी' कहा जाता है जबकि 'महा सामरिकी' या 'संक्रियाएं' शब्द नेपोलियन युग के दौरान प्रचलित थे और ये सैनिक तकनीकों के उस महान प्रवर्तक द्वारा दी गई स्त्रातेजी और सामरिकी की नई व्याख्या के द्योतक हैं।

अपने अधिक पूर्ण अर्थ में स्त्रातेजी को राष्ट्र या राष्ट्रों के समुदाय के साधनों को संगठित करने और निदेशित करने की कला के रूप में माना गया है—इसमें सशस्त्र सेनाएं भी शामिल हैं ताकि शत्रु पक्ष, चाहे वह वास्तविक हो या संभावित, की तुलना में अपने हितों की रक्षा और उनको प्रोन्नत किया जा सके। इसी संकल्पना से इस शब्द के अन्य सभी प्रयोग निकलते हैं।

सामंत युग के बाद प्रथम प्रमुख विकास था—मुद्रा अर्थ-व्यवस्था का विकास, यह एक ऐसा विकास था जिसने अपरिहार्य रूप से सैनिक सेवा प्राप्त करने की प्रणाली में परिवर्तन कर दिए। श्रमसाध्य सामंती देयता की पुरानी पद्धति का स्थान भुद्रा अदायगी ने ले लिया। समय के साथ इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे छोटी पूर्ण प्रशिक्षित, स्थायी सेनाओं की स्थापना हो गई और उनमें सामंत वर्ग से बाहर के वर्गों के लोग भी भर्ती होने लगे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक इन सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ बारूद के आविष्कार और उसके बाद तोपखाने के विकास के परिणामस्वरूप सेनाओं के संगठन और युद्ध के तरीकों में स्पष्ट सुधार निश्चित रूप से दिखाई पड़े, लेकिन तब भी स्त्रातेजिक चिंतन में कोई स्पष्ट प्रगति नहीं दिखाई पड़ी। युद्ध राजाओं और राजकुमारों के व्यक्तिगत कार्यों के रूप में लड़े जाते रहे और उनकी भिड़ंत अधिकतर युद्धभूमि तक ही सीमित रहती थी। विरोधी सम्राट और उनकी सेनाएं आपस में लड़ती रहती थीं, लेकिन संबद्ध देश और आम समाज के व्यक्ति वस्तुतः इन झगड़ों में अप्रभावित रहते थे।

मैकावली के प्रवर्तन

मैकावली वह प्रथम महान् राजनीतिक चिन्तक था जिसने युद्ध संचालन को अपने समय की निष्फल संकल्पना से मुक्त करने का प्रयत्न किया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि आर्ट आफ वार' में उसने विश्वसनीय रूप से युद्ध कला को

धार्मिक और नैतिक पूर्वाग्रहों से अलग कर दिया था और उसे संवैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक कारकों से जोड़ दिया था। उसने इस संकल्पना को प्रवर्तित किया कि युद्ध लड़ने में पूरे राज्य को शामिल किया जाना चाहिए और उसे तब तक लड़ते रहना चाहिए जब तक पूरे राष्ट्र के लिए (केवल राज्य के अध्यक्ष के लिए नहीं) हितकारी राजनीतिक परिणाम न प्राप्त हो जाएं।

उसने अन्य कई संबंधित प्रश्नों को उठाया और अंततः राजनीतिक स्त्रातेजी के प्रथम महान् सिद्धांतों को प्रतिपादित किया। उसकी बोधता की परिधि में संपूर्ण जटिल सैनिक समस्याएं सम्मिलित थीं और उसने सैनिक ब्यौरे और युद्ध के सामान्य उद्देश्य के बीच, सैनिक शक्ति और सैनिक संगठन के बीच अनिवार्य संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजनीतिक चिन्तन और स्त्रातेजिक अंतर्दृष्टि में वह अपने समय से काफी आगे था और राजनीति के संबंध में उसकी संकल्पना थी वर्धमान और विस्तारशील अवयवों (देशों) में अस्तित्व के लिए संघर्ष और इस संघर्ष में युद्ध स्वाभाविक और आवश्यक थे। युद्ध पूरे राष्ट्र द्वारा लड़े जाने चाहिएं और बदले में, विजय प्राप्त करने का उद्देश्य पूरे राष्ट्र का हित होना चाहिए। इन सिद्धांतों के कारण मौजूदा प्रणालियों और पद्धतियों के पुनर्गठन और उनमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी, जैसे अनिवार्य भर्ती लागू करना, सैनिक शक्ति को पैदल सेना पर आधारित करना, मनोवैज्ञानिक युद्धपद्धति और अन्य बहुत से नवाचार।

मैकावली के बाद की दो शताब्दियों में युद्ध कला की पद्धतियों में मुख्य विकास सेनाओं के आकार में क्रमिक वृद्धि, सशस्त्र सेनाओं पर सिविलियन नियंत्रण की संकल्पना का आरंभ और इंजीनियरी और प्रौद्योगिकी का विकास था। हालांकि इस अवधि के दौरान स्त्रातेजिक विचारधारा में स्पष्ट प्रगति नहीं हुई लेकिन इन विकासों ने नेपोलियन युग में हुए महत्वपूर्ण आकस्मिक परिवर्तनों के लिए वातावरण तैयार कर दिया।

इस प्रक्रिया में हमें राजनीतिक और सैनिक स्त्रातेजी के बीच द्विभाजन के प्रथम चिह्न दिखाई पड़े। यह एक ऐसी संकल्पना थी जो रिचेल्यू द्वारा अधिक दृढ़ता से प्रतिपादित की गई थी। रिचेल्यू ने सिविल प्रशासन सुधारों की नींव रखी और सशस्त्र सेनाओं को मजबूत सिविलियन नियंत्रण के अधीन किया।

नेपोलियन

फ्रांसीसी क्रांति ने इन संभाव्यताओं को विकसित किया जिनको नेपोलियन ने पूरी तरह समझा और उनका पूरा-पूरा उपयोग किया । शुरू में क्रांतिकारियों द्वारा स्थापित जन सुरक्षा समिति ने सार्वजनिक सैनिक सेवा का सिद्धांत लागू किया और इस प्रकार एक ऐसे प्रमुख बल को निर्मुक्त किया जिसने नेपोलियन के नए सैनिक वर्ग क्रम को प्रभावित किया । पहले युग की प्रशिक्षित व्यावसायिक सेना के स्थान पर क्रांतिकारी फ्रांस की जन सेनाएं एक ऐसा जन-बल बन गईं जिनके पीछे बहुत बड़ा रिजर्व जनशक्ति थी । सैनिकों के रूप में इस्तेमाल किए जा सकने वाले विशाल जन समूह के साथ अब लड़ाइयां कटु सीमा तक लड़ी जा सकती थीं । परिणामस्वरूप नेपोलियन अपने इस स्त्रातेजिक निर्णय को लागू कर सकता था कि युद्ध पूर्ण विजय होने तक लड़े जाएं । यह वह स्त्रातेजी है जिससे उसने फ्रांस की सैनिक श्रेष्ठता स्थापित की । उसके अन्य नवाचार इसी मूल संकल्पना की उपज हैं ।

डिवीज़न प्रणाली अर्थात संगठन की स्वतंत्र कमान के अधीन और स्वतंत्र रूप से मुठभेड़ के लिए सक्षम नियत यूनिट—के उद्‌भव ने भी नई स्त्रातेजिक और सामरिक संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया । सड़कों और परिवहन प्रणालियों के विकास ने परिचालन शक्ति को बढ़ा दिया और 'संक्रिया लाइनें' और भीतरी एवं बाहरी 'लाइनें' जैसी संकल्पनाओं को जन्म दिया । जब उसके शत्रुओं ने जो केन्द्रीकृत कमान के अधीन विशाल दुर्वह जनसमूह के साथ युद्ध लड़ रहे थे, सामरिक परिचालन में कठिनाई महसूस की, तो वह अपनी अलग-अलग डिवीजनों के साथ, जो बिखर कर और स्वतः परिचालित जनसमूह के रूप में कार्य कर रही थीं, अधिक परिचालनीयता और सुचलता से अपनी युद्ध-योजना को कार्यान्वित कर सकता था । वह कार्यान्वयन को दो सुनिश्चित चरणों में बांट सकता था— भिड़न्त (या जिन्हें वह संक्रिया कहना पसंद करता था) से पूर्व परिचालन और दूसरे चरण में स्वयं युद्ध । पहले में एक के बाद एक कई विभेदक चालें चलकर अधिक अच्छी सुचलता द्वारा बाजू से फैल कर शत्रु घेर कर (जैसे कि उल्म में) या उसकी संचार लाइन को भेद करके (जैना के समान) स्थिति संबंधी लाभ प्राप्त करना चाहता था, और अंत में जब शत्रु पक्ष को अलाभकारी स्थिति में पहुंचा दिया जाता था तब वह दूसरे चरण को कार्यान्वित करता था अर्थात हमला करने की विरचना में शत्रु पक्ष के समीप होकर खड़े हो जाना ।

नेपोलियन की स्त्रातेजिक और सामरिक नई चालों को उस समय के दो महान सैनिक चिंतकों जोमिनी और क्लाजविट्ज ने रिकार्ड किया और उनका विश्लेषण किया ।

जोमिनी

यूरोप में लगभग एक शताब्दी से अधिक समय के लिए जोमिनी की पुस्तकें मानक सैनिक साहित्य मानी गईं । क्लाजविट्ज से भिन्न युद्ध के तात्विक सोच-विचार में उसकी रुचि नहीं थी बल्कि उसने अपना लेखन स्त्रातेजी के यांत्रिक पहलुओं और युद्ध के व्यावहारिक प्रश्नों पर चर्चा तक ही सीमित रखा । वह नैपोलियन की सैनिक स्त्रातेजी का व्याख्याता था जबकि क्लाजविट्ज ने शत्रु के विनाश के द्वारा नेपोलियन को निर्णय-स्त्रातेजी के अत्यधिक राजनैतिक प्रभाव पर बल दिया ।

जोमिनी का उद्देश्य था विभिन्न अस्पष्ट धारणाओं, सूत्रों और अनुमानों को स्पष्ट करके निश्चित और क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना । उसने निम्नलिखित रूप में सैनिक स्त्रातेजी के मूलभूत सिद्धांतों को लिपिबद्ध किया:—

'स्त्रातेजिक उपायों से किसी सैन्य बल के अधिकांश भाग को क्रमशः युद्ध क्षेत्र के निर्णायक क्षेत्रों को अधिकार में करने के लिए ले आना और जहां तक संभव हो किसी समझौते के अपने साधनों को बचाते हुए शत्रु की संचार व्यवस्था पर कब्जा करना ।'

'इस रूप में परिचालन करना कि अपनी सेना के प्रमुख भाग की भिड़न्त शत्रु की सेना के केवल एक भाग के साथ हो ।'

'इसके अतिरिक्त लड़ाई में, सामरिक परिचालन द्वारा अपनी प्रमुख सेनाओं को युद्ध भूमि के निर्णायक क्षेत्रों में या शत्रु सेना की उन लाइनों में ले जाना जिन्हें पराजित करना महत्वपूर्ण हो ।'

'मामलों को इस ढंग से व्यवस्थित करना कि मानव-समूह को न केवल निर्णायक स्थान पर इकट्ठा किया जा सके बल्कि उन्हें शीघ्रता से और इकट्ठे कार्रवाई करने को कहा जा सके ताकि वे एक साथ प्रयत्न कर सकें।'

जोमिनी ने इन सामान्य सिद्धांतों को कुछ ठोस सिद्धांतों द्वारा पूरित किया जिन्हें उसने 'संक्रिया लाइन,' 'भीतरी लाइनें' और 'स्त्रातेजिक पहल' कहा ।

क्लाजविट्ज

नेपोलियन और फ्रांसीसी क्रांति के युद्धों के अध्ययन से क्लाज़विट्ज़ ने (अपनी क्लासकीय पुस्तक 'आन वार' में) निर्णय की स्त्रातेजी के उद्भव को पहचान लिया था। यह एक ऐसी स्त्रातेजी थी जिसमे न केवल राजवंशीय या क्षेत्रीय दावे ही शामिल थे बल्कि संबंधित राष्ट्रों और समाजों का अस्तित्व भी शामिल था। उसने यह भविष्यवाणी की कि अब से सभी युद्ध पद्धतियों की विशेषता होगी 'आखिरी सीमा तक ढकेल देना'। किसी भी प्रकार की नियमावली या प्रयोग के परिमार्जन, जिसमें 'नियमन सिद्धांत' समाविष्ट हो, को उसने अवास्तविक माना है। उसकी परिभाषा के अनुसार युद्ध, 'हिंसा का एक ऐसा कार्य था जिसका' उद्देश्य अपने विरोधी को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए मजबूर करना था। क्योंकि अनुमानत: दोनों पक्षों का उद्देश्य एक ही होता है 'अत: युद्ध हिंसा का वह कार्य है जो अपनी चरम सीमा तक ले जाया जाता है' और सदा ही शत्रु के विनाश या पराजित होने पर समाप्त होता है। इसे ही उसने चरम युद्ध कहा है।

स्त्रातेजी संबंधी क्लाज़विट्ज़ के सिद्धांतों ने 19 वी शताब्दी के दौरान प्रशिया के सैनिक नेताओं को बहुत प्रभावित किया। स्कार्नहोर्स्ट और वान माल्तके ने उचित सैनिक तंत्र के गठन को सुनिश्चित करने के लिए कुछ सुधार लागू किए ताकि वह निर्णय की नई स्त्रातेजी की आवश्यकताओं के अनुरूप बन सके। हाई कमान प्रणाली और जनरल स्टाफ पुनर्गठित किए गए। फ्रांस से भी अधिक उग्र सुधारवादी अनिवार्य भर्ती की नीति लागू की गई। 1860 तक प्रशियाई सेना का यूरोप में सबसे शक्तिशाली सेना के रूप में आविर्भाव हुआ। इसके निर्माण में नेपोलियन और उसके सैनिक व्याख्याताओं के साथ-साथ स्कार्नहोर्स्ट और वान माल्तके का भी उतना ही हाथ है।

फिर यह कैसे हुआ कि 1914 में उस युग से अर्द्ध शताब्दी के भीतर ही हम यह पाते हैं कि उसी परंपरा के उत्तराधिकारी एक स्थैतिक, अनिर्णायक और विनाशकारी बृहत् युद्ध में फंस गए जिसमें स्त्रातेजिक दिशा और योजना का सर्वथा अभाव था। युद्ध का अध्ययन कभी भी इतनी ऊंचाइयों को नहीं पहुंच पाया था जितना कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व की शताब्दी में पहुंच गया था, और शायद ही कभी उसका उपयोग करने में इतनी संचालन निष्फलता दिखाई दी हो जितनी 1914 - 1918 के वर्षों में दिखाई पड़ी।

यद्यपि फ्रांसीसी और जर्मन दोनों के इस स्त्रातेजिक ह्रास के लिए पूर्णतः संतोषजनक स्पष्टीकरण देना कठिन है लेकिन उन तीन मुख्य प्रभावों के सहसंबंध से इस समस्या को कुछ समझा जा सकता है जिनसे उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों के दौरान यूरोप के सैनिक मामले संचालित होते थे : जर्मनों की ओर प्रशिया राज्य का अतिवादी सैनिकवाद, फ्रांसीसियों में डू पिक और फोच के अव्यवस्थित चिंतन और अनम्य सिद्धांत, और अंतिम है। उस तत्व द्वारा स्त्रातेजिक चिंतन में उत्पन्न सामान्य कठिनाई जिसे क्विंसी राइट ने अपने क्लासीय ग्रंथ 'ए स्टडी आफ वार' में युद्ध की सर्वाधिकारिता कहा है यह एक भारी भरकम शब्द होते हुए भी व्याख्यात्मक है जो सेनाओं के आकार में वृद्धि की दिशा में आकस्मिक और निश्चित प्रवृत्ति का, जनसंख्या के सैन्यीकरण और युद्ध प्रयत्नों के राष्ट्रीयकरण और सैनिक संक्रियाओं और संभारिकी के तीव्रीकरण का द्योतक है। उसके कथनानुसार निश्चित रूप से परिणाम हथियारों पर इतना निर्भर नहीं करना जितना कि प्रतियोगियों की अभिवृत्त पर।

प्रशिया में सैनिक विशिष्ट वर्ग द्वारा नए, मशीनी युग के महत्व को न समझ पाने के कारण स्त्रातेजिक गतिरोध पैदा हुआ। मित्र राष्ट्रों की और इसके कारण अधिक सूक्ष्म थे लेकिन परिणाम की दृष्टि से कम नहीं थे।

जनतंत्रात्मक देशों में उस प्राचीन व्यवस्था, जिसमें युद्ध मुख्यतः जनरल और एडमिरलों का ही दायित्व था, का स्थान नई प्रणाली ने ले लिया जिसमें कि इसका उत्तरदायित्व सरकार के सिविलियन नेताओं पर आ पड़ा। यह केवल राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के कारण ही नहीं हुआ बल्कि इसलिए भी हुआ क्योंकि वृहत् सेनाओं और महत्वपूर्ण संभारिकी के आधुनिक युद्धों में राष्ट्रीय साधनों का उपयोग उतना ही महत्वपूर्ण हो गया है जितनी कि सैनिक स्त्रातेजी, और इनका सैनिक स्त्रातेजी पर सीधा प्रभाव भी पड़ता है। इस तरह के युद्धों के संचालन के लिए यह जरूरी है कि तकनीकी और व्यावसायिक सैनिक अधिकारी राजनीतिज्ञों द्वारा प्रोत्साहित और निदेशित किए जाएं क्योंकि केवल राजनीतिज्ञ ही क्रियाशील राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक ताकतों को समझते हैं और इसके साथ ही इन्हें एक उद्देश्य पर केन्द्रित करने की शक्ति भी उनके पास है।

यही बात शांति की लम्बी अवधि के दौरान सिद्धांत तो बन गई किन्तु व्यवहार में यह बिल्कुल भिन्न सिद्ध हुई। परंपरागत सिविलियन नेताओं की सैनिक मामलों

में कोई रुचि न रहने के कारण युद्ध के एकदम पास आ जाने पर भी वे उस उत्तरोत्तर सक्रिय स्त्रातेजिक भूमिका के लिए पूर्णतया तैयार नहीं थे जिसे तकनीकी और औद्योगिक क्रांति ने अपरिहार्य बना दिया था। इसके साथ ही जनतंत्रों के सैनिक तंत्रों ने—विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका ने—अपने आप को इस कार्य के अयोग्य पाया। जब सैनिक स्टाफ ने धीरे धीरे उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर से हट जाने को स्वीकार कर लिया तब जनतंत्र का सैनिक-तंत्र जर्मनी के समान व्यावसायिक ढंग से विकसित नहीं हो पाया। ब्रिटेन या अमेरिका में प्रशिया जनरल स्टाफ के समान कोई व्यावसायिक एजेंसी नहीं थी। परिणामस्वरूप राजनीतिक एवं सैनिक नेतृत्व दोनों ने नए प्रकार की युद्ध-पद्धति की संभाव्यताओं के मूल्यांकन और निर्देशन के लिए स्वयं को अक्षम पाया।

इन सम्मिलित प्रभावों के कारण स्त्रातेजिक चिंतन में ह्रास होने लगा—एक ऐसा ह्रास जिसके परिणामस्वरूप एक आत्मघाती और उद्देश्यहीन व्यापक आक्रामक युद्ध शुरु हो गया और इसके एक बार शुरू हो जाने पर, इसे रोकने की शक्ति अथवा जानकारी शायद किसी के पास भी नहीं थी।

युद्धकालीन अवधि

तीसरे और चौथे दशक की युद्धकालीन अवधि के दौरान जनतंत्रात्मक और सर्वसत्तात्मक राज्यों में एकदम विपरीत स्त्रातेजिक अभिवृत्ति दिखाई पड़ती थी। एक कैम्प में सैनिक-निष्क्रियता, सुरक्षात्मक मनोदशा और उत्साहहीनता और दूसरी ओर उद्देश्य सहित सशस्त्र 'सेनाओं के निर्माण के साथ-साथ उत्साहपूर्ण, सकारात्मक स्त्रातेजिक दृष्टिकोण।

दूसरे विश्वयुद्ध से एकदम पूर्ववर्ती वर्षों में फ्रांस पश्चिमी जनतंत्रों में प्रमुख सैनिक शक्ति समझा जाता था और इसलिए उसने एक सर्वमान्य स्त्रातेजी के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा की। फ्रांस की इस प्रमुख स्थिति में होने का कारण उसकी सेना का संख्या की दृष्टि से विशाल होना था। लेकिन जहां तक आंतरिक स्थिति का संबंध है, सेना के अंदरूनी मामले अत्यंत खराब स्थिति में थे। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले की अर्ध शताब्दी के दौरान उसकी सक्षमता और लड़ाकू शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास हो गया क्योंकि इसमें भी घुन की तरह खोखली कर देने वाली 'राजनीति' और उन सब अन्य बातों का प्रवेश हो गया जिन्हें दुनियां वाले सशस्त्र सेनाओं के संदर्भ में इसके साथ जोड़ देते हैं।

सेनाओं की क्रमिक उत्साहहीनता

सेनाओं की क्रमिक उत्साहहीनता का प्रमुख कारण यह था कि फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों ने पुरानी फ्रांसीसी सेना को अधिकतः मिलिशिया फोर्स के रूप में बदल देने के अनर्थक प्रयत्न किए जिसके परिणामस्वरूप लम्बी सेना वाले व्यावसायिक सैनिकों की केवल छोटी सी संख्या ही रह गई थी।

यह अवश्यंभावी था कि मुख्यतः मिलिशिया फोर्स पर आधारित स्त्रातेजी अंततः सुरक्षात्मक अभिवृत्ति को अपनाने पर मजबूर हो गई। वास्तव में एकदम ऐसा ही हुआ। मैगनेट लाइन संकल्पना—अर्थात् रक्षणात्मक विशाल पंक्ति जिसके पीछे स्थैतिक सुरक्षा के लिए मिलिशिया फोर्स को लगाया जाता है—ने फ्रांसीसी सेना के मनोबल को घुन की तरह नष्ट कर दिया। धीरे-धीरे आक्रामक या प्रति-आक्रामक कार्रवाई की सभी योजनाएं छोड़ कर बहुपक्षीय सुरक्षात्मक सिद्धांत अपना लिया गया।

यदि फ्रांस में पराजय के कारण निराशा का जन्म हुआ तो ब्रिटेन में शांति और सुरक्षा के भ्रम ने सैनिक बेतैयारी की दीर्घकालीन स्थिति पैदा की। '10 वर्ष तक कोई युद्ध नहीं' और "हमारे युग में शांति" के नारों में उनका विश्वास इतना गहरा था कि सेना को 1906–पूर्व के काडवेल प्रणाली की सीमा तक भंग कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि 1914–18 के दौरान हुई विशाल जन-हानि और अर्थव्यवस्था के अभूतपूर्व रूप में छिन्न-भिन्न हो जाने का राष्ट्र पर ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा कि वह चौथे दशक के दौरान यूरोप पर छाए युद्ध-पूर्व के बादलों की वास्तविकता का सामना करने में अनिच्छुक रहे। सेना के भीतर भी कुछ सीमा तक निष्क्रियता और अट्टरता आ गई थी। इसलिए प्रगतिशील तत्वों के लिए नए शस्त्रों और युद्ध के नए तरीकों का विकास करना कठिन हो गया।

जब हिटलर ने पश्चिम में पहली कार्रवाइयां शुरू कर दीं—अर्थात् राइनलैंड पर कब्जा और लोकार्नो संधि की अवहेलना—तब पुनः शस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाया गया, यद्यपि यह केवल रायल नौ सेना के लिए पुराने ढंग के लड़ाकू जहाजों का निर्माण करना ही था। अंततः म्यूनिख में राजनयिक बातचीत के असफल हो जाने पर 1939 में इस उद्देश्य से अनिवार्य सीमित भर्ती पुनः लागू की गई ताकि प्रादेशिक सेना की केवल दो और डिवीजनें तैयार की जाएं जिससे घरेलू संगठन में 6 डिवीजनें हो सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि जब सितम्बर, 1939 में फ्रांस में अभियानी दल गए तो उसमें ब्रिटेन का कुल योगदान पैदल

सेना को केवल चार डिवीजनें थी और इनमें भी अधिकांशत: रिजर्व सैनिक थे जिन्हें आधुनिक सामरिकी या शस्त्रास्त्रों का प्रशिक्षण नहीं दिया गया था या बहुत कम दिया गया था। इस छद्मयुद्ध की अवधि के बाद मई 1940 तक भी युद्ध क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा 13 डिवीजनें ही उतारी जा सकीं।

हिटलर का योगदान

जनतंत्रों में इस बेतैयारी, सुरक्षात्मक रवैये और उत्साहहीनता की अवस्था से एकदम विपरीत जर्मनी में पुरानी शाही सेना के अवशेष से जर्मन सेना को पुनर्जीवित करने के जोरदार प्रयत्न किए जा रहे थे। यह प्रक्रिया हिटलर के सत्ता में आने से बहुत पहले से ही गुप्त रूप से और उसके चुने हुए सख्त प्रशियाई व्यावसायिकों द्वारा शुरू कर दी गई थी लेकिन यह हिटलर का जोश भी था जो जर्मनों को स्त्रातेजिक महत्वाकांक्षा के लिए प्रमुख प्रेरणा स्रोत बना।

युद्ध के परवर्ती चरणों के दौरान उसके संचालन में हिटलर द्वारा की गई भारी भूलों के लिए चाहे कुछ भी कहा जाए परन्तु पहले की सफलताओं का श्रेय अधिकांशत: उसी को मिलना चाहिए। एक ऐसे सैनिक तंत्र का निर्माण करने के लिए, जो उसके राजनीतिक उद्देश्यों को प्रभावी ढंग से पूरा कर सके, हिटलर के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक था कि जर्मन सैनिक स्त्रातेजी, जो अभी भी निश्चित रूप से रूढ़िवादी वर्ग के अधिकारियों द्वारा बनाई जाती थी, उसी साहस, जोश और उग्र सुधारवाद से ओतप्रोत हो जाए जो उसकी राजनीतिक स्त्रातेजी की विशेषताएं थीं। उसने राजनीतिक दबाव का सहारा लेते हुए धीरे-धीरे उन वरिष्ठ जनरलों पर मनोवैज्ञानिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया जिनकी व्यावसायिक विशेषज्ञता के बिना वह उन सामरिक और संभारिकी के कार्यों को पूरा नहीं कर सकता था जो उसकी स्त्रातेजिक नीति से उत्पन्न होंगे। उसने न केवल वैर्माखट को एक दुर्जेय सैनिकतंत्र बना दिया बल्कि शस्त्रों, सामरिकी और सैनिक स्त्रातेजी की नई संकल्पनाओं का विकास भी किया। मशीनीकरण और चल युद्ध पद्धति में नए विचारों को बढ़ावा देने के कारण हिटलर ने ब्लिट्जक्रीग की उन तकनीकों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया जो पोलैंड और फ्रांस के विरुद्ध बहुत अधिक सफल रही थीं।

संक्षिप्त सर्वेक्षण

इससे पहले कि हम न्यूक्लीय पूर्व युग के स्त्रातेजिक इतिहास के अपने अध्ययन को समाप्त करें, यह समीचीन होगा कि संक्रिया संचालन के प्रति उन विभिन्न

अभिनयों और अभिवृत्तियों की तुलना कर ली जाए जो विभिन्न संक्रिया क्षेत्रों या द्वितीय विश्वयुद्ध के विभिन्न विरोधी पक्षों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती थीं। इस प्रकार हम ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उभर कर आने वाले स्त्रातेजी के तथाकथित "वादों" या "परंपराओं" के लाभ और हानियों का आकलन कर सकेंगे। हालांकि इस बात की संभावना नहीं है कि हम भविष्य में इतने बड़े पैमाने पर परंपरागत युद्ध देखेंगे, लेकिन फिर भी यह जरूरी है कि भूतकाल की शिक्षाओं और अनुभवों को रिकार्ड कर लिया जाए क्योंकि न्यूक्लीय महत्व के समसामयिक विश्व पर उन युद्धों की अनिष्ट सूचक परछाइयां पहले से ही छाई रही हैं।

19वीं शताब्दी के स्त्रातेजिक इतिहास के अध्ययन के दौरान हमने देखा कि उस युग में यूरोप में मौजूद राजनीतिक और सैनिक परिस्थितियों के तार्किक विकास के रूप में महान स्त्रातेजों को नेपोलियनीय संकल्पना का क्रमिक आविर्भाव हुआ था। ऐतिहासिक प्रक्रिया से केवल एक ही प्रकार की स्त्रातेजी का आविर्भाव हुआ, यह मान लेना स्थिति का अत्यधिक सरलीकरण माना जाएगा। इसके विपरीत, जब किसी देश या प्रदेश में अत्यधिक भिन्न सामाजिक, आर्थिक या भौगोलिक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएं तो लोगों की प्रतिभा स्त्रातेजी संबंधी विशेष तरीके विकसित कर लेती है जो स्त्रातेजी की विशिष्ट परंपराओं के रूप में विकसित हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए रूस में, जहां स्त्रातेजी की आवश्यकताओं में यूरेशिया के विस्तृत प्रदेश की विशिष्ट प्रकृति —विस्तृत भूभाग, विशाल दूरी, अपेक्षाकृत कम विकसित संचार व्यवस्था और अपार जनशक्ति—भी शामिल है, वहां परंपरागत स्त्रातेजी जिन अभिवृत्तियों और स्वरूपों में दिखाई पड़ती है वह नेपोलियाई या महाद्वीपीय प्रकार की अभिव्यक्तियों से एकदम भिन्न है।

एक और प्रकार की परिस्थितियों को उदाहरणस्वरूप लें तो हम देखेंगे कि ब्रिटिश, जो समुद्री अनुभव की परंपरा से पोषित और विश्वव्यापी साम्राज्य की विरासत से प्रतिबद्ध थे और जो जनशक्ति और घरेलू साधनों की कमी से ग्रस्त थे उन्होंने अपनी स्त्रातेजी का विकास प्रयासों की मितव्ययिता के रूप में किया जो शक्ति और साधनों के सामयिक उलझन और पूरक टार्गेट के बीच सावधानीपूर्वक व्यापक आबंटन द्वारा सबसे अच्छी तरह प्राप्त किया जा सका। ये लक्ष्य स्त्रातेजिक धारणा की परंपराओं के "महाद्वीपीय" या "बहाबू और गहराई" के के विपरीत "द्वीपीय" और "समुद्रीय" थे।

लेकिन 1943 के शरद् काल में अमरीका द्वारा बड़े पैमाने पर भाग लिए जाने के बाद इस प्रकार की स्त्रातेजी का अमरीकी संकल्पना की प्रेरणाओं के साथ अनिवार्य रूप से संघर्ष हुआ। अपने अद्वितीय भौतिक साधनों से आश्वस्त और संस्था की दृष्टि से अपने से श्रेष्ठ शत्रु के विरुद्ध कभी लंबे युद्ध न लड़ने के कारण संयुक्त राज्य चर्चिल वक्र मार्ग पर निर्भर रहने को कभी भी पूरी तरह समझ नहीं सकते थे। उनका स्त्रातेजिक मार्ग अधिक सीधा-अर्थात् एकमात्र सैनिक टार्गेट चुन लेना और सभी संभावित साधनों को सामरिक निर्भीकता के साथ लगा देना था ताकि कार्य में अत्यधिक श्रेष्ठता प्राप्त की जा सके। ब्रिटिश परंपरा से भिन्न, जिसके अनुसार साधनों की उपलब्धता के संबंध में उनकी सशंकता के कारण टार्गेट का चुनाव सदा ही लचीला रहना चाहिए अमरीकी दृष्टिकोण ने इसे आधारभूत रूप में स्वीकार कर लिया कि जो कार्य हाथ में है उसके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाएंगे—और इसलिए स्वीकृत प्लान से किसी भी प्रकार के परिवर्तन को शक की नजर से देखा।

यह नहीं कहा जा सकता कि एक प्रकार का स्त्रातेजिक रूप सही है और दूसरा गलत। इस प्रकार युद्ध प्रारंभ करने को सुस्पष्ट शब्दों में कभी नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से भिन्न-भिन्न परंपराएं उभर कर आती हैं और प्रत्येक का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण और एक विशेष सैनिक समस्या का अपना एक हल होता है जो उपलब्ध भौतिक साधनों, भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों, मानव शक्ति की स्थिति और अन्य ऐसे घटकों पर आधारित होता है।

जब किसी एक प्रकार की स्त्रातेजिक अभिवृत्ति को उसके संदर्भ में उपयोग न करके किसी ऐसी स्थिति में उपयोग किया जाता है जहां परिस्थितियां किसी अन्य प्रकार के स्त्रातेजिक दृष्टिकोण या समाधान की मांग करती है, तब कठिनाई पैदा होती है।

स्त्रातेजिक दृष्टिकोण की तीन मुख्य परंपराओं, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की स्त्रातेजिक विचारधारा दूसरे विश्व युद्ध के कारण उभर कर आई—इस स्त्रातेजी में हवाई शक्ति प्रमुख घटक था।

वास्तव में "हवाई-स्त्रातेजी" ने अपनी विकास प्रक्रिया के दौरान एक लगभग गलत मोड़ ले लिया। हवाई शक्ति के पूर्ववर्ती समर्थक इतालवी जनरल दएज संयुक्त राज्य सेना वायुसेना के जनरल मिदौल और ब्रिटेन के लार्ड ट्रनकार्ड बाम्बर

की अजेयता और उनकी निर्णायक भूमिका के संबंध में इतने अधिक आश्वस्त थे कि वे पश्चिमी कैम्प में स्वतंत्र हवाई स्त्रातेजी की संकल्पना को प्रतिष्ठित करने में लगभग सफल हो गए—इस सिद्धांत का सारांश यह था कि निर्णायक विनाशकारी शक्ति ने वायुसेना को प्रबल सेनांग बना दिया है और भविष्य में युद्धों का निर्णय मुख्यतः हवाई बम्बारी के आधार पर होगा जिसमें जर्मनी सेनाएं केवल सहायक की भूमिका निभाएंगी। जर्मन और रूसी लोगों ने इस नए सेनांग की स्त्रातेजिक और सामरिक संभावनाओं को अधिक अच्छी तरह से समझ लिया था अतः उन्होंने सामान्य स्त्रातेजिक उद्देश्य के लिए जमीनी और वायु सेनाओं को एक प्रभावी सामरिक टीक के रूप में नियोजित करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया लेकिन इसके विपरित द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान पश्चिमी राजनेता अक्सर वायुसेनांग को अलग-अलग स्त्रातेजिक आयामों में नियोजित करने की सोचते थे। सौभाग्यवश उन्हें जल्दी समझ आ गई। इसका मुख्य कारण यह था कि उप सर्वोच्च कमांडर स्वयं एक वायु सैनिक था। एयर चीफ मार्शल टेडर और वायु कमान और स्त्रातेजी के विस्तृत अनुभव पर आधारित उसके विचार अधिक संतुलित और विषयपरक थे। और यह एक विरोधाभास ही है कि उन स्त्रातेजिक परिस्थितियों को खोज निकालने का कार्य भी एक सिपाही पर ही छोड़ दिया गया जिनमें वायु सेना सीनियर सहभागी हो सकती थी।

स्त्रातेजिक नीति के निर्माण में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी परिस्थितियां होती हैं जिनमें एक या कोई अन्य सेनांग प्रमुख भूमिका निभा सकता है। कुछ खास प्रकार की संक्रियाओं जैसे उदाहरण के लिए युद्ध पद्धति की यूरोपीय परंपरा में जमीनी सेनाएं यह तत्व होता है जिसके चारों ओर यह नीति बनाई जाती हैं। ब्रिटिश इतिहास से हमें पता लगता है कि नौसेना की श्रेष्ठता पर आधारित समुद्रीय स्त्रातेजी वहां महत्वपूर्ण थी और जमीनी सेनाओं ने गौण हालांकि अनिवार्य भूमिका निभाई थी। इसी प्रकार ऐसी परिस्थितियां भी थीं जब आसन्न स्त्रातेजी में वायुसेना ने मुख्य भूमिका अदा की। इसका एक बढ़िया उदाहरण दूसरे विश्व युद्ध में प्रशांत महासागर संक्रिया क्षेत्र में देखा जा सकता था जिसने विमानवाहकों पर आधारित युद्धपद्धति के एक नए युग को जन्म दिया।

प्रशान्त महासागर क्षेत्र में जिन भौगोलिक परिस्थितियों का जनरल मैक आर्थर को सामना करना पड़ा उसके फलस्वरूप वायुसेना पर आधारित द्वीप उड़ान स्त्रातेजी की उसकी संकल्पना का जन्म हुआ। यह एक विशिष्ट प्रकार की समुद्री स्त्रातेजी थी। हालांकि उसने वायुसेना की महत्वपूर्ण भूमिका को

स्पष्ट रूप से समझ लिया था, लेकिन फिर भी उसने इस बात पर जोर दिया कि उसकी सफलताओं का मुख्य कारण जमीनी, समुद्री और वायु सेनाओं का परस्पर सहयोग है। उसने उसे एक नए प्रकार का आन्दोलन कहा है। त्रि-आयामी युद्धपति-जल, थल, वायुसेना संबंधी संकल्पना।

उपसंहार

इस अध्याय में स्त्रातेजी के इन विभिन्न मतों के आविर्भाव का उल्लेख इसलिए किया गया है क्योंकि न्यूक्लीय और सम्पूर्ण नीतियों के मौजूदा युग में भी पुरानी परंपरावादी संकल्पनाओं का अपना महत्व है। उदाहरण के लिए, परमाणु युग के प्रारंभिक वर्षों में, जब लंबी परास के बमबार ही आण्विक स्फोटक शीर्ष के लिए एकमात्र वाहन थे, तब संयुक्त राज्य अमरीका के वायु सामंतों ने स्वतंत्र वायु-स्त्रातेजी "और निर्णायक वायुसेना" के अपने सिद्धांतों को पुनः स्थापित करने के लिए जोरदार प्रयत्न किए—इन सभी सिद्धांतों को मिसाइलों के इस युग में पुनः समायोजित करना पड़ा।

मनोवज्ञानिक युद्धपद्धति

—र० न० स्वरूप

मनोवैज्ञानिक युद्ध की धारणा का जन्म मानव सभ्यता के साथ हुआ। आदि-मानव इतिहास में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो युद्ध में मनोविज्ञान के निरंतर उपयोग पर प्रकाश डालते हैं यथा—महाभारत में "अश्वत्थामा हठ" जिसमें द्रोणाचार्य ने अपने शस्त्रों को त्याग कर पाण्डवों द्वारा अपनी मृत्यु स्वीकार की थी या कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित "शत्रु के मनोबल को नष्ट करने के सिद्धांत" या "सुनजू की सैन्य स्त्रातेजी" पर पुस्तकें जो युद्ध में पताकाओं, ध्वजाओं, संकेत दीपों, मृदंगों आदि के महत्व पर प्रकाश डालती हैं।

प्राचीनकाल में कपाल विज्ञान, मुखलक्षण-निरूपण, लिपि एवं आकृति विज्ञान, ज्योतिष विद्या एवं हस्तरेखा शास्त्र आदि अनेक विधियों द्वारा मनोविज्ञान का प्रयोग किया गया। इसके साथ-साथ मनोविज्ञानिक युद्ध की धारणा का स्वरूप भी व्यापक, विस्तृत एवं जटिलतम होता गया और यही कारण है कि आज अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में इस धारणा की परिभाषा पर मतैक्य नहीं है। भारतीय, अमरीकी तथा अन्य पश्चिमी देशों के विचारकों के अनुसार मनोवैज्ञानिक युद्ध का अर्थ "मनोबल-क्रियाओं" अर्थात् युद्ध के सफल संचालन मनोविज्ञान के प्रयोग, विशेष रूप से शत्रु के मनोबल को नष्ट करने से है। नाजी विचारकों के अनुसार इसका अर्थ ज्ञात मनोवैज्ञानिक स्तरों पर सैन्य एवं राजनीतिक रणनीति तैयार करना, एवं उसको कार्यान्वित करना है। क्लाजविट विचारधारा के अनुयायी—सोवियत संघ एवं अन्य साम्यवादी राष्ट्रों में, जहां प्रत्येक युद्ध राजनीतिक है, इस धारणा को 'प्रचार' की संज्ञा दी गयी है। जर्मन सैन्य वार्तालापों में मनोवैज्ञानिक युद्ध "गैसटिज क्रिगफ्युशरंग" या "बौद्धिक युद्ध" के नाम से जाना जाता है अर्थात् इस प्रकार का युद्ध बौद्धिक क्षेत्र में विचारों का संघर्ष है। ब्रिटेन तथा बर्तानवी विचारधारा वाले अन्य राष्ट्रों में इस धारणा को "राजनीतिकयुद्ध' कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक युद्ध की धारणा का महत्व, विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अत्यधिक बढ़ गया है। महत्व की दृष्टि से समस्त सामाजिक वैज्ञानिक धारणा के व्यापक स्वरूप को "मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं" की संज्ञा देने में सैन्य मनोवैज्ञानिकों सहित सभी लोगों का लगभग एक मत है।

सीमित रूप में मनोवैज्ञानिक युद्ध का उद्देश्य बिना सैन्यबल प्रयोग किए सैन्य उपलब्धियां प्राप्त करना है। यद्यपि इस उद्देश्य का समावेश न तो युद्ध की परिचित धारणा में है और न ही वह युद्ध के सिद्धांतों से निर्देशित एवं नियंत्रित होता है। वास्तव में मनोवैज्ञानिक युद्ध एक सतत प्रक्रिया है जो शीघ्रतम राष्ट्रीय विजय में उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में मनोवैज्ञानिक युद्ध का अर्थ युद्ध संचालन में मानव के प्रत्येक प्रयत्न के उपयोग एवं मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों के प्रयोग से है। कुछ सामाजिक-वैज्ञानिकों के अनुसार मनोवैज्ञानिक युद्ध का अर्थ "शत्रु के विरूद्ध प्रचार में राजनीतिक, आर्थिक एवं सैन्य आदि क्रियात्मक मानदंडों के प्रयोग से है।" यद्यपि मनोवैज्ञानिक युद्ध की विभिन्न परिभाषाएं हैं तथापि उसकी व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, "विभिन्न प्रभावात्मक विधियों द्वारा जनसमूह विशेष के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विश्वासों, अभिवृत्तियों एवं विचारों में इस प्रकार परिवर्तन अथवा परिमार्जन करना ताकि उस जनसमूह-विशेष की शक्ति राष्ट्रीय उद्देश्य तथा राष्ट्रीय नीतियों की सफलता अथवा असफलता में केंद्रित हो सके।"

सैद्धांतिक प्रक्रिया

व्यक्ति के व्यवहार का निर्धारण मुख्य रूप से उसके विश्वासों, अभिवृत्तियों, आवश्यकताओं, उद्देश्यों एवं मान्यताओं के अतिरिक्त उसके अपने संज्ञानात्मक एवं अभिप्रेरणात्मक संरचनाओं के क्षणिक नियंत्रण पर आधारित होता है तथा उसका निर्देशन उसके अपने भौतिक पर्यावरण के प्रत्यक्षीकरण से होता है। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति की भूमिका स्वरूप अथवा विभिन्न विकल्पों का चयन उपस्थित तथ्यों के, उसके व्यक्तिगत प्रत्यक्षीकरण (मनोवैज्ञानिक पर्यावरण) से प्रभावित होता है। इस मनोवैज्ञानिक पर्यावरण के वर्ण्य विषय तथा उसके विभिन्न तत्वों के पारस्परिक संबंध को व्यक्ति की "संज्ञानात्मक संरचना" कहा जाता है जो शैशव के प्रारंभिक चरणों के पश्चात् तुलनात्मक स्थिरता प्राप्त कर लेती है तथा जिसका प्रयोग व्यक्ति अपने पर्यावरण से समायोजन स्थापित करने में करता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का व्यवहार उसकी "संज्ञानात्मक संरचना" के स्वरूप का फलन है अर्थात् व्यवहार में परिवर्तन संज्ञानात्मक संरचना के रूपांतर से संभव है।

बाह्य कारक द्वारा व्यवहार के प्रेरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण यह प्रदर्शित करता है कि व्यवहार में परिवर्तन के प्रयत्न में व्यक्ति में जटिल एवं परस्पर संबंधित मानसिक प्रक्रियाओं की एक शृंखला प्रारंभ हो जाती है।

मोटेतौर पर इस आंतरिक प्रक्रिया को "विशेष प्रकार की संज्ञानात्मक, अभिप्रेरक एवं व्यवहारात्मक संरचना का सृजन" कहते हैं। व्यक्ति के व्यवहार के परिवर्तन में इस आंतरिक प्रक्रिया की सफलता जनसंचार के निम्नलिखित मूल सिद्धांतों पर आधारित होती है :

(क) आवश्यक "संदेश" अर्थात् सूचनाएं, तथ्य, आंकड़े आदि लक्ष्य जन-समुदाय को ज्ञानेंद्रियों तक पहुंचे।

सिद्धांत प्रत्यक्ष रूप में सरल प्रतीत होता है किंतु इसका व्यावहारिक महत्व होता है जो साधारणतः उपेक्षित रहता है। विभिन्न कारणों से, जनसमुदाय के सदस्य संचार माध्यमों का चयन करते हैं अतः निश्चित समय में निश्चित "संदेश" लक्ष्य-जनसमुदाय को उत्तेजित कर सकेगा, इसका आश्वासन नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जन-समुदाय की साधारण विशेषताएं उद्दीपक संदेश को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने में अपना प्रभाव रखती हैं।

(ख) "संदेश" ज्ञानेंद्रियों तक पहुंचने पर व्यक्ति के संज्ञानात्मक संरचना के एक अंग के रूप में स्वीकार होना चाहिए।

(ग) जन-प्रत्यायन द्वारा प्रेरित कार्य विशेष, व्यक्ति की निहित आवश्यकताओं अथवा उद्देश्यों से सामंजस्य रखता हो।

(घ) नियत समय पर कार्य विशेष के लिए व्यक्ति के उपयुक्त संज्ञानात्मक एवं अभिप्रेरक तंत्र का, व्यवहार पर क्षणिक नियंत्रण होना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक युद्ध की व्यावहारिक प्रक्रिया

मनोवैज्ञानिक युद्ध की व्यावहारिक प्रक्रिया मुख्यतः राष्ट्रीय स्तर पर एक सामूहिक प्रयत्न है। यह प्रक्रिया राष्ट्र की सर्वोच्च नीति-निर्धारण संस्था द्वारा तैयार की जाती है। उक्त केंद्रीय निर्देशक संस्था, जिसका स्वरूप राज्य के राजनीतिक ढांचे पर निर्भर होता है, अपनी नीतियां कार्यान्वयन के लिए समान स्तरीय संस्थाओं को देती है। प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में इस केंद्रीय निर्देशक संस्था में विदेश, गृह, रक्षा, सूचना एवं प्रसारण विभागों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त वे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, समाजवैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक आदि बुद्धिजीवी भी सम्मिलित किये जाते हैं जिनको समाज विशेष के विश्वासों, अभिवृत्तियों, मान्यताओं एवं व्यवहार का समुचित ज्ञान हो। उक्त समानस्तरीय संस्थाएं व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों के अनुसार राष्ट्रीय नीतियों का विभाजन करती हैं और फिर उन्हें विभिन्न

विभागों को, उनकी क्षमता एवं साधनों के आधार पर, कार्यान्वयन के लिए सौंप देती हैं। अंत में विभिन्न संस्थाएं एवं प्रचारक राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रसारण माध्यमों एवं उपयुक्त प्रकरणों का चयन करते हैं।

प्रचार संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लक्ष्य-जनसमुदाय के दृढ़ विश्वास पर विजय प्राप्त करना होता है जो उसकी विश्वसनीयता प्राप्त करने से संभव होता है। विश्वसनीयता पैदा करने में "सत्य" आवश्यक है लेकिन "सत्य" सदैव विश्वसनीय हो, यह भी संभव नहीं है। अतः लक्ष्य जनसमुदाय की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं में तारतम्य स्थापित करने के लिए "सत्य" का स्थान "आंकड़े" ले लेते हैं। जैसा कि 1971 के 14 दिवसीय भारत-पाक संघर्ष में भारतीय सशस्त्र सेनाओं ने पाक सेना द्वारा किए गए "आत्मसमर्पण का प्रसारण" किया था। आवश्यक जानकारी मिलने पर ही आवश्यक विश्वसनीयता उत्पन्न की जा सकती है। जानकारी इस प्रकार की हो सकती है :—

(क) लक्ष्य-राष्ट्र के हितों, स्वार्थों, उसकी युद्ध विधियों, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता, ऐतिहासिक सभ्यता, साधनों एवं उपकरणों के स्रोत तथा सशस्त्र सेनाओं की संख्या एवं कुशलता आदि की अद्यतन जानकारी;

(ख) लक्ष्य-राष्ट्र के मित्र राष्ट्रों के हितों और उनकी नीतियों तथा सुरक्षा क्षमता का ज्ञान जिसका प्रयोग किसी भावी सैनिक अथवा असैनिक संधि करने में बाधा उत्पन्न करने के लिए किया जा सके, और

(ग) लक्ष्य-राष्ट्र के सैन्य एवं राजनीतिक अधिकारियों की कमी एवं ग्रहणशीलता के अतिरिक्त उस राष्ट्र की जातीय, धार्मिक एवं राजनीतिक विशेषताओं व उनके संचारस्वरूप का संपूर्ण ज्ञान।

सैन्य प्रचार, युद्ध जनश्रुति (अफवाह) तथा मानस विवर्तन मनोवैज्ञानिक युद्ध के तीन मुख्य साधन हैं।

सैन्य प्रचार

साधारणतया विभिन्न प्रभावात्मक विधियों द्वारा लक्ष्य-जनसमूह के विश्वासों, अभिवृत्तियों एवं विचारों में परिवर्तन करना प्रचार कहलाता है। "प्रोपेगेंडा" शब्द (जिसका हिंदी पर्याय "प्रचार" है) की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के "प्रोपेगेयर" शब्द से हुई है जिसका अर्थ किसी कृत्रिम वातावरण में पौधों को, वांछित ढंग से

वृद्धि करना है । रोमन कैथेलिक लोगों ने इस शब्द का प्रयोग धर्म परिवर्तन प्रक्रिया के अर्थ में किया । कालांतर में इस शब्द का प्रयोग प्रभावात्मक विधियों द्वारा व्यक्ति के मतों एवं विचारों में परिवर्तन लाने के अर्थ में होने लगा । व्यापक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि प्रभावात्मक विधियों तथा अन्य प्रतीकात्मक प्रविधियों द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्तियों और अंततोगत्वा उसके कार्यों में परिवर्तन करने को प्रचार कहते हैं । लेकिन संकुचित रूप में सैन्य-प्रचार का अर्थ योजनाबद्ध रूप में जन-संचार के माध्यम विशेष से शत्रु, मित्र एवं तटस्थ राष्ट्रों तथा अनुकूल विदेशी जन-समुदाय की भावनाओं एवं विचारों को किसी विशेष युद्धनीतिक अथवा सामरिक उद्देश्य के लिए प्रभावित करना है ।

उद्देश्य

शांतिकाल में "प्रचार" का राष्ट्रीय उद्देश्य क्या होता है, संभवतः यह संक्षेप में बताना कठिन है क्योंकि उसका शांतिकाल में "प्रचार" मुख्यरूप से राष्ट्र की गतिविधियों के बारे में किया जाता है । किन्तु युद्धकाल में सैन्य प्रचार के उद्देश्य संभवतः निम्नलिखित हो सकते हैं :

(क) शत्रुराष्ट्र तथा विशेष रूप से उसकी सशस्त्र सेनाओं के मनोबल को योजनाबद्ध ढंग से गिराने का प्रयास करना ताकि युद्ध के प्रत्येक चरण में शत्रु सैनिकों तथा शत्रु जनता को यह विश्वास हो जाए कि युद्ध में उनकी पराजय निश्चित है ;

(ख) अपने एवं मित्र राष्ट्र की जनता तथा सशस्त्र सेनाओं के मनोबल को बढ़ाना ताकि वे युद्ध संचालन में भलीभांति सहयोग कर सकें और युद्ध के लिए अधिकतम सामग्री जुटा सकें तथा युद्ध के परिणाम के प्रति अंतिम क्षण तक आशावादी बने रहें ।

(ग) अपने राष्ट्रीय उद्देश्य की सफलता के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना ताकि आवश्यकता पड़ने पर मैत्री संधि के माध्यम से अधिकतम सहायता उपलब्ध की जा सके; और

(घ) शत्रु के साथ की जाने वाली एवं कार्यकारी सभी सैनिक अथवा असैनिक संधियों को तोड़ना और यदि संभव हो तो पूर्ण रूप से समाप्त करना ।

प्रभाविता एवं प्रकार

प्रचार, सैनिक अथवा असैनिक जनमत को शीघ्रता से प्रभावित करता है, बशर्ते कि :

(क) परिस्थिति इतनी भ्रामक हो कि परंपरागत धारणाएं जन-प्रतिक्रियाओं को प्रभावित न कर सकें;

(ख) दीर्घकालीन संकटावस्था के परिणामस्वरूप परंपरागत मानवीय मूल्यों का ह्रास हो चुका हो;

(ग) प्रचार दमित संवर्गों को अभिव्यक्ति प्रदान करता हो ;

(घ) भ्रामक परिस्थितियों का सरल एवं साधारण हल प्रस्तुत करता हो; और

(ङ) जनसमूह के शक्तिशाली प्रेरकों को संतुष्ट कर सकता हो ।

प्रचार का वर्गीकरण

अनेक दृष्टिकोणों एवं वर्गीकरणों के आधार पर सैन्य मनोवैज्ञानिक, सैन्य प्रचार के निम्नलिखित वर्गीकरण के विषय में लगभग सहमत हैं :—

रणनीति प्रचार

(क) राष्ट्रीय स्त्रातेजीक :—योजना के संदर्भ में इस का प्रचार करने का उत्तरदायित्व उच्चतम राष्ट्रीय सुरक्षा संगठन पर होता है । यह प्रचार मुख्य रूप से शत्रु जनता, उसकी सशस्त्र सेनाओं तथा उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले राष्ट्रों अथवा विदेशी जन-समुदाय के विरुद्ध किया जाता है । ऐसे प्रचार से यह आशा नहीं की जाती है कि इसका कोई तात्कालिक प्रभाव होगा । यदि निम्नलिखित कुछ परिस्थितियों का लाभ उठाया जाए तो वे रणनीति प्रचार की सफलता में सहयोगी सिद्ध होती है :—

(1) खाद्य-सामग्री एवं रसद की अल्पता एवं अपर्याप्तता,

(2) आंतरिक मतभेद, राजनीतिक विघटन, विपत्ति तथा उलट-पलट,

(3) युद्ध के क्षेत्र विशेष में पराजय,

(4) शत्रु की आर्थिक विषमताएं,

(5) दो अमित्र राष्ट्रों के मध्य अथवा एक मित्र एवं एक अमित्र राष्ट्र के मध्य राजनीतिक विवाद ।

(ख) सामरिक प्रचार :—रणनीति प्रचार से भिन्न सामरिक प्रचार का उद्देश्य जिसका संचालन क्षेत्रीय सैन्य संगठन करता है, राष्ट्रीय सुरक्षा नीति के परिप्रेक्ष्य में युद्ध के क्षेत्र विशेष में तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करता है । यह प्रचार क्षेत्रीय सैन्य संगठन द्वारा मुख्य रूप से उस क्षेत्र विशेष में कार्यरत सैनिकों अथवा असैनिकों के विषय में किया जाता है । उदाहरणार्थ 1971 के 14 दिवसीय

भारत-पाक संघर्ष में भारतीय सेना ने शत्रु सेना द्वारा किए गए आत्मसमर्पण का प्रचार किया था । यदि कुछ विशेष परिस्थितियों का लाभ उठाया जाए तो सामरिक प्रचार की प्रभावशीलता और भी बढ़ जाती है । विशेष परिस्थितियां हो सकती हैं यथा, हताहत शत्रु सैनिकों की विशाल संख्या एवं उनकी प्रक्षेपण विधि, युद्ध के अन्य क्षेत्रों में पराजय, युद्ध सामग्री, शस्त्रों एवं आयुधों की कमी और शत्रु जनता एवं उनके मित्र जन-समुदाय का मनोबल ।

(ग) **दृढ़ीकरण प्रचार** :—संचार लाइनों की सुरक्षा, शरणार्थियों का नियंत्रण तथा जनता का आतंक-निवारण आदि इस प्रचार के मुख्य उद्देश्य होते हैं। ऐसा प्रचार युद्ध-परिस्थितियों के संदर्भ में क्षेत्रीय सैनिक अधिकारी द्वारा किया जाता है ।

विधियां

(क) **स्थानांतरण** :—असंगत किंतु प्रभावशाली विचारों को अपने कथन से संबद्ध करना, स्थानांतरण धारणा का मुख्य उद्देश्य है । वास्तव में "साहचर्य का सिद्धांत" इस विधि का आधार है जिसके अनुसार, जब एक ही स्थान पर और एक ही समय में कई प्रकार की अनुभूतियां होती हैं तब उनमें से किसी एक के उभरने पर अन्य संबद्ध अनुभूतियों का स्मरण हो आता है । अतः सैन्य प्रचारक लक्ष्य-समुदाय के प्रिय विचारों का सहारा लेकर उसके अप्रिय विचार प्रभावी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है ।

(ख) **रोचक सामान्य धारणाएं** :—इस विधि की प्रभावशीलता मुख्य रूप से स्थानांतरण के सिद्धांत पर आधारित होती है । प्रचारक इस विधि में अपना प्रचार सुस्थापित मान्यताओं यथा, समानता, स्वतंत्रता, तथा विश्व-बंधुत्व आदि से प्रारंभ करता है और कोई ऐसा सुझाव विशेष देकर उसकी समष्टि करता है जो प्रत्यक्ष रूप में किसी रोचक मान्यता से संबद्ध होता है ।

(ग) **लोकरीति** :—किसी जन-समुदाय की लोकरीतियां उसके विश्वासों, मूल्यों एवं मान्यताओं की झलक होती हैं । अतः इस विधि के अनुसार जो लगभग स्थानांतरण के सिद्धांत पर आधारित है, समुदाय का विशेष के अनुरूप प्रचार किया जाता है । किंतु यदि प्रचार सामग्री एवं प्रचलित लोकरीति के मूल्यों में सामंजस्य न हुआ तो यह विधि घातक सिद्ध हो सकती है ।

(घ) **प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र** : —प्रचार की सत्यता प्रमाणित करने हेतु विश्व के प्रसिद्ध व्यक्तियों, महापुरुषों तथा सैन्य एवं राजनीतिक कर्णधारों के

विचार व्यक्त करना प्रशंसात्मक प्रमाण-पत्र विधि कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में किसी न किसी व्यक्ति के आदर्शों एवं सिद्धांतों की छाप अवश्य होती है चाहे वह व्यक्ति उसी पीढ़ी का हो या अन्य किसी पीढ़ी का। प्रशंसात्मक प्रमाण-पत्र को इस विधि में इसी अनुभव का प्रयोग जन-समुदाय के संदर्भ में किया जाता है।

(ङ) **एकांगी प्रचार** :—हिटलर का कथन था, जितना बड़ा असत्य होगा, उतनी शीघ्रता से स्वीकार किया जाएगा। प्रचार की यह विधि हिटलर के उक्त कथन पर लगभग आधारित है। जन-समुदाय की सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर तथा एकांगी एवं मिथ्या आंकड़ों का प्रचार करना इस विधि का उद्देश्य होता है। एकांगी प्रचार की सामग्री में लचक एवं गतिशीलता दोनों विद्यमान रहती हैं। सैन्य प्रचार की यह विधि प्रभावकारी एवं घातक दोनों सिद्ध हो सकती है।

(च) **सर्वसम्मति का प्रभाव** :—प्रचार की इस विधि में व्यक्ति के समायोजन की सुरक्षा-प्रक्रियाएं सम्मिलित रूप से कार्य करती हैं। प्रचारक का आधार "बहुमत सुझाव" होता है और उसका प्रयत्न प्रचार के पक्ष में बहुमत का प्रदर्शन है।

(छ) **नारे एवं नामकरण** :—व्यापारिक आकर्षक वाक्यांशों से सैन्य प्रचार के नारे एवं नामकरणों का स्वरूप एकदम भिन्न है। ऐसे आदेश-सूचक वाक्यांश जिनमें संक्षिप्तता, सामयिकता एवं लचक हो और जो समुदाय विशेष की आवश्यकताओं के एकदम अनुरूप हों, प्रचार की विधि में सहायक सिद्ध होते हैं। "जय जवान, जय किसान" "वी फोर विक्टरी", "सैलूट दी सोल्जर" आदि इस विधि के उदाहरण हैं।

(ज) **सैन्य प्रचार के माध्यम** :—सैन्य प्रचार माध्यम का चयन साधारणतः जनसमुदाय से उसकी समीपता, पहुंच एवं नियमितता पर आधारित होता है। प्रचार के सुपरिचित माध्यम इस प्रकार हैं :—

(क) **रेडियो** :—यह प्रचार का सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। इसका विस्तार राष्ट्र के दूरवर्ती इलाके तक होता है तथा जन-संचार की क्षमता रखता है। युद्ध की अस्थिर एवं अनिश्चित परिस्थितियों का लाभ, प्रचारक केवल इसी माध्यम से प्राप्त करता है। उद्देश्य के आधार पर इस माध्यम से प्रसारित अनेक कार्यक्रमों को समाचार बुलेटिन, व्याख्यान एवं भाषण, विदेशी प्रसारण, संगीत, प्रहसन एवं युद्धबंदियों से साक्षात्कार आदि में वर्गीकृत किया जाता है।

(ख) **लीफलेट तथा पैम्फ्लेट:**—इस माध्यम के चयन में लक्ष्य-जनसमुदाय का साक्षरता स्तर एक महत्वपूर्ण तत्व है। इस विधि द्वारा प्रसारित संदेश का प्रयोग भावो प्रसंग में भो किया जा सकता है और वह लक्ष्य समुदाय के विचारों में सुगमता से परिवर्तन कर सकता है क्योंकि ऐसा संदेश जनसमुदाय के पास स्थायो- रूप से लिखित रूप में रहता है। विभिन्न विज्ञापन, सुरक्षित व्यवहार के पारपत्र, लघुपत्रिकाएं, समाचारपत्र, हास्य एवं व्यंग्य चित्र आदि इस वर्ग के मुख्य माध्यम है।

(ग) **चल-चित्र एवं दूरदर्शन :**— लाउडस्पीकर, जनश्रुति, लोक रीतियां आदि सैन्य प्रचार के अन्य महत्वपूर्ण माध्यम हैं। इनका प्रयोग परिस्थिति के अनुसार किया जाता है।

युद्ध जनश्रुति

जनप्रवाद एक सामूहिक व्यवहार है तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध पद्धति के इस साधन का उद्देश्य एवं कार्य सैन्य प्रचार के लगभग समान है। किंतु दोनों के स्वरूप में मौलिक अंतर है। सैन्य प्रचार का स्रोत ज्ञात होता है या किया जा सकता है, उसका एक निश्चित उद्देश्य होता है और वह किसो संगठन विशेष द्वारा किया जाता है तथा जिसके प्रारंभ एवं समाप्ति पर नियंत्रण किया जा सकता है। इसके विपरीत युद्ध जनश्रुति का न तो कोई स्रोत विदित होता है, न उसका निश्चित उद्देश्य होता है और न हो उस पर नियंत्रण किया जा सकता है। दूसरे, प्रचार में शब्दावलो को भिन्नता संपूर्ण विषय सामग्रो के अर्थ को प्रभावित नहीं करतो किंतु जनश्रुति में शब्दों के साथ अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है क्योंकि साधारणतः विषय सामग्रो के अर्थ-निर्णय में व्यक्तिगत रुचि, मनोवृत्ति, प्रेरणा एवं हितों का समावेश हो जाता है। तीसरे, सैन्य प्रचार में व्यक्ति को धारणा में परिवर्तन करने की क्षमता होतो है जबकि युद्ध जनश्रुति व्यक्ति की धारणा से प्रभावित होती है या दूसरे शब्दों में जनश्रुति धारणाओं पर आधारित होती है और चौथे, प्रचार प्रक्रिया में प्रचारक द्वारा विषय सामग्रो की पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है जबकि जनश्रुति में पुनरावृत्ति विभिन्न व्यक्तियों द्वारा होती है।

जनश्रुति अथवा जनप्रवाद की परिभाषा अनेक प्रकार से दी जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिक जनप्रवाद को किसी वास्तविक या कल्पित घटना से संबंधित विशेष संसूचना मानते हैं जो प्रवाद से फैलतो है। दूसरे सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार विश्वास उत्पन्न करने के लिए जनप्रवाद, सामान्यतः मुखरित शब्दों द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक प्रसारित विश्वास हेतु एक ऐसा विशिष्ट

(या प्रकारक) कथन है जिसके लिए किसी पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परिभाषाओं के विभिन्न पहलुओं के आधार पर इस धारणा की व्यापक व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार है : स्रोत के अप्रत्यक्ष उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनप्रवाद भाषा सज्जित महत्वपूर्ण निर्मूल विचार है, जो लक्ष्य जनसमुदाय को आवश्यकतानुसार सूचना रूप में प्रचारित होता है।

फ्रायड के शब्दों में व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पर्यावरण का संतुलन "ईद", "ईगो" तथा "सुपर ईगो" के पारस्परिक संबंधों पर आधारित होता है। किंतु जब कभी "ईद" या पैशाचिक पशुप्रवृत्ति की प्रबलता होती है, यह संतुलन क्षणिक रूप में नष्ट होता प्रतीत होता है अर्थात् भावनात्मक तनाव उत्पन्न हो जाता है और तब जनश्रुति ही भावात्मक तुष्टि के लिए इस संतुलन को पुनःस्थापित करने में सहायक होती है। दूसरे शब्दों में जनश्रुति इसलिए फैलती है अथवा प्रचारित होती है क्योंकि वह व्यक्ति के भावात्मक तनाव को कम करती है तथा उस तनाव की व्याख्या एवं अर्थ प्रदान करती है। अतः किसी जनसमुदाय में विषय विशेष से संबंधित जनश्रुति उस समुदाय के सदस्यों के जीवन में उक्त विषय विशेष की महत्ता एवं अनिश्चितता के अनुपात में प्रचलित होती है। दूसरे शब्दों में, जनश्रुति महत्ता एवं अनिश्चितता के गुणन का फल है अर्थात् जनश्रुति के प्रवाह के लिए ये दोनों तत्व आवश्यक हैं, किसी एक के अभाव में जनश्रुति का उद्भव संभव नहीं होता।

मूल विषय

जनश्रुति के वर्ण्य विषय का क्रम शांतिकाल में अत्यधिक व्यापक होता है और वह क्षेत्रीय आवश्यकताओं, व्यावसायिक समुदायों के स्वरूप तथा उनके शिक्षा स्तरों पर आधारित होता है। किंतु युद्धकाल में यह वर्ण्यक्रम सीमित हो जाता है क्योंकि जनश्रुति अधिकतर युद्ध-निर्देशित होती है। अनेक अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारणतः युद्ध के समय जनश्रुति के निम्नलिखित मूल विषय है :—

(क) युद्ध की विभीषिका, घृणा, विरक्ति एवं मृत्यु,
(ख) अपव्यय, असंयम एवं उच्छृंखलता,
(ग) सुरक्षा का भय तथा आक्रमण की संभावनाएं,
(घ) प्रशासनिक-विरुद्ध मनोभाव,
(ङ) प्रशासन की भावी नीतियां, एवं
(च) युद्ध संचालन में सैनिक अथवा असैनिक नेतृत्व की क्षमता।

संवेगात्मकता के आधार पर इस मूलविषय के अनुसार युद्ध जनश्रुति को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जाता है :—

दिवास्वप्नमय जनश्रुति

इस प्रकार की जनश्रुति का प्रादुर्भाव अभिलाषा, इच्छा और कल्पना द्वारा होता है। व्यक्ति जब व्यग्र, उत्तेजित एवं उत्सुक स्थिति में होता है तब इच्छा-जनित विश्वास एवं धारणाएं जन्म लेती हैं और अपने आशानुकूल सत्य की पुनरावृत्ति करने तथा उसमें विश्वास करने में व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में दिवास्वप्नमय जनश्रुति में व्यक्ति चिन्तन के सहारे अपनी अतृप्त इच्छाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करता है

संत्रास जनश्रुति

संत्रास जनश्रुति के मूल में मुख्यतः भय, आशंका एवं सुरक्षा की भावनाएं होती हैं। इन भावनाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति, इस प्रकार की जनश्रुति में अनेक भय, आतंक एवं आशंकाओं के औचित्य को सार्थक सिद्ध करने का प्रयास करता है।

युयुत्सात्मक जनश्रुति

फ्रायड के अनुसार जब व्यक्ति में "ईद" की प्रबलता होती है तब घृणात्मक एवं द्वेषात्मक प्रेरणाएं इस प्रकार की जनश्रुति को जन्म देती हैं।

कर्कश जनश्रुति

कर्कश जनश्रुति कुछ समय तक प्रचलित रहती है फिर खत्म हो जाती है तथा उसी प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होने पर पुनः प्रचलित हो जाती है। इस प्रकार की जनश्रुति मनुष्य की जिन आवश्यकताओं, भयों, अभिलाषाओं एवं द्वेषों के अनुकूल होती है उनका स्वरूप प्रत्येक पीढ़ी में परंपरागत होता है।

युद्ध जनश्रुति के उपयोग

मनोवैज्ञानिक युद्ध में जनश्रुति अत्यधिक प्रभावी होती है क्योंकि श्रोता को वह "प्रचार" नहीं लगती तथा स्वतःप्रेरित होती है। राष्ट्रीय सामरिक नीति के आधार पर क्षेत्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इसका प्रयोग निम्नलिखित तीन प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) विघटन एवं अव्यवस्था के लिए,

(ख) सत्य छिपाने के लिए अनेक सत्यासत्य संवादों एवं सूचनाओं को एक साथ प्रकाशित एवं प्रचारित करने का प्रयत्न करना ताकि भ्रम उत्पन्न हो और वास्तविकता का ज्ञान न हो, तथा

(ग) समाचार माध्यमों में अविश्वास उत्पन्न करने के लिए ताकि वे विश्वसनीयता न प्राप्त कर सकें ।

नियंत्रण

सामाजिक संतुलन के लिए, विशेषरूप से युद्ध के समय जनश्रुति का निराकरण आवश्यक है जिसका उत्तरदायित्व उच्चतम राष्ट्रीय नीति संचालन संगठन पर होता है। यद्यपि जनश्रुति पर पूरा नियंत्रण संभव नहीं होता, तथापि निम्नलिखित उपायों द्वारा उसके प्रभाव में कमी की जा सकती है :—

(क) राजकीय संचार माध्यमों, राजनीतिक एवं सैनिक नेतृत्व में विश्वास एवं भरोसा उत्पन्न करना,

(ख) परिस्थिति की भ्रामकता दूर करने के लिए आवश्यक "सत्य" उपस्थित करना, और

(ग) लक्ष्य जनसमूह का ध्यान आवश्यक उद्देश्यों पर केंद्रित रखना ।

बलात् मतप्रवर्तन

आधुनिक सैन्य मनोविज्ञान की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जो युद्ध अथवा शांति के समय राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु मनोवैज्ञानिक युद्ध के एक ठोस साधन के रूप में प्रयोग की जाती है। लेकिन चूंकि व्यापकता की दृष्टि से इस विधि का क्षेत्र सीमित होता है अतः इस विधि का प्रयोग प्रभावात्मक रूप में केवल राजबंदियों तथा युद्धबंदियों पर ही किया जा सकता है। सैन्य प्रचार एवं युद्ध जनश्रुति की तुलना में मनोवैज्ञानिक युद्ध के इस साधन की प्रायोगिकता एवं उपयोगिता अत्यधिक सीमित है ।

बलात् मतप्रवर्तन विधि का प्रयोग बहुत पुराना है, किंतु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् और विशेषरूप से 1930 के बाद इस विधि की विशेष प्रतिष्ठा हुई । "ब्रेन वाशिंग" की इस आधुनिक धारणा का उद्भव, चीनी शब्द "थी नाओ" से हुआ है। चीनी विचारकों के अनुसार इसका अर्थ नवीन साम्यवादी समाज में "उचित एवं उपयुक्त" स्थान के लिए सैद्धांतिक प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया में पुरातन परिपाटी के अवशेषों को समाप्त करना है। किंतु इसका शाब्दिक अर्थ "बलात्-मतप्रवर्तन" से है। वास्तव में चीन के सैद्धांतिक प्रत्यावर्तन के कार्यक्रम में बलात्

मतप्रवर्तन का संबंध "जू सिंग काई साओ" की धारणा से अधिक है जिसका अर्थ है "विचार सुधार" अथवा "सैद्धांतिक पुनर्निर्माण"। पश्चिमी सैन्य शब्दावली में "ब्रेन-वाशिंग" शब्द के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय अमरीकी पत्रकार एडवर्ड हंटर को है जिसने इसका प्रयोग "विचार परिवर्तन" के संदर्भ में किया। सोवियत संघ में, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इस विधि का प्रयोग देशवासियों को साम्यवादी व्यवस्था एवं विचार पद्धति के अनुरूप ढालने के लिए व्यापक स्तर पर किया गया और आज इस विधि का प्रयोग विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों द्वारा शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक शस्त्र के रूप में किया जाता है।

बलात् मतप्रवर्तन एक विलक्षण एवं गहन कार्य है। मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि बंदी के व्यवहार, विश्वासों, विचारों एवं मूल्यों के परिवर्तन के मूल में पावलोव के अभ्यनुकूलन, हिपनोसिस, अपराध भावना का लक्ष्यांतरण, व्यक्तित्व परिवर्तन, सामाजिक अनुपालन, दबाव आदि प्रक्रियाएं शामिल होती हैं। इसकी विधियों का वर्ण्यक्रम सुकोमल प्यार एवं मधुर तर्क से लेकर चंगेज खां की बर्बर शारीरिक एवं मानसिक भावनाओं तक होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बलात् मतप्रवर्तन के फलस्वरूप व्यवहार परिवर्तन अनेक प्रक्रियाओं द्वारा संभव है जिन्हें सैद्धांतिक रूप में अनेक भागों में विभक्त करते हैं।

मनोशारीरिक तनाव प्रक्रम

इसके अंतर्गत पावलोव अभ्यनुकूलन के शारीरिक पहलू, मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक तनावों द्वारा उत्पन्न दुर्बलीकरण तथा विभिन्न प्रकार की संवेदनमंदक औषधियों के प्रभाव आदि सिद्धांतों का प्रयोग होता है। इस प्रक्रम में व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन, उसकी मानसिक एवं शारीरिक परिक्लांति के स्तर से संबंधित होता है। परिक्लांति का यह स्तर शारीरिक एवं मानसिक तनाव की तीव्रता पर आधारित होता है, जो शारीरिक कष्टों, थकान, एकाकीपन, अपमान, पराधीनता एवं परावलंबन आदि विषयों से उत्पन्न किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक इसे शमनकारी की प्रक्रिया भी संज्ञा देते हैं जो एकांतता, विचार नियंत्रण एवं राजनीतिक अभ्यनुकूलन के तीन विभिन्न चरणों में संपादित होती है।

प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष परिक्लांति स्तर पर विवेचनात्मक क्षमता खो बैठता है, परामर्शग्राही हो जाता है तथा उसमें संभ्रांति उत्पन्न हो जाती है और तब वह किन्हीं भी विचारों, विश्वासों अथवा मूल्यों को उचित मानने के लिए बाध्य हो जाता है, चाहे वे उसके व्यक्तिगत विचारों, विश्वासों या मूल्यों से कितने ही

भिन्न क्यों न हों। किन्तु तनावपूर्ण स्थिति समाप्त होने के पश्चात् या मनोशारीरिक संतुलन के पुनः ठीक होने पर व्यक्ति अपने पूर्व व्यवहार का अनुकरण करने लगता है तथा अपने उस अनुभव को कष्टदायक बताता है। इस प्रक्रम से उत्पन्न व्यवहार परिवर्तन क्षणिक होता है और प्रक्रम की समाप्ति पर उसका प्रभाव भी क्रमशः समाप्त होने लगता है। किंतु यदि प्रक्रम अधिक समय तक प्रयोग किया गया तो व्यक्ति का मानसिक संतुलन स्थायीरूप से बिगड़ने की संभावना रहती है।

सीखने की प्रक्रिया पर आधारित प्रक्रम

इस प्रक्रम के प्रारंभ में विभिन्न विधियों द्वारा व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विश्वासों एवं मूल्यों के विपरीत व्यवहार के लिए बाध्य किया जाता है जिससे मानसिक संघर्ष उत्पन्न होने लगता है और परिणामस्वरूप उत्सुकता और अपराध की भावनाओ से "नवीन परिस्थिति" पैदा हो जाती है, जिससे निपटने के लिए व्यक्ति एक प्रतिक्रिया विशेष ढूंढने का प्रयत्न करता है जो उत्सुकता और अपराध की गहरी भावना को कम कर सके। यह प्रतिक्रिया केवल उसी स्थिति में संभव है जब व्यक्ति की संज्ञानात्मक संरचना में अथवा दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपने इस व्यवहार परिवर्तन को अपनी इच्छा के विरुद्ध थोपे जा रहे मूल्यों के आधार पर उचित मानने लगे। सीखने की इस प्रक्रिया में पावलोव के सिद्धांत का प्रयोग प्रारंभिक उत्तेजकों (शारीरिक कष्ट, असुरक्षा, भय, अपमान आदि) के साथ उत्सुकता एवं अपराध की भावना के अभ्यनुकूलन में होता है अर्थात् व्यक्ति जब मूल्यों एवं विश्वासों के स्तर पर थोपी गई विचारधारा को सीखने लगता है तब पावलोव के सिद्धांत का प्रयोग व्यक्ति में इच्छित व्यवहार उत्पन्न करने में किया जाता है।

अमरीकी सैन्य विचारकों के अनुसार इस प्रक्रम की अनुकूल परिस्थितियों को "डीडीडी" की संज्ञा दी गई है या दूसरे शब्दों में शारीरिक कमजोरी, निर्भरता तथा त्रास कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की शारीरिक क्षमता को निम्नतर स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाता है ताकि उसको अपनी समस्ता भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर आश्रित बनाया जा सके। उसके बाद वह सुगमता से नवीन विचारों को ग्रहण कर सकता है। इस "अनुकूल परिस्थिति" के आधार पर "आनन्द की परिष्कृत प्रतिक्रिया मन की परिष्कृत प्रतिक्रिया से दुर्बल होती है", का सिद्धांत टिका है।

मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रम

बलात् मतप्रवर्तन के इस प्रक्रम का आधार फ्रायड का एक सिद्धांत है जिसके अनुसार "ईगो" शक्तिशाली "सुपरईगो" से निरंतर बचना चाहता है। इस प्रक्रम में "सुपर ईगो" तथा "ईगो" के संबंधों के प्रभाव को कम से कम करने का प्रयास किया जाता है ताकि "अपराधी भावना" का लक्ष्यांतरण संभव हो सके। भावना के ऐसे लक्ष्यांतरण में बंदीगृह के कटु अनुभव "ईगो" की प्रतिरोधात्मक क्षमता को निरंतर क्षीण करते रहते हैं तथा दुःख एवं भय निवारण की अचेतन इच्छा प्रतिरोधात्मक क्षमता की इस क्षीणता को और भी क्षीण करती रहती है और बंदी शीघ्र ही "सत्ताधारी धारणा" से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

यह प्रक्रिया चार विभिन्न चरणों में सम्पन्न होती है। प्रथम चरण में भावोत्तेजक आक्रमण से बंदी के व्यक्तिगत व्यक्तित्व को असंतुलित करने का प्रयत्न होता है ताकि उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति का संतुलन बिगड़ सके और "अपराधी भावना" जागृत हो। दूसरे चरण में बंदी के प्रति यकायक नम्रता का प्रदर्शन किया जाता है जिससे परिस्थिति समायोजन की प्रक्रिया में वह "अपराध" को स्वीकार करने का प्रयत्न करने लगता है। तीसरे चरण में इस अपराधी भावना का दिशा-निर्देश निश्चित उद्देश्य के लिए होता है और अंतिम चरण में बंदी को नवीन विचारों, मूल्यों, विश्वासों आदि की अनवरत शिक्षा प्रारंभ की जाती है। यह प्रक्रिया तब तक बार बार अपनाई जाती है जब तक कि इच्छित सीमा तक बलात् मतप्रवर्तन न थोपा जाए।

राजनीतिक शक्ति और सैन्य शक्ति

-- कृष्ण कुमार

राजनीतिक शक्ति और सैन्य शक्ति के आपसी संबंधों, स्रोतों, प्रभाव, प्रयोग-क्षेत्रों आदि की कोई विवेचना या उस पर विचार प्रारंभ करने से पहले राष्ट्रीय हितों, उद्देश्यों एवं राष्ट्रीय शक्ति पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है क्योंकि राजनीतिक शक्ति एवं सैन्य शक्ति राष्ट्रीय शक्ति के महत्वपूर्ण अंग हैं और राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्रीय हितों की रक्षा तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्रगति का साधन है। राजनीतिक शक्ति और सैन्य शक्ति का मूल्यांकन उसे राष्ट्रीय शक्ति के अन्य अंगों से पृथक् करके नहीं किया जा सकता क्योंकि ये सभी अपने विकास के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं।

राष्ट्रीय शक्ति में राष्ट्र के उन सभी भौतिक एवं वैयक्तिक (व्यक्तिक) साधनों का समावेश होता है जिनका विकास राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सके। राष्ट्रीय शक्ति के पांच प्रमुख अंग माने जाते हैं— भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सैनिक। ये आपस में एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। एक की शक्ति दूसरे को बल प्रदान करती है, एक की निर्बलता दूसरे को निर्बलता का कारण बन सकती है। राष्ट्रीय शक्ति के इन अंगों के अनेक प्रयुक्त एवं अप्रयुक्त स्रोत हैं। प्रयुक्त स्रोतों के अंतर्गत जनशक्ति, प्राकृतिक साधन, अर्थव्यवस्था, औद्योगिक आधार, तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति आदि आते हैं जबकि अप्रयुक्त स्रोतों में सामाजिक एवं राष्ट्रीय मनोवृत्तियां, राष्ट्रीय परंपरा के शक्ति स्तंभ, राष्ट्र का विश्व में स्थान एवं सम्मान आदि सम्मिलित हैं। किसी राष्ट्र की सैन्य शक्ति वास्तव में राष्ट्रीय शक्ति के अन्य चार अंगों का प्रतिबिंब होती है। सैन्य शक्ति के स्वरूप पर उस राष्ट्र की भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की गहरी छाप होती है, इन परिस्थितियों से उत्पन्न बल एवं निर्बलताएं भी उसमें प्रतिबिंबित होती हैं। सैन्य शक्ति की भांति राजनीतिक शक्ति भी राष्ट्रीय शक्ति के अन्य अंगों पर आधारित है। लेकिन संभावित शक्ति को वास्तविक शक्ति में परिवर्तित करने का मुख्य तथ्य राजनीतिक तथा सैन्य शक्ति है।

किसी राष्ट्र की सैन्य शक्ति को दो भागों में बांटा जा सकता है — "तैयार सैन्य शक्ति" तथा "निहित युद्ध क्षमता"। "तैयार सैन्य शक्ति" वह शक्ति है जो प्रयोग हेतु तैयार हो। इसमें जल, थल तथा वायु सेनाएं, शस्त्रास्त्र, साज-सामान, गोला-बारुद, पूर्ति व्यवस्था (पूर्ति एवं परिवहन व्यवस्था), विभिन्न सैनिक प्रतिष्ठान आदि शामिल होते हैं। 'निहित युद्ध क्षमता' वह क्षमता है जिसे आवश्यकता पड़ने पर तैयार यौद्धिक शक्ति में परिवर्तित किया जा सके। तैयार सैन्य शक्ति केवल उतनी ही रहनी चाहिए जितनी कि तत्कालीन सैनिक उत्तरदायित्वों की दृष्टि से आवश्यक हो क्योंकि शांतिकाल में अतिरिक्त सैन्य शक्ति के निरर्थक व्यय को वहन करना राष्ट्र पर न केवल भारी बोझ होगा वरन् अनुपयोगी भी होगा। अतः दोनों प्रकार की शक्तियों के बीच समुचित संतुलन होना चाहिए।

आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन में सैन्य शक्ति, राजनीतिक क्षमता व आर्थिक विकास अपना मिला-जुला प्रभाव रखते हैं, परंतु राष्ट्रीय शक्ति का संतुलन केवल तभी संभव है जब सैनिक शक्ति असैनिक नेतृत्व एवं नियंत्रण के प्रति उत्तरदायी हो। किंतु सर्वोच्च नेतृत्व असैनिक हाथों में होना चाहिए अथवा सैनिक हाथों में? इस प्रश्न को लेकर एक बहुत पुराना विवाद चला आ रहा है। इस लेख में इसे समुचित स्थान दे पाना संभव नहीं हो सका है।

राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करना राष्ट्रीय शक्ति का उत्तरदायित्व है; अतः राष्ट्रीय शक्ति का अंग होने के नाते राजनीतिक शक्ति और सैन्य शक्ति समान उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। परंतु यदि हम इन दोनों साधनों के स्वरूप को ध्यान में रखें तो राजनीतिक शक्ति को सैन्य शक्ति से ऊंचा स्थान एवं प्राथमिकता मिलनी चाहिए क्योंकि सामान्यतया विभिन्न राष्ट्रों के बीच आपसी व्यवहार का साधन राजनीतिक आदान-प्रदान है न कि युद्ध। सामान्य परिस्थितियों में सैन्य शक्ति का उपयोग केवल राजनीति को शक्ति एवं समर्थन प्रदान करना ही है। सैन्य शक्ति की मात्र उपस्थिति या फिर अधिक से अधिक उसका थोड़ा सा* प्रदर्शन कूटनीतिक सफलता के लिए पर्याप्त हो सकता है। युद्ध द्वारा बलपूर्वक कुछ प्राप्त करने की स्थिति भी आधुनिक युग में प्रायः समाप्त होती जा रही है क्योंकि आधुनिक सैन्य शक्ति पहले की तुलना में अब कई गुणा विनाशक हो गई है और युद्ध

*प्रदर्शन एवं 'प्रयोग' में अंतर है।

का जोखिम उठाना अब पहले जैसा सरल कार्य नहीं रह गया है। इसलिये यह भी कहा जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना एक संघर्ष है जिसका माध्यम राजनीतिक शक्ति है और राष्ट्रीय शक्ति के दूसरे तथ्य उस पर निर्भर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के नेपोलियन युग के जर्मन दार्शनिक क्लाजविट्ज भी राजनीतिक आदान-प्रदान एवं युद्ध को राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के दो भिन्न माध्यम मानते थे। उनके अनुसार युद्ध भिन्न साधनों द्वारा राष्ट्रीय नीति का संचालन करते रहने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। क्लाजविट्ज का तर्क था कि युद्ध काल में भी राजनीतिक आदान-प्रदान समाप्त नहीं होता और न ही किसी भिन्न रूप में पूर्णतया परिवर्तित होता है, बल्कि पर्याप्त रूप से चलता रहता है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि क्या कूटनीतिक पत्रों का आदान-प्रदान समाप्त हो जाने मात्र से ही दो राष्ट्रों एवं दो सरकारों के संबंध समाप्त हो सकते हैं? अर्थात् क्या युद्ध राष्ट्रों के विचारों (रोष, क्रोध) को व्यक्त करने का भिन्न तरीका नहीं है। क्लाजविट्ज के युग में जब यूरोप नेपोलियन के युद्धों के तूफानी दौर से गुजर रहा था, नए राष्ट्र जन्म ले रहे थे; व्यावसायिक सेनाओं के स्थान पर असीमित मनोबल से ओत-प्रोत राष्ट्रीय सेनाएं संगठित हो रही थीं; युद्ध राजा या एक व्यक्ति विशेष का विषय न रह कर जन-साधारण अर्थात् संपूर्ण राष्ट्र का विषय बन गया था, और राजनीति की तुलना में युद्ध राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का अधिक सशक्त माध्यम बन गया था। बार-बार युद्ध लड़ना थोड़ा सरल था और युद्ध के निर्णायक परिणाम भी निकलते थे। उस समय युद्ध इतने विनाशक भी नहीं थे कि वे युद्धरत राष्ट्रों को अपनी आग में पूर्णतया झुलसा कर रख दें। परन्तु यूरोप की आगे आने वाली पीढ़ियों पर भी क्लाजविट्ज के विचारों की गहरी छाप पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होते-होते भी जर्मनी, फ्रांस सहित अनेक देशों के शासक एवं सेनानायक क्लाजविट्ज के विचारों से अत्यंत प्रभावित थे। ठोस एवं निर्णायक परिणाम प्राप्त करने का सर्वाधिक प्रभावशाली तरीका युद्ध के खूनखराबे द्वारा शत्रु की सैन्य शक्ति को पूर्णतया समान्य कर देना या शत्रु को पूर्णतया निःशस्त्र कर देना समझा जाने लगा। अतः अब युद्ध दो पक्षों की सैन्य शक्तियों का सीधा टकराव बन गया क्योंकि दोनों पक्ष एक दूसरे की सैन्य शक्ति को पूर्णतया तबाह करने जैसे तथाकथित महान् उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये युद्धरत होते थे। युद्ध की प्रमुख लड़ाइयों के विनाशकारी परिणाम इतने महत्वपूर्ण हो गये कि शासकों, युद्ध-विचारकों

तथा सेनानायकों की इस विचारधारा में पूर्ण आस्था हो गई कि ऐसे परिणामों के आधार पर ही राष्ट्रीय नीति तैयार की जानी चाहिए। इस प्रकार जनरल (सैनिक नेतृत्व) का स्थान राजनीतिज्ञ (असैनिक नेतृत्व) से ऊंचा हो गया। राष्ट्रीय शक्ति अपना संतुलित रूप खो बैठी; सैन्य शक्ति पर असैनिक नियंत्रण समाप्त सा हो गया। दूसरी ओर तकनीकी विकास एवं प्रगति के कारण युद्ध उपकरणों की विनाशक शक्ति निरंतर बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध में असैनिक नेतृत्व एवं असैनिक संस्थाएं इतनी प्रभावशाली नहीं रहीं जो दोनों महायुद्धों के विनाशक तंत्रों पर नियंत्रण रख पातीं। द्वितीय विश्व युद्ध तक क्षेत्रीय विस्तार, उपनिवेश स्थापना, सैनिक विजय आदि महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्देश्य माने जाते थे। इन्हें राष्ट्रीय गौरव, समृद्धि, महानता एवं शक्ति का परिचायक समझा जाता था। ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में सैन्य शक्ति अन्य साधनों की तुलना में अधिक सार्थक थी।

अतः उन्नीसवीं शताब्दी में सैन्यशक्ति राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन गई। इंगलैंड ने अपनी नौ सेना के बल पर विश्वव्यापी साम्राज्य का निर्माण किया और उपनिवेश स्थापित किए तथा अपने घरेलू उद्योगों के विकास के लिए इन्हीं उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त किया और अपने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाया तथा अपने औद्योगिक माल की खपत के लिए इन्हीं उपनिवेशों में बाजारों की स्थापना की। नौसैनिक संरक्षण में स्थापित इस विश्वव्यापी व्यापारिक व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि व्यापारिक लाभ के रूप में विश्व भर की पूंजी इंगलैंड के व्यापारियों एवं सरकार के हाथों में केंद्रित होने लगी। इस प्रकार छोटा–सा देश, इंगलैंड न केवल ग्रेट ब्रिटेन कहलाने लगा बल्कि विश्व का सबसे बड़ा व्यापारिक, औद्योगिक एवं समृद्धिशाली देश बन गया। इतना ही नहीं, उसकी सैन्य शक्ति द्वारा प्राप्त इन सब उपलब्धियों ने उसे एक महान् राजनीतिक शक्ति बनाया, उसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों में नेतृत्व एवं प्रतिष्ठा भी दिलवाई। नेपोलियन के विरुद्ध यूरोपीय देशों को संगठित करने का श्रेय भी ब्रिटेन को ही मिला। उसने नेपोलियन के विरुद्ध कई सैनिक गठबंधनों का नेतृत्व करने में सफलता प्राप्त की और अंत में नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय भी स्वयं ब्रिटेन को मिला। सैन्यशक्ति एवं व्यापार पर आधारित ब्रिटेन का साम्राज्य एवं राजनीतिक शक्ति द्वितीय विश्वयुद्ध तक कायम रही। दोनों विश्वयुद्धों में निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी ताकतों के विरुद्ध प्रजातांत्रिक शक्तियों का नेतृत्व भी मुख्यतः ब्रिटेन के ही हाथ में रहा।

हिटलर एवं जनरल तोजो के अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रभाव का आधार भी उनकी सैन्यशक्ति ही थी। प्रबल सैन्यशक्तियुक्त राष्ट्र मात्र शक्ति का भय दिखा कर महत्वपूर्ण निर्णयों को अपने पक्ष में करने में किस प्रकार सफलता प्राप्त कर सकते हैं, यह बात 1936 से 1939 के बीच हिटलर की उपलब्धियों से भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। इसी शक्ति के कारण उसे द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभिक वर्षों में महान सफलताएं मिलीं।

परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सैन्यशक्ति में परमाणु हथियारों का समावेश हो जाने से सैन्यशक्ति की विनाशक क्षमता इतनी बढ़ गई कि साधन एवं साध्य का अनुपात ही गड़बड़ा गया और शक्ति के आगे उद्देश्य बहुत छोटे पड़ गये। 1952 तक तो संयुक्त राज्य अमेरिका का ही परमाणु शस्त्रों पर एकाधिकार रहा, परंतु कुछ वर्ष बाद सोवियत संघ ने न केवल पर्याप्त मात्रा में ये शस्त्र बना लिए बल्कि दोनों देशों में परमाणु हथियार के विकास की होड़ लग गई। शीघ्र ही दोनों देश एक दूसरे को तबाह करने योग्य हो गये और आपसी विनाश के भय में भी संतुलन स्थापित हो गया। इंगलैंड, फ्रांस एवं चीन भी परमाणु शक्ति बन गए। विनाशक शक्ति की वृद्धि के साथ उसके प्रयोग की संभावनाएं भी कम होती गईं। इस प्रकार अब सैन्य शक्ति युद्ध कम और शांति व राजनीति का अधिक मुखर साधन बन गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान आदि बड़े साम्राज्यवादी देशों की शक्ति नष्ट हो गई और उपनिवेशों पर उनका नियंत्रण कमजोर पड़ गया। शक्ति के इस खालीपन को अमरीका एवं रूस ने भरने का प्रयत्न भी किया परंतु तब तक एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमरीकी देशों में राष्ट्रवाद जाग चुका था। राष्ट्रीय जागरुकता ने साम्राज्यवाद की जड़ों को खोखला बना दिया परंतु इस नए वातावरण का लाभ उठाने के उद्देश्य से महाशक्तियों ने भी अपनी नीतियां उसी के अनुसार ढाल लीं। साम्राज्य स्थापना के स्थान पर अब ये शक्तियां अपने "प्रभाव क्षेत्र" बनाने में लग गईं। महाशक्तियां अब छोटे देशों के झगड़ों का लाभ उठाकर और एक को दूसरे से भिड़ाकर व शस्त्र सहायता देकर तथा उनके झगड़ों में मध्यस्थ बन कर प्रभुत्व व नेतृत्व के नये क्षेत्र तलाशने लगीं। शस्त्र-क्रय व शस्त्र अंतरण राजनीति के नए शक्ति-स्रोत बन गए। उधर रूस व अमेरिका के बीच शीत युद्ध छिड़ जाने से विश्व दो बड़े राजनीतिक गुटों में बंट गया; एक रूस समर्थक साम्यवादी गुट और दूसरा अमेरिका समर्थक पश्चिमी पूंजीवादी गुट। दोनों गुट

एक दूसरे के प्रभाव को तीसरी दुनियां में बढ़ने से रोकने और एक दूसरे की घेराबंदी करने या तोड़ने के उद्देश्य से नाटो, सेपटो, सीटो, वारसा पैक्ट जैसे सैनिक संघों की विश्व स्तरीय सैनिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करने लगे। जहां एक ओर महाशक्तियां (अमेरिका व रूस) सैन्य शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में झुकाने के लिए प्रयत्नशील थीं, वहीं उनके द्वारा संचालित सैन्य संघ एक दूसरे के विश्वस्तरीय राजनीतिक प्रभाव को कम करने की व्यवस्था के अंग थे।

परन्तु पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रों के बीच शक्ति संबंधों का स्वरूप एवं समस्या काफी पेचीदा हो गई है। लगभग दो दशक पहले की तुलना में जब पश्चिमी गुट, साम्यवादी गुट तथा गुटनिरपेक्ष राष्ट्र ही इस ढांचे के प्रमुख स्तंभ थे, आज शक्ति के कई नए केंद्र उभर कर सामने आ गए हैं। अब राष्ट्र इन गुटों के प्रभाव एवं चंगुल से स्वयं को अधिक मुक्त अनुभव करते हैं। नए शक्ति केंद्रों के रूप में छोटे एवं पिछड़े देशों के आर्थिक एवं क्षेत्रीय संगठन बन गये हैं। जहां तक परंपरागत तथा आंकड़ों की दृष्टि से सर्वमान्य शक्ति-स्तंभों का प्रश्न है, सैन्यशक्ति मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ में ही केंद्रित हो गई है। औद्योगिक शक्ति उक्त दोनों महाशक्तियों, जापान, पश्चिमी यूरोप तथा कुछ अन्य विकसित देशों में केंद्रित है, परन्तु वास्तविक शक्ति अर्थात् दूसरों पर प्रभाव डालने की योग्यता इतिहास के किसी भी युग की तुलना में अब पहले से कहीं अधिक विकेंद्रित हो गई है। शक्ति के वे अंग जिनका महत्व पहले कम था, अब अधिक महत्वपूर्ण बनने लगे हैं। पहले की अपेक्षा अब इन अंगों को आसानी से पृथक् किया जा सकता है अर्थात् अन्य अंगों के बिना भी इनका स्वतंत्र प्रभाव देखा जाने लगा है। परन्तु इस सबका परिणाम यह हुआ है कि कोई राष्ट्र या संगठन यदि एक दृष्टि से शक्तिशाली प्रतीत होता है तो दूसरी दृष्टि से उतना ही विनाशकारी।

नाटकीय रूप से विकसित होने वाला शक्ति का एक नया केंद्र है—पेट्रोलियम निर्यात करने वाले देशों का संगठन "ओपेक"। इस संगठन की शक्ति का स्वरूप एकदम आर्थिक है। कुछ देशों द्वारा तेल की सप्लाई पर प्रतिबंध लगाने की क्षमता अथवा स्वेच्छा से तेल की कीमतों में वृद्धि करने का सामर्थ्य इस संगठन के प्रभाव के मुख्य साधन हैं। 1973 के अंत में "ओपेक" ने जो सैनिक एवं राजनीतिक प्रभाव डाला था, वह सर्वविदित है। एक ओर प्रमुख अरब देशों ने इसराइल पर सैनिक आक्रमण किया दूसरी ओर "ओपेक"

देशों ने पश्चिमी देशों को तेल की सप्लाई रोक देने का भय दिखाया। फलस्वरूप पूरे युद्ध के दौरान "नाटो" देश न केवल अरब देशों के पक्ष में वक्तव्य देते रहे, वरन् उन्होंने इजराइल भेजी जा रही अमरीकी सैन्य सहायता को मार्गीय सुविधाएं प्रदान करने से भी इन्कार कर दिया। पश्चिमी यूरोप एवं जापान तो तेल की सप्लाई पर अल्पावधिक प्रतिबंध की संभावना से ही भयभीत हो गए। दूसरी ओर अरब तेल उत्पादकों ने हो न केवल तेल की सप्लाई पर कड़े नियंत्रण रखने में सफलता प्राप्त की, वरन् वे तेल की सप्लाई की कटौती से होने वाली संभावित आर्थिक हानि को भी सामूहिक रूप से सहन करने के लिए तैयार एवं संगठित थे। उन्होंने केवल एक कठोर प्रहार द्वारा प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों के मर्मस्थलों को खचौट कर रख दिया। कुछ महीनों के पश्चात् 'ओपेक' सदस्यों ने तेल के मूल्यों में लगभग चार गुनी वृद्धि कर दी। मूल्य वृद्धि में अमेरिका समर्थक ईरान भी सम्मिलित हो गया जो तेल सप्लाई प्रतिबंध में शामिल नहीं हुआ था। "ओपेक" की इस कार्रवाई के परिणामस्वरूप विश्व की संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था में उथल-पुथल मच गई, पश्चिमी देशों में पहले से चली आ रही मुद्रास्फीति में भारी वृद्धि हुई; विकसित एवं विकासशील—दोनों प्रकार के तेल उपभोक्ता देशों पर गंभीर आर्थिक दबाव पड़े; सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार की वित्तीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं को 'ओपेक' के इस निर्णय ने हिला कर रख दिया। पश्चिमी देशों ने दबी जुबान से फारस की खाड़ी में सैनिक हस्तक्षेप की धमकी तो दी, परंतु वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। 'ओपेक' का यह आर्थिक शस्त्र न केवल सैन्य शक्ति व राजनीतिक शक्ति की भूमिका निभाने में सफल रहा बल्कि तेल मूल्यों की वृद्धि से 'ओपेक' सदस्यों की समृद्धि एवं शक्ति भी बढ़ी। तत्पश्चात् सभी बड़े देशों ने अपनी आर्थिक एवं औद्योगिक व्यवस्था को नई स्थिति में ढालने एवं तेल-शस्त्र को निष्क्रिय बनाने की दृष्टि से सभी संभव कदम उठाये यथा तेल के विकल्प के रूप में अन्य ऊर्जा स्रोतों के विकास व प्रयोग के प्रयत्न, तेल के नवीन स्रोतों की खोज, तेल के भंडारों का निर्माण आदि। परन्तु स्थिति में फिर भी कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा। तेल अब भी पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक अंग है, तेल का निर्यात मूल्य अब भी 'ओपेक' के नियंत्रण में है और 'ओपेक' की तेल सप्लाई काटने की क्षमता अब भी यथावत बनी हुई है। 'ओपेक' की इस शक्ति से पश्चिमी देश इतने चिंतित एवं भयभीत हैं कि वे न केवल "ओपेक" देशों के साथ व्यापार करने तथा उन्हें शस्त्र बेचने में उत्सुकता दिखा रहे हैं, वरन् इजराइल के साथ अरब देशों

की शान्ति शर्तों के प्रति भी ऊपरी तौर पर सहानुभुति व्यक्त करते हैं। अमेरिका भी अब तक एक प्रभावशाली ऊर्जा नीति तैयार करने में असफल रहा है। अमेरिका अरब-इज़राइली समस्या के कारण भविष्य में होने वाले किसी भी तेल संकट के प्रति चिंतित भी है। तेल मूल्य वृद्धि के कारण विकसित देशों से अरब देशों को होने वाला पूंजी अंतरण, पिछड़े एवं विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था पर तेल मूल्यों का दबाव आदि अन्य महत्वपूर्ण समस्याएं हैं, जिनका भविष्य में विश्व के आर्थिक, राजनीतिक व सैनिक शक्ति वितरण पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा।

परिवर्तन के रूप में, एक तरफ यदि पिछले पांच वर्षों में 'ओपेक' का नाटकीय विकास हुआ है तो दूसरी तरफ पर्यावरण के प्रदूषीकरण, जनसंख्या, खाद्यसामग्री, समुद्री नियम, नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था आदि विषयों पर सम्मेलनों का एक महत्वपूर्ण सिलसिला भी चल पड़ा है जिसके स्थायी और व्यापक परिणाम निकलेंगे। ये सम्मेलन यद्यपि महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने के सामूहिक प्रयास हैं, फिर भी इनमें संघर्ष बना रहता है। ये संघर्ष उत्तर-दक्षिण, विकसित, विकासशील जैसी सामूहिक भावनाओं को लेकर होते हैं।

ऐसे देश भी हैं जिनकी शक्ति उनकी पर्याप्त राष्ट्रीय शक्ति पर आधारित है। इन देशों के पास आर्थिक एवं सैन्य शक्ति के पर्याप्त विकास के साधन हैं, परंतु इस समय ये देश मुख्य रूप से अपने विशाल भौगोलिक क्षेत्रफल व जनसंख्या पर ही निर्भर हैं। कुछ लोग इन्हें विश्व के या कम-से-कम किसी क्षेत्र विशेष के सुषुप्त शक्ति-दानव मानते हैं। ऐसे देशों में चीन या कुछ सीमा तक भारत का नाम लिया जा सकता है।

चीनी गृह-युद्ध तथा कोरियाई युद्ध के बाद लगता था कि चीन तेजी से एक शक्तिशाली राष्ट्र बनता जा रहा है और साथ ही यह संदेह भी उत्पन्न होता जा रहा था कि चीन कमजोर पड़ौसी देशों में भी अपना विस्तार चाहता है। अमेरिका द्वारा वियतनाम युद्ध में फंसने का संभवतः मुख्य कारण यही था; इसी कारण चीन के कुछ पड़ौसी देशों द्वारा अमरीकी नीति को समर्थन भी मिला। परंतु 1966 में चीन सांस्कृतिक क्रांति में और बाद में अपनी उत्तरी सीमा पर रूस के साथ टकराव में फंस गया। उसके बाद अमेरिका और चीन के संबंधों में सुधार हुआ और चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश मिला। अतः विश्व में पहले के अपेक्षाकृत अधिक परिचित हो जाने पर चीन

का दूर से नजर आने वाला शक्तिशाली व्यक्तित्व अब निकट से उतना विशाल नहीं लगता है चूंकि किसी भी महाशक्ति के साथ चीन का घनिष्ट संबंध नहीं रहा अतः उसका राजनीतिक व्यक्तित्व भी नहीं उठ पाया। चीन की परमाणु शक्ति का किंचित प्रभाव केवल रूस पर ही पड़ पाया। परन्तु चीन की गैर-परमाणु सैन्य शक्ति एशियाई स्तर से आज भी बड़ी है। लेकिन आर्थिक क्षेत्र में धीमी प्रगति के कारण चीन एक निर्धन देश है। आर्थिक दृष्टि से जापान व अन्य पड़ौसी देश चीन से आगे निकल गए हैं। सुरक्षा की दृष्टि से चीन की चिंता का एकमात्र विषय रूस के साथ सीमा संघर्ष है। फिर भी चीन रूसी नेताओं एवं रूसी शक्ति को बहुत कुछ बांधे एवं व्यस्त किए हुए है। रूसी नीतियों पर भी चीन की इस स्थिति का पर्याप्त प्रभाव है। साम्यवादी व समाजवादी प्रयोगों के सबसे बड़े केंद्र तथा गौरवशाली इतिहास एवं विशाल जनशक्ति स्रोत के रूप में चीन विश्व की सभी शक्तियों की रुचि का केंद्र है। इसके बावजूद मध्य पूर्व, दक्षिण अफ्रीका, उत्तर-दक्षिण समस्या, तेल-संकट आदि सभी क्षेत्रों की महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं में चीन की भूमिका पिछले 6-7 वर्षों में नगण्य रही है। इसका भी प्रमुख कारण सम्भवतः चीन की पृथकता ही है। चीन किसी भी विश्वस्तरीय, क्षेत्रीय अथवा आर्थिक संघ या ग्रुप से अलग है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आज किसी देश की शक्ति का एक बड़ा भाग उसकी 'ग्रुप शक्ति' के रूप में है।

अनेक राष्ट्रों ने आर्थिक, क्षेत्रीय व सुरक्षा की दृष्टि से अनेक संघ अथवा गुट बना लिये हैं। गुटों में संगठित होने से निर्बल देशों को बल मिला है। सामूहिक रूप में ये देश अपनी इच्छाएं अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर पाते हैं। छोटे देशों की अल्प शक्ति "ग्रुप पावर" का रूप लेकर विश्व शक्ति संतुलन को नई दिशा दे रही है। आज यदि कोई राष्ट्र किसी क्लब का सदस्य नहीं है तो उसने कुछ खोया ही है। जो देश अपने बढ़ते महत्व के साथ इन क्षेत्रीय व आर्थिक संगठनों में अग्रिम भूमिका निभा रहे हैं उनकी वास्तविक शक्ति में और अधिक वृद्धि हुई है जैसे 'ओपेक' देशों में ईरान, 'ओपेक' तथा अरब देशों में सऊदी अरब, लैटिन अमेरिका तथा 77 देशों के गुट (गुटनिरपेक्ष राष्ट्र) में ब्राजील, 'ओपेक' तथा 77 देशों के गुट में अल्जीरिया। दक्षिण एशिया में भारत की एक विशेष स्थिति है। वह मात्र अपनी विशालता के कारण दक्षिण एशियाई देशों में अग्रगण्य है। एक समय था कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का अगुआ होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र

में भारत का विशेष स्थान बन गया था। परंतु आज भारत अपनी हैसियत का पूरा लाभ नहीं उठा पा रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में तो क्षेत्रीय संगठनों की शक्ति में स्पष्ट वृद्धि हुई है। अरब तथा अफ्रीकी देश तो 1972 के बाद की इज़राइल तथा दक्षिण अफ्रीका पर प्रभाव डालने की दृष्टि से एक हुए हैं। लेटिन अमरीकी देश भी अब संगठित हैं। इन संगठनों का प्रभाव पृथक क्षेत्रीय परिस्थितियों एवं उद्देश्यों के कारण भिन्न है। पनामा नहर के मामले में अमरीकी दृष्टिकोण की भर्त्सना का काफी मूल्य एवं महत्व है क्योंकि वह सभी लैटिन अमरीकी देशों की भावना का प्रतिनिधित्व करती है। ये देश रोष प्रदर्शन से लेकर गुरिल्ला युद्ध तक की कार्यवाही करके अमरीकी स्थिति को काफी हद तक कठिन बना सकते हैं, जबकि इज़राइल की भर्त्सना करने वाले प्रस्तावों का प्रभाव बहुत हल्का है क्योंकि उनसे केवल इज़राइल के राजनीतिक पृथक्करण की बात ही प्रकट होती है जो विभिन्न देशों के व्यक्तिगत निर्णयों द्वारा पहले ही स्पष्ट है। दक्षिण अफ्रीका से सम्बन्धित प्रस्ताव फिर भी महत्वपूर्ण हैं विशेषकर तब से जब से अफ्रीकियों की युद्ध शक्ति का विकास हुआ है।

परंतु सैन्य शक्ति को लेकर मुख्य स्पर्धा आज भी दोनों महाशक्तियों (अमरीका व रूस) तक ही सीमित है। पिछले 15 वर्षों में शक्ति संतुलन सोवियत संघ की ओर ही झुकता रहा है। इसका मूल कारण यह है कि सोवियत संघ ने अपनी सैन्य शक्ति में निरंतर सुधार किया है जबकि अमेरिका सहित प्रमुख पश्चिमी देशों ने पिछले कई वर्षों में इस संबंध में काफी संयम का परिचय दिया है। जहां तक सामरिक परमाणु शक्ति का प्रश्न है, पिछले एक दशक से कोई भी पक्ष स्पष्ट श्रेष्ठता नहीं दिखा सका है। फिर भी दिलचस्प बात यह है कि रूसी व अमरीकी राजनीतिक नेता प्रत्येक संकट को इस आत्मविश्वास के साथ देखते हैं कि इसमें हमारी सामरिक श्रेष्ठता रहेगी। आज परमाणु शस्त्रों के मामले में सतर्कता तथा गंभीर विचार विनिमय तो अत्यंत आवश्यक है, परंतु इस विषय में दोनों महाशक्तियों में से किसी ने भी गहरी जिज्ञासा प्रकट नहीं की है। वास्तविक रूप में 1970 में तथा औपचारिक दृष्टि से 1972 में साल्ट समझौते (Salt Pact) द्वारा युद्धनीति विषयक समानता स्थापित हो जाने से सोवियत संघ की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से बढ़ी है। परंतु परमाणु शस्त्रों सहित सभी सैन्य क्षेत्रों में श्रेष्ठ तकनीकी ज्ञान के कारण अमरीकी प्रतिष्ठा आज भी यथावत है। वास्तव

में अमरीकी चिंता का मुख्य विषय तो सोवियत संघ की विशाल गैर-परमाणु सैन्य शक्ति है। रूस की गैर-परमाणु शक्ति का असर नाटो या कोरिया जैसे सीधे टकराव वाले क्षेत्रों में ही चिंता का कारण नहीं है बल्कि विशाल नौ-सेना, जबरदस्त वायुपरिवहन क्षमता के कारण रूस की पहुंच अब विश्व के दूरस्थ क्षेत्रों तक काफी बढ़ गई है। सातवें दशक के प्रारंभ में रूस कांगों संकट में हस्तक्षेप करने में समर्थ नहीं था लेकिन 1975 के अंगोला संकट में उसकी नौ-सेना वहां मौजूद थी। उसके वायुयान व जहाज तीव्र गति से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र उपलब्ध कराने की स्थिति में थे और उसके पास क्यूबा से सशस्त्र सेनाएं पहुंचाने के लिए तथा लंबी दूरी तक माल ढोने वाले वायुयान भी थे।

पिछड़े देशों को तो सैन्य विकास के लिए अधिकतर महाशक्तियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। कुछ देशों ने स्थायी सैन्य सहायता व राजनीतिक समर्थन के प्रलोभन में अपनी कार्य-स्वतंत्रता का कुछ अंश खोकर महाशक्तियों द्वारा नियंत्रित सैन्य संघों में शामिल होना स्वीकार किया तथा दीर्घकालीन सैन्य समझौते किए। परंतु वास्तविक लाभ महाशक्तियों का ही हुआ। वे शस्त्रास्त्र जो अब महाशक्तियों के मापदंड से बेकार हो गये थे अथवा पुराने पड़ गए थे, छोटे जरूरत-मंद देशों में खप गए या बेच दिए गए। इसके बदले में महाशक्तियों को इन देशों की सद्भावना, राजनीतिक समर्थन व पूंजी मिली। फिर यही पूंजी आर्थिक सहायता के रूप में खरीदार देशों को वापस लौटी जिससे वे फिर पुराने शस्त्र खरीद कर और अधिक सद्भावना व समर्थन दे सके। इस प्रकार महाशक्तियों एवं छोटे जरूरतमंद देशों के बीच आदान-प्रदान का एक नया सिलसिला शुरू हो गया। परंतु इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि विश्व के नए क्षेत्रों में महाशक्तियों का प्रभाव एवं उनकी उपस्थिति बढ़ गई। शस्त्रों के इस व्यापार से महाशक्तियों की सैन्य शक्ति तो कम नहीं हुई, क्योंकि विक्रीत शस्त्र उनके योग्य नहीं रह गए थे परंतु नए क्षेत्रों में प्रवेश से उनकी राजनीतिक शक्ति कई गुनी बढ़ गई। काश्मीर विवाद व भारत के साथ पाकिस्तान के बिगड़ते संबंधों का लाभ उठाकर अमेरिका ने पाकिस्तान को न केवल सैनिक संघों का सदस्य बनने के लिए विवश किया, वरन् पाकिस्तान को शस्त्र देकर भारत को भी सैन्य शक्ति बढ़ाने के लिए विवश किया। 1954 के अमरीका-पाक सैन्य समझौते से लेकर 1962 के चीनी आक्रमण तक पाकिस्तान पूरी तरह अमरीका के चंगुल में फंसा रहा और वह काश्मीर में अमरीकी समर्थन के बदले हर मामले में अमरीका का समर्थन करता रहा। भ्रम तब टूटा जब चीनी आक्रमण के समय अमरिकी सैन्य सहायता भारत आई। अब यह स्पष्ट हो गया

कि अमेरिका न तो पाकिस्तान का हितैषी है और न भारत का। उन दिनों पाकिस्तान व भारत दोनों को सैन्य सहायता देना तो 'रूस व चीन के बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोकने' के लिए अमेरिका की विश्वव्यापी रणनीति का अंग था। अमेरिका से निराश होकर पाकिस्तान अब भारत के विरुद्ध सैन्य सहायता एवं राजनीतिक समर्थन के लिये चीन की ओर झुकने लगा। चूंकि कश्मीर में पाकिस्तान के साथ तथा भारत-तिब्बत सीमा पर चीन के साथ भारत का विवाद था अतः यह स्थिति भी चीन और पाकिस्तान को आपस में निकट लाने में सहायक सिद्ध हुई। अमेरिका भारतीय उपमहाद्वीप में भी अपनी टांग अड़ाये रखना चाहता था, चीनी-रूसी विवाद अब खुलकर सामने आ गए थे, अमरीका और चीन के संबंध अब सुधरने लगे थे तथा चीन तथा अमेरिका को निकट लाने में पाकिस्तान भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। कश्मीर प्रश्न पर अब भी अमेरिका पाकिस्तान का समर्थक था। ऐसी स्थिति में विवश होकर भारत सहायता, समर्थन एवं सहयोग के लिए सोवियत संघ की ओर निरंतर झुकता गया, परंतु उतना ही जितना कि गुटनिरपेक्ष रहते हुए संभव था। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाशक्तियों ने किस प्रकार भारत व पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों के साथ उनके विवादों का लाभ उठाकर सैन्य सहायता, राजनीतिक समर्थन व आर्थिक सहयोग का नाटक खेला और किस प्रकार यह उपमहाद्वीप महाशक्तियों के शक्ति संघर्ष का अखाड़ा बना रहा। इसमें भारत और पाकिस्तान तो मात्र मोहरे थे। महाशक्तियां चाहतीं तो 1965 और 1971 के भारत-पाक युद्ध टल सकते थे और शायद कुछ समस्याओं का राजनीतिक समाधान भी हो सकता था।

जहां तक स्वतंत्र भारत के सैन्य विकास का प्रश्न है, भारत ने प्रारंभ से ही गुटों से अलग रहने की नीति अपनाई। पाकिस्तान तथा चीन सहित सभी पड़ौसी देशों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया, शीत युद्ध के दिनों में विश्व शान्ति के महत्वपूर्ण कार्य में अग्रिम भूमिका निभाई। चीन पर विश्वास और पंचशील के आदर्शों में आस्था तथा हिमालय की अपराजेयता के भ्रम में भारत 1962 तक सैन्य शक्ति के विकास की ओर से उदासीन बना रहा। परंतु 1962 के चीनी आक्रमण के बाद से भारत एक सुनियोजित नीति के आधार पर सैन्य शक्ति के विकास में लगा हुआ है। यद्यपि विदेशों से—विशेषकर सोवियत संघ से टैंक, वायुयान आदि आधुनिक युद्ध उपकरण मंगाए जाते रहे तथापि भारतीय रक्षा योजनाओं का लक्ष्य यही रहा कि विदेशी निर्भरता को कम किया जाए, विदेशी सहयोग से स्वदेशी सैन्य उत्पादन बढ़ाया जाए, स्वदेशी तकनीकी, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक जानकारी

का विकास किया जाए और अंत में शुद्ध स्वदेशी एवं आत्मनिर्भर रक्षा उद्योग की स्थापना की जाए। इस दिशा में संतोषजनक प्रगति हो रही है। भारत अब आधुनिक युद्धपोतों, वायुयानों एवं स्थल सेनाओं के युद्ध उपकरणों का निर्माण देश में ही करने लगा है। अतः विदेशी निर्भरता का अंश धीरे-धीरे काफी कम होता जा रहा है। इस सब के बावजूद भारत को शस्त्रास्त्रों के मामले में विदेशों पर काफी निर्भर रहना पड़ेगा क्योंकि यहां तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति विकसित देशों की तुलना में धीमी है तथा उनके और भारत के वर्तमान तकनीकी विकास स्तर में बड़ा अंतर है। इस स्थिति में यदि कोई भारत विरोधी पड़ौसी देश किसी बड़ी शक्ति से काफी मात्रा में आधुनिकतम ऐसे शस्त्र प्राप्त कर ले जो न तो भारत में बनते हों और न ही निकट भविष्य में उन्हें बना पाना संभव हो तो भारत के लिए शक्ति संतुलन बनाये रखने का एक ही विकल्प रह जायेगा कि वह भी उन शस्त्रों को विदेशों से प्राप्त करे। भारत एवं पाकिस्तान का अब तक का इतिहास इस सत्य का पर्याप्त प्रमाण है। फिर भी रक्षा उत्पादन उद्योग का एक विशाल एवं आधुनिक आधार जो स्वदेशी तकनीक एवं जानकारी पर आश्रित हो, निकट भविष्य के लिए भारतीय रक्षा नीति का एक न्यायोचित लक्ष्य हो सकता है। लगभग पिछले दो दशकों से भारत ऐसी ही रक्षा उत्पादन नीति को सफल बनाने के प्रयास में जुटा हुआ है।

सैन्य शक्ति एवं राजनीतिक शक्ति की यह विवेचना शायद अधूरी ही रह जाएगी यदि 'परमाणु शक्ति की जानकारी के प्रसार' को रोकने के मामले पर चर्चा नहीं की गई। यह मामला परमाणु शस्त्र संपन्न महाशक्तियों ने उठा रक्खा है। विश्व ऊर्जा-संकट के परिणामस्वरूप 1974 से यह विषय विशेष महत्वपूर्ण बन गया है क्योंकि अब परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोगों की मांग विशेष बल पकड़ रही है। 1974 में भारत ने भी सफल परमाणु विस्फोट करके विश्व का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। इस ज्वलंत विषय पर भी विश्व-मत कई गुटों में बंट गया है। अमेरिका एवं सोवियत संघ, जिनके पास परमाणु शस्त्रों का अपार भंडार है, इस बात की संभावना से विशेष चिंतित है कि परमाणु शस्त्र कहीं अन्य देशों व आतंकवादी संगठनों के हाथ में न पहुंच जाएं। अतः ये दोनों देश परमाणु शस्त्रों के प्रसार को रोकने के लिए एकमत हो गए हैं। इस विवाद के दूसरे सिरे पर ऊर्जा की कमी वाले वे देश हैं जो परमाणु शक्ति की सुविधा ऊर्जा के रूप में प्राप्त करने के इच्छुक हैं। ऐसे देश परमाणु ऊर्जा के निर्यात पर रोक एवं अन्य नियंत्रण रखने के प्रयासों का विरोध करते हैं। इन दोनों विरोधी मतों वाले वर्गों के बीच एक ऐसा वर्ग भी है जिसके पास पर्याप्त परमाणु क्षमता,

कुशलता एवं उसके विकास को घरेलू सुविधाएं उपलब्ध हैं। इस वर्ग में पश्चिमी जर्मनी, जापान, स्वीडन जैसे देश भी हैं जो परमाणु प्रसार निरोधक संधि पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। अपने परमाणु शक्ति विकास कार्यक्रमों के विस्तार की इन देशों की इच्छा, परमाणु शक्ति रहित देशों से इनके अच्छे संबंध, परमाणु शक्ति के निर्यात की संभावनाएं आदि मामले इस समय दांव पर लगे हुए हैं।

राजनीतिक शक्ति की दृष्टि से तीनों वर्ग एक दूसरे की इच्छापूर्ति पर पर्याप्त बंधन रखते हैं। जहां तक परमाणु ऊर्जा रहित तीसरे वर्ग के देशों की शस्त्र सम्बंधी समस्याओं का प्रश्न है, संयुक्त राज्य अमेरिका बीच के वर्ग से सहयोग की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि इन देशों के साथ परमाणु ईंधन की सप्लाई के मामले में और अधिक पूर्ण सहयोग स्थापित नहीं हो जाता। परमाणु शक्ति प्रसार निरोधक संधि स्वयं परमाणु शक्ति रहित देशों को न केवल परमाणु सहायता का न्यायिक अधिकार देती है, वरन् वह परमाणु शस्त्र संपन्न देशों को अपने परमाणु शस्त्रागारों को घटाने के लिए नैतिक एवं न्यायिक रूप से विवश भी करती है। साथ ही यह कहना भी उचित होगा कि आज अनेक देश तकनीकी विकास के ऐसे स्तर पर पहुंच गए हैं कि निर्णय लेने के कुछ महीने बाद ही वे परमाणु शस्त्र बना लेंगे। ऐसी स्थिति में परमाणु सुविधाओं के विकास एवं निर्यात पर सैद्धांतिक प्रतिबंधों का कोई विशेष औचित्य नहीं रह जाता क्योंकि ऐसे प्रतिबंध नए महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाने पर इतने कारगर सिद्ध नहीं हो सकते जो बीच के वर्ग के देशों एवं संयुक्त राज्य अमरीका के संबंधों के बीच उत्पन्न हो सकने वाले सभी संभावित प्रभावों को कम कर सकें। किसी देश में परमाणु शस्त्र निर्माण क्षमता का होना स्वयं उसकी शक्ति का एक महत्वपूर्ण पहलू बन जाता है, चाहे वह देश इस क्षमता का प्रयोग करे अथवा नहीं। शस्त्र निर्माण क्षमता का वास्तविक प्रयोग संपूर्ण विश्व के लिए या किसी क्षेत्र विशेष के लिए प्रकोप तथा चिंता का कारण तो हो सकता है, परंतु किसी शस्त्रनिर्माण क्षमता वाले देश को ऐसे प्रदर्शन या निर्णय से कोई विशेष लाभ होगा, इसमें संदेह है; यद्यपि उसे कुछ उपलब्धि हो सकती है। क्या ऐसा करने से दूसरे देशों को भयभीत किया जा सकेगा? उस देश की आंतरिक राजनीति पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? आतंकवादियों या विरोधी राजनीतिक आंदोलनों पर इसका क्या प्रभाव होगा, आदि अनेक प्रश्न इस तथ्य से जुड़े हुए हैं। अतः एक बार फिर, जैसा कि इस विवेचना में हम अनुभव करते हैं, विनाश के उपकरणों और राष्ट्रों के राजनीतिक प्रभाव का गहरा संबंध जुड़ गया है।

जैसा कि इस लेख के पूर्वार्ध में स्पष्ट किया जा चुका है, राष्ट्रीय शक्ति के अंगों में सैन्य शक्ति परंपरागत दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली रही है । परंतु द्वितीय विश्व के विनाश के बाद तथा परमाणु शस्त्रों के भय के कारण विश्व के बड़े औद्योगिक राष्ट्रों में युद्ध एक अनुपयोगी साधन माना जाने लगा है और इसी कारण से अब राजनीतिक उद्देश्यों एवं सैन्य साधनों के परंपरागत संबंधों में परिवर्तन करने की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी है ।

एक ओर जहां राष्ट्रीय उद्देश्यों का प्रश्न है विकसित राष्ट्रों ने जन-हित वाले अर्थशास्त्र को आमतौर से अपना लिया है और सैनिक गौरव एवं शान की भावना का त्याग किया जाने लगा है । ये राष्ट्र अब मानने लगे हैं कि सफलता का मार्ग व्यापारिक सहयोग एवं आर्थिक आदान-प्रदान है न कि सैन्य विजय और व्यापारिक टकराव । उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर आधुनिक औद्योगिक समाज में, जिसमें अधिकांश पश्चिमी राष्ट्र आते हैं, अनेक नई मान्यताएं बन गई हैं जैसे—प्रमुख राष्ट्रीय उद्देश्य आर्थिक हैं उनकी प्राप्ति के लिए सैन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं हैं, सैन्य शक्ति का प्रयोग बहुत महंगा और अरुचिकर है, आदि । इसके अतिरिक्त आधुनिक समाज जनवादी हैं, जिनमें संपर्क का आधार जन राजनीति तथा जन माध्यम है । ऐसे समाजों में यदि कोई क्षेत्रीय विस्तार करना भी चाहे तो उसकी सफलता के मार्ग में अनेक नए व्यावहारिक व्यवधान आ जाते हैं । ऐसे समाजों की दुनियां में उत्पादन, व्यापार, पूंजी लगाना आदि न केवल आर्थिक जनहित के सर्वोत्तम मार्ग हैं, वरन् आत्मसम्मान, प्रतिष्ठा, समृद्धि जैसे उद्देश्यों की प्राप्ति का भी प्रमुख साधन हैं । अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संचालन में सैनिक एवं आर्थिक संस्थाओं का प्रभाव इतना बढ़ता जा रहा है कि विशाल सैनिक प्रतिष्ठानों की स्थापना के बिना भी राष्ट्र महान व शक्तिशाली राष्ट्रों में गिने जा सकते हैं । अपनी सैन्य श्रेष्ठता बनाये रखने के बावजूद, पिछले कुछ वर्षों में महाशक्तियों के प्रभाव में गिरावट का आना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है ।

युद्ध उपकरणों में परिवर्तन के कारण भी सैन्य शक्ति के प्रयोग की संभावनाएं कम होती जा रही हैं । बड़ी शक्तियों द्वारा संचित परमाणु शक्ति का आत्मविनाशक स्वरूप भी इसका कारण है । जिस प्रकार आज के आधुनिक उद्देश्य शक्ति द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार सैन्य साधन भी, जिनमें परमाणु शक्ति प्रमुख है, इस योग्य नहीं हैं कि इनसे लक्ष्य की प्राप्ति की जा सके । जहां तक परमाणु शस्त्रों से युक्त राष्ट्रों का प्रश्न है, विजय न तो एक को बरबाद करने के लिए आवश्यक है और न दूसरे को बरबादी से बचाये रखने के लिए । विजेता के

उद्देश्यों की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किसी भी सशस्त्र संघर्ष में विनाश के भय के कारण सामरिक परमाणु शक्ति के प्रयोग पर आधारित आत्मसंयम की भावना 'छोटे उद्देश्यों के लिए कम शक्ति के प्रयोग' के सिद्धांत को भी निगल गई है। सीमित युद्ध के पक्षपाती विचारकों एवं चिंतकों ने इस निष्कर्ष को अप्रभावी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है, परंतु वे असफल रहे हैं। अब यह विश्वास सर्वमान्य सा हो गया है कि परमाणु शस्त्र प्रयोग प्रभावी नहीं है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि विकसित राष्ट्र यह सुनिश्चित करें कि परमाणु शस्त्रों का प्रयोग ही न किया जाए और इस आधार पर आपस में युद्ध करने के इरादे पर पूर्ण संयम रखें।

राजनीतिक उद्देश्यों और सैन्य साधनों के आपसी संबंधों में ये मूल परिवर्तन, जो आज सामरिक विवादों का आम विषय है, सशस्त्र सेनाओं की उपयोगिता के भ्रम को दूर करते हैं। आज के विश्व की कुछ अन्य विशेषताएं एवं गुण भी है, जिनके कारण सशस्त्र सेनाओं की उपयोगिता कम हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों ने जर्मनी एवं जापान पर अपनी विशेष छाप छोड़ी है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो एशिया एवं अन्य विकासशील क्षेत्रों में परिवर्तन की गति को अपने सैन्य प्रयासों द्वारा नियंत्रित करना चाहता था, बुरी तरह असफल रहा है। वियतनाम युद्ध के परिणामों ने अमेरिका में न केवल व्यापक एवं रोषपूर्ण सैन्यवाद विरोधी भावना को जन्म दिया, बल्कि वहां वियतनाम युद्ध में अमरीकी उद्देश्यों एवं प्रयुक्त विधियों की भी जमकर भर्त्सना एवं आलोचना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के शीत युद्धीय टकराव की स्थिति की तुलना में अमेरिका आज, जब उसके रूस व चीन से संबंध सुधरने लगे हैं, अधिक सुरक्षा की भावना का अनुभव कर रहा है। फलस्वरूप निरस्त्रीकरण एवं सामरिक परमाणु शस्त्रों को नियंत्रित करने की दिशा में प्रगति व आशा पनपने लगी है। इस अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण भी सैन्य शक्ति की उपयोगिता पर प्रहार हुआ है।

वर्तमान वातावरण में सैन्य शक्ति के प्रयोग की संभावनाओं पर अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय 'राजनीतिक व्यवस्थाओं' ने, विशेष कर प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं ने और नए अंकुश लगा दिए हैं। फिर भी एक प्रश्न यह है कि वर्तमान वातावरण कितने मूल, स्थायी एवं दूरगामी परिवर्तनों पर टिका है? दूसरा प्रश्न है कि राजनीतिक उद्देश्यों एवं सैन्य साधनों के वर्तमान संबंधों के संदर्भ में सैन्य शक्ति के विकास की अवहेलना करना कहां तक सुरक्षित तथा उचित है? या फिर वर्तमान स्थिति केवल तब तक के लिए ही है जब तक दो गुटों के मध्य सैन्य शक्ति

संतुलन की स्थिति कायम है। परंतु यह भी सत्य है कि जब तक एक राष्ट्र के विशाल सैन्य प्रतिष्ठान कायम हैं, तब तक मात्र उनके अस्तित्व से दूसरे राष्ट्र में अपनी रक्षा करने की भावना उत्पन्न होती रहेगी। यह स्थिति उसे तब तक सैन्य शक्ति के विकास की प्रेरणा देती रहती है और देती रहेगी जब तक कि दोनों पक्षों के मध्य विश्वसनीय व स्थायी शक्ति संतुलन स्थापित नहीं हो जाता। परंतु इस में भी सन्देह नहीं है कि किसी राष्ट्र की श्रेष्ठ सैन्य शक्ति समझौता वा ि ों के दौरान उसके आत्मविश्वास को बढ़ाती है।

वस्तुतः आज सैन्य शक्ति नीति-संचालन का एक शालीन साधन नहीं है। आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति में रत औद्योगिक व प्रगतिशील समाज में सैन्य शक्ति द्वारा ठोस उपलब्धियाँ नहीं हो सकतीं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सैन्य शक्ति के प्रति विद्रोह की भावना बढ़ती जाए। वर्तमान परमाणु हथियारों का भय अन्य शक्तियों को भी परमाणु शक्ति प्राप्त करने के लिए उकसाता है ैर साथ ही उससे किसी को संतुष्टि नहीं होती है। यही नहीं गैर परमाणु हथियार शत्रु को भयभीत करने तथा सुरक्षा की दृष्टि से भी अपर्याप्त एवं अपूर्ण हैं। किंतु एक अन्य दृष्टि से ये घातक भी हैं क्योंकि ये युद्ध की संभावनाओं को पूर्णतया समाप्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इस सब कारणों से राष्ट्रों का रुझान गैर सैनिक साधनों के प्रयोग की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाएगा।

संदर्भ

Bull Hedley 1962, The Control of the Arms Race, New York. Praeger.

Brezezinski and Huntington; 1964. Political Power USA/USSR, New York, The Viking Press.

Earle, Edward Mead (Editor) 1943, Makers of Modern Strategy; Military Thought From Machiavelli to Hitler, Princeton University Press.

Halperin Morton H, 1963, Limited War in the Nuclear Age New York, John Wiley and Son.

Huntington, Samuel P. (Editor) 1962, Changing Pattern of Military Politics, New York; Free Press.

Huntington, Samuel P., 1961. The Common Defence, New York, Columbia University Press.

Herz, John H, 1959, International Politics in the Nuclear Age,

New York, Columbia University Press.

Jordan Ames A, Foreign Aid and the Defence of South East Asia, New York, Praeger.

Know, Klaus, 1956, War Potential of Nations, Princeton University Press.

Know, Klaus, 1957, The Concept of Economic Potential for War, World Politics 10, 49-62.

Know, Klaus, 1966, On the uses of Military Power in the Nuclear Age, Princeton University Press.

Kahn, Herman, 1961, On Thermonuclear War. Princeton University Press.

Kissinger, Henry A, 1960. The necessity for choice, New York.

Morgerthou, H. 1973, Politics Among Nations, Scientific Book Agency.

Osgood, Robert E, 1957, Limited War, Chicago University Press.

Schelling, 1960, The Strategy of Conflict, Cambridge, Harward University Press.

Wright, Quincy, 1942, A study of War, University of Chicago Press.

Singer, David J, 1942, Deterence, Arms Control and Disarmament.

Adelphl Papers, Pub : The International Institute for Strategic Studies, London.

No. 91, East Asia and the World System, Part I The Super Powers & the context.

No. 92, East Asia and the World System, Part II, The regional Powers.

No. 93, Conflicts in Africa.

No. 94, The U.S. Forces and the Zero Drafts.

No. 102, Force in Modern Societies : Its place in International Politics.

युद्ध पर विज्ञान और टेक्नोलाजी का प्रभाव

-- कर्नल आर० रामा राव (सेवानिवृत्त)

भूमिका

युद्ध के लिए अपेक्षित मानव शक्ति तथा भौतिक संसाधनों का निवेश करने के इच्छुक लोगों के लिए मनुष्य और माल-असबाब को पास अथवा दूर से नष्ट करने के साधन जुटा कर; भूमि, जल, समुद्री सतह के नीचे अथवा वायु में मनुष्य और सामग्री को अविलंब पहुंचाकर दूर-दराज के स्थानों में घटने वाली घटनाओं का नियंत्रण करने के लिए राष्ट्रीय नेताओं को और युद्ध भूमि में कमांडरों को सुविधा देकर और संसार के किसी भी भाग में युद्धरत अपनी सेनाओं के साथ तत्क्षण संपर्क स्थापित करने के साधन देकर विज्ञान और टेक्नोलाजी ने युद्ध-पद्धति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। इस प्रभाव से युद्ध संचालन में गुणात्मक परिवर्तन आए हैं। जो शस्त्र लाखों स्त्री-पुरुषों और बच्चों की, पशुओं तथा अन्य जीव-जंतुओं की हत्या कर सकते हैं; एक ही प्रहार में पूरे-के-पूरे शहरों और विस्तृत देहाती क्षेत्रों को नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं; पर्यावरण को दशकों के लिए दूषित कर सकते हैं; मौत से बच जाने वाले हजारों लोगों को जीवन भर के लिए अपंग बना सकते हैं और पृथ्वी पर जीवन को अन्य अनेक प्रकार की ऐसी क्षतियां पहुंचा सकते हैं जिनके बारे में अब तक स्पष्ट रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है, ऐसे शस्त्रों को राष्ट्रीय नेताओं के और युद्ध भूमि में उनके कमांडरों के हाथों में सौंपकर विज्ञान और टेक्नोलाजी बड़े पैमाने के युद्ध के स्वरूप और परिणामों को बदलते रहे हैं। गत दो दशकों के दौरान, ऐसे यानों के विकास के लिए, जो निकट अंतरिक्ष में चल सकते हैं और दूरस्थ नियंत्रण के जरिए वापिस बुलाए जा सकते हैं अथवा फिर से भूमि पर चलाए जा सकते हैं, टेक्नोलाजी के साथ महाविनाशकारी शक्ति वाले शस्त्रों के निर्माण के लिए टेक्नोलाजियों के प्रयोग से युद्ध पद्धति ने पहले की तुलना में कहीं अधिक अनिष्टकारी रूप धारण कर लिया है। साथ-ही-साथ, टाइफून बनाने की तकनीकों और अन्य प्रकार से सीमित क्षेत्रों में मौसम-संबंधी तथ्यों में हस्तक्षेप करने और अत्यधिक विषाक्त रासायनिक, जैविक अथवा विकिरण कारकों के जरिए रोग फैलाने की तकनीकों में भी परिष्कार हुआ है।

विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान

युद्ध के अन्य पहलुओं में, जैसे मनुष्यों के मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले पक्षों में, सामाजिक विज्ञानों में अनुसंधान, जिसमें राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था और समूह व व्यक्तिपरक मनोविज्ञान सहित समाज-विज्ञान, शहरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभाव भी शामिल हैं, मनोवैज्ञानिक युद्ध पद्धति में परिष्करणों का, और ऐसे राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए विनाशक तकनीकों के उपयोग का कारण बना है जो पहले के युग में प्रत्यक्ष सैनिक कार्रवाई और घोर हिंसा के द्वारा ही संभव होते थे ।

युद्ध की विनाशकारी संभाव्यता को बढ़ाने में प्राकृतिक विज्ञान का योगदान सरलता से दीख पड़ता है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने अथवा बढ़ाने में तथा एक बार युद्ध छिड़ जाने पर, युद्ध की प्रक्रिया को, हिंसा की मात्रा को और यहां तक कि युद्ध के स्वरूप को प्रभावित करने में सामाजिक विज्ञानों के योगदान को संभवतः इतने सहज रूप में नहीं माना जाता है ।

यद्यपि बड़ा अजीब लगता है फिर भी यह कहना अनिवार्य रूप से उचित होगा कि मानव इतिहास का बहुत बड़ा हिस्सा युद्धपद्धति का इतिहास है जो क्रमशः इस बात का विवरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार मनुष्य अपने उपकरणों में अधिक मारक शक्ति भरने के साथ-साथ इनसे अपने लक्ष्यों पर और अधिक दूरी से प्रहार करने के जरिए युद्ध-पद्धति में होने वाली हिंसा की तीव्रता को आहिस्ता आहिस्ता बढ़ाने में सफल हुआ है ।

युगांतरकारी घटनाएं

अग्नि के प्रयोग और नियंत्रण की खोज तथा पृथ्वी के धरातल से और कालांतर में उथली खानों से कच्ची धातुएं निकालने और उनके परिष्करण की योग्यता हासिल करने के उपरांत युद्ध पर विज्ञान का सर्वाधिक निर्णायक प्रभाव तब पड़ा जब मनुष्य ने बारूद के संघटन की खोज की और उस समय वह जो पदार्थ इकट्ठे कर सकता था उसने बारूद बनाना सीखा ।

साथ ही साथ प्रचलित मानकों की दृष्टि से जो हथियार आदिम माने जाते थे उन्हें भी गढ़ा जाने लगा । वे बारूद के इस्तेमाल से कुछ दूरी तक गोले फेंक सकते थे और इस प्रकार किलेबंदियां तोड़ते थे और मनुष्यों और पशुओं की हत्या करते थे ।

इस विकास में कई दशाब्दियों का समय लगा और युद्ध के प्रयोजनों के लिए विज्ञान और टेक्नोलाजी के इस्तेमाल में यह एक युगांतर का प्रतिनिधित्व करता है। बाद में शस्त्रों और उनके गोला-बारूद के परिष्करण पर मुख्य रूप से बल दिया गया जिससे कि शस्त्रों को अधिक कारगर, हल्का, अचूक और अधिक सुरक्षित तरीके से चलाए जा सकने वाला बनाया जा सके।

इंजन तथा शक्ति उत्पादन के लिए वाष्प शक्ति के इस्तेमाल के साथ टेक्नोलाजी ने युद्ध पर उत्तरोत्तर प्रबल प्रभाव डालना शुरू किया। वाष्प शक्ति से रेलों का निर्माण संभव हुआ और प्रशिया के सम्राटों ने रेलों का पूरा-पूरा इस्तेमाल सेनाओं को शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए किया जिससे कि मोर्चे पर कुमुक भेजी जा सकी और युद्ध-भूमि से बीमारों और घायलों को शीघ्रता से हटाया जा सका। जहाज़ चलाने के लिए वाष्प शक्ति का इस्तेमाल होने से बड़े-बड़े जहाज़ बनाए जाने लगे जो समुद्र को अधिक समय तक झेल सकते हों और साथ ही उनमें अधिक प्रहार शक्ति तथा टिकाऊपन भी होता था क्योंकि उन पर बड़े आकार की और अधिक मात्रा में तोपें रखी जा सकती थीं। भौतिक विज्ञान में हुई लगातार प्रगति के कारण आघाती शक्ति (अथवा फायर शक्ति) में सुधार संभव हुए जिससे कि सामग्री की पहचान की जा सकी, उसका परिष्करण किया जा सका और शस्त्रों में प्रयोग के लिए विस्फोटकों का विकास हुआ।

युद्ध पर निर्णायक प्रभाव

युद्ध जैसे प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल किए जाने के लिए टेक्नोलाजी का एक विशेष स्तर तक पहुंचना और एक आधार बनाना जरूरी था। जैसे-जैसे इस आधार का विस्तार हुआ वैसे-वैसे युद्ध के लिए टेक्नोलाजी का प्रयोग सामान्य बात होती गई और इसके साथ-साथ युद्धपद्धति पर उसका प्रभाव भी स्पष्ट होता गया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ही युद्ध पर टेक्नोलाजी का निर्णायक प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। 1871 में, उस समय बनाए जा सकने वाले सबसे अच्छे अग्निअस्त्रों से अपनी सेनाओं को लैस करके प्रशिया के सेनानायक देश में बनाई गई रेल-व्यवस्था का लाभ उठा सके और इस प्रकार मोर्चे पर चुने हुए स्थानों पर सैन्य बल को अविलंब एकत्रित करने में सफल हुए। लगभग इसी समय, अग्निअस्त्रों से दहन की गैसों के पश्च कक्ष निकास को बंद करने के लिए यांत्रिक तालों के विकास और शस्त्रों व राइफल युक्त नालों के बीच भरण के विकास जैसे परिष्करण सामने आए। इससे शस्त्रों की सुरक्षा में सुधार के साथ साथ शस्त्रों की प्रभाविता में भी वृद्धि हुई। इसके कुछ ही समय बाद, बीसवीं

शताब्दी के शुरू होते ही, पहले ब्रिटिश नौ-सेना ने और उसके बाद अन्य नौसेनाओं ने पाल से चलने वाले लकड़ी के युद्ध पोतों के स्थान पर भाप के इंजनों से चलने वाले इस्पात से बने जहाजों को काम में लाना शुरू कर दिया। लगभग इसी समय मैक्सवेल, फैराडे तथा अन्य वैज्ञानिकों की खोजों के फलस्वरूप विद्युत उत्पादन के नियंत्रक सिद्धांत स्पष्ट हो गए और शक्ति तथा प्रकाश की व्यवस्था के लिए तथा तार के जरिए संदेश प्रेषण के लिए उनका इस्तेमाल होने लगा। इस प्रकार युद्ध भूमि पर एक स्थान से दूसरे स्थान को और अगले मोर्चों से पिछले मोर्चों को तथा पिछले मोर्चों से अगले सोपानकों को संदेश भेजने के लिए सेनाओं को संदेशवाहकों की आवश्यकता नहीं रही।

इससे अलग-अलग कमांडरों की कमान के क्षेत्र का विस्तार हुआ और कमांडरों को सेनाओं के मुख्य सोपानकों के अधिकाधिक पीछे की ओर रखा जाने लगा। किंतु इससे उच्च कमांडरों और राजनीतिक नेताओं को मोर्चे की गतिविधियों के विषय में अधिक सही और अद्यतन जानकारी हासिल हो सकी; जिसके कारण लड़ाई के मोर्चे पर स्थिति परिवर्तन के लिए उच्च कमांडरों से अधिक शीघ्रता से और अधिक प्रभावकारी आदेश दिए जा सके।

युद्ध-क्षेत्रीय तार और बाद में महासागरीय तार-संचार के विकास के अतिरिक्त आंतरिक दहन इंजन के निर्माण में प्रगति और वाहनों को चलाने में इसका इस्तेमाल, युद्ध के लिए टेक्नोलाजी के प्रयोग में एक युगांतरकारी घटना है। इन विकासों ने टेक्नोलाजिकल युद्धपद्धति युग के प्रवर्तन की घोषणा की।

जहां अंतर्दहन इंजन ने शक्ति चालित वाहनों के इस्तेमाल के कारण थल सेनाओं को अधिक गतिशीलता प्रदान की, वहां विद्युत डायनमो, तथा मशीनों के निर्माण के लिए इस्पात के प्रयोग के कारण हुई सामान्य औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप निमज्जनीय जलयान का निर्माण संभव हो सका जिसकी क्षमताएं समुद्र पर आक्रमण करने वाले अस्त्रों के रूप में शीघ्र ही स्वीकृत हो गईं और उन देशों में उसका पूरा पूरा लाभ उठाया गया जहां औद्योगिक क्रांति हुई थी।

20वीं शताब्दी में हुए विकास

यद्यपि अंतर्दहन इंजन, विद्युत और तार व्यवस्था का विकास बीसवीं शताब्दी के शुरू होने के साथ-साथ हो चुका था, किंतु युद्ध में उनका बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाना अभी बाकी था। तथापि शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में राइट बंधुओं के सार्थक अध्यवसाय के फलस्वरूप यह सिद्ध हो गया था कि 'वायु से अधिक

वजनी' मशीनों का निर्माण किया जा सकता है और मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए उन्हें प्रयोग में ला सकता है। इससे पहले, गैस भरे गुब्बारे उड़ाए अवश्य गए थे किंतु उनकी सीमाएं उन प्रतिबंधों से स्पष्ट थीं जिनके अंतर्गत उनके निर्माताओं को उनका संचालन करना पड़ता था।

प्रथम विश्व युद्ध बहुत लंबी अवधि तक चला, जिसके कारण तत्कालीन प्राय: सभी मुख्य औद्योगिक और उपनिवेशी शक्तियों ने अधिक सस्ता कच्चा माल निरंतर हासिल करने तथा एकाधिकार बाज़ार बनाए रखने के उद्देश्य से अपने उपनिवेशों को नियंत्रण में रखने की उनकी साझेदारी ने सशस्त्र सेनाओं द्वारा टेक्नोलाजी के उपयोग के लाभ-साधन को प्रोत्साहन दिया। इस युद्ध के दौरान प्रयोग में लाए गए उल्लेखनीय अस्त्र-शस्त्र, उपकरण और टेक्नोलाजी विषयक नवीन आविष्कार निम्नलिखित थे (1) टैंक, (2) वायुयान, (3) पनडुब्बी और (4) विषैली गैस।

उस समय टैंक को केवल एक शस्त्र वाहन ही समझा जाता था क्योंकि इसकी मोटी चद्दर के कारण खाइयों से की जाने वाली गोलाबारी से यह अपेक्षाकृत निरापद रहता था और शत्रु की गोलाबारी से आच्छादित मैदान के पार खाई में तैनात फौजों को गोला-बारूद पहुंचाने के लिए इसका इस्तेमाल बेखटके किया जा सकता था।

तब से इस शस्त्र का मैदानी युद्ध-पद्धति में प्रमुख स्थान हो गया है। इसका श्रेय उन टेक्नोलाजिकल सुधारों को है, जिन्हें अधिक नई और मजबूत मिश्रधातुओं का उपयोग करके, टैंक के नाजुक भागों को बेहतर आकार देकर, इसमें और अधिक सशक्त प्रमुख चालक लगाकर और इस प्रकार और अधिक स्थायित्व व गतिशीलता प्रदान करके और सबसे बढ़कर ऐसी अधिक अचूक व सशक्त तोपों और प्रक्षेपणास्त्रों को लगाकर शस्त्र पद्धति में किया जा सका जो अनेक प्रकार के हैदानी अथवा हवाई लक्ष्यों पर अधिक मारक क्षमताओं के साथ काम में आ सके। परमाणु युग में टैंकों और बख्तरबंद गाड़ियों को सामान्यत: और भी अधिक महत्व मिल गया है।

वायुयान

राइट बंधुओं की सफल परीक्षण उड़ानों के बाद बहुत शीघ्र ही अमेरिका और ब्रिटेन में सेना के साथ-साथ अन्य लोगों ने भी उन संभावनाओं की स्पष्ट अनुभूति कर ली जिनका मार्ग 'उड़ने वाली मशीनों' ने प्रशस्त कर दिया था और अनेक ऐसी मशीनें बनाई भी गईं जिससे ब्रिटेनवासी इन मशीनों को अपनी युद्ध

मशीनों में सम्मिलित कर पाए और इस प्रकार उन्होंने युद्ध को 'तीसरा आयाम' दिया (जनरल फुलर का 'चौथा आयाम' अंतरिक्ष के गुणधर्मों की खोज के साथ और बेतार तरंगों के प्रसारण का अवसर देने में इसकी क्षमता के साथ कालांतर में आना था)। दोनों युद्धों के बीच के वर्षों में, तदनंतर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान तथा द्वितीय युद्ध के बाद की दशाब्दियों में वायुयान टेक्नोलाजी और वायु-अंतरिक्ष विज्ञानों ने और भी अधिक द्रुत गति से अपूर्व प्रगति की है। इन टेक्नोलाजियों ने युद्ध पद्धति में आमूल परिवर्तन ला दिया है।

समुद्र शक्ति

तत्कालीन अन्य मुख्य शक्तियों की नौसेनाओं के समान, ब्रिटिश नौसेना में भी मुख्यतः विविध प्रकार की तोपों से युक्त सतही जलयान ही शामिल थे। सुरंगें बिछाने और सुरंगें हटाने के लिए पोत भी नौसेनाओं का अंग होते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ब्रिटेन तथा यूरोप दोनों में छोटी निमज्जनीय नौकाएं बनने लगी थीं, किंतु युद्ध में इस्तेमाल की जा सकने वाली पनडुब्बियां इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ही बनाई गईं। इस प्रकार प्रथम युद्ध शुरू होने के समय जर्मनी और ब्रिटेन के पास यह नई शस्त्र-प्रणाली थी जो कुछ दूर तक यद्यपि बहुत धीमी गति से जल के नीचे समुद्र का गश्त लगा सकती थी और आशंका रहित सतही जहाजों के लिए कठिन संकट उत्पन्न कर सकती थी। सर्वाधिक शक्तिशाली रणपोतों (जंगी जहाज) के साथ निहत्थे सौदागर भी महासागर के नीचे घात में लगी पनडुब्बियों के अकस्मात् व विध्वंसक आक्रमणों का शिकार हो सकते थे।

विषैली गैसें

प्रथम विश्व युद्ध ने जो अन्य मुख्य नया परिवर्तन देखा वह था खाई में तैनात फौजों के विरुद्ध मारक के रूप में विषैली गैसों का प्रयोग। यदि फौजें अरक्षित होती हैं और विषैले रासायनिकों के प्रभाव में आ जाती हैं तो शीघ्र ही अक्षम हो जाती हैं और आक्रमणकारी फौजें उन्हें पराजित कर देती हैं क्योंकि उनकी ओर से जो विषैले पदार्थ फैंके जाते हैं उनके प्रभावसे बचने के लिए वे स्वयं पूरी तरह सुरक्षित होती हैं। इस शस्त्र की अनेक सीमाएं हैं किंतु युद्धभूमि में प्रयोग के प्रारंभिक दिनों में यह शस्त्र बहुत कारगर सिद्ध हुआ क्योंकि इसका प्रहार बहुत अप्रत्याशित होता था और इसके साथ ही प्रतिरक्षियों को जवाबी हमला करने के लिए, रक्षात्मक उपकरणों का निर्माण करने और उन्हें काम में लाने के लिए तथा लाखों की तादाद में फौजों को उनके सही प्रयोग का प्रशिक्षण देने के लिए समय की आवश्यकता

होती थी। तथापि प्रथम विश्व युद्ध के अंत में यह सामान्य सर्वसम्मति थी कि युद्ध में विषैली गैसों का प्रयोग निषिद्ध होना चाहिए। परिणामतः इस शस्त्र को अवैध घोषित करने वाला 1924 का जेनैवा सम्मेलन हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग किसी भी पक्ष ने नहीं किया, यद्यपि अंतर्युद्ध अवधि के दौरान कम-से-कम एक यूरोपीय शक्ति, मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली, ने इथियोपिया के खिलाफ गैस का प्रयोग किया था ।

अंतर्युद्ध वर्ष

हिटलर के शासन में जर्मनी में युद्ध विज्ञान और वायुयान टेक्नोलाजी में सामान्यतः काफी प्रगति की गई थी जो कालांतर में व्यापारी और युद्ध पोतों के विरुद्ध प्रयोग के लिए तथा बख्तरबंद गाड़ियों के निर्माण में, राकेटों के विकास, पनडुब्बियों, चुंबकीय सुरंगों समेत सुरंगों के निर्माण का कारण बनी । यूरेनियम एटम के विस्फोट की खोज के बाद न्यूक्लीय शक्ति के अध्ययन में भी अच्छी प्रगति की गई ।

ब्रिटेन में, चौथे दशक का अंत आते-आते यह सामान्य धारणा हो गई थी कि जर्मनी के साथ युद्ध अपरिहार्य है और टैंक तथा पनडुब्बियां बनाने के लिए वैज्ञानिक प्रयत्न किए गए । वायुयान टेक्नोलाजी की ओर भी ध्यान दिया गया । ब्रिटिश वैज्ञानिकों का सबसे उल्लेखनीय योगदान था विद्युत-चुंबकीय स्पेक्ट्रम के गुणधर्मों की खोज जिससे परावर्ती सतहों वाले पिंडों की दूरी जानने के लिए सेंटीमीटर तरंगों का प्रयोग संभव हुआ । इसके कारण रडार (रेडियो संसूचन व परासण) का विकास हुआ जिसे द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन के युद्ध के दौरान एक निर्णायक भूमिका निभानी थी ।

द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने के समय क्षेत्र संचार के लिए बेतार उपकरण का प्रयोग शुरू हो चुका था जिससे सशस्त्र सेनाएं जनरल फुलर के शब्दों में 'चतुर्थ आयाम' में सैन्य संचालन कर पाईं ।

द्वितीय विश्व युद्ध

इस युद्ध के दौरान नए और बेहतर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए, पहले से प्रयोग में आ रहे शस्त्रों अथवा शत्रुओं द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले संभावित शस्त्रों का मुकाबला करने के लिए तकनीकों और उपकरणों की खोज करने के लिए और सामान्यतः सैन्य कार्रवाइयों की योजना, विश्लेषण तथा संचालन के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करने के लिए विज्ञान तथा टेक्नोलाजी पर अधिकाधिक निर्भर किया जाने लगा ।

बख्तरबंद गाड़ियों—टैंकों और कवचधारी कार्मिकों को ले जाने वाले वाहनों (एपी सी) का भी इस युद्ध में बहुत महत्व हो गया। जनरल दि गाल और फुलर ने पूर्वानुमान लगा लिया था कि सुरक्षा, गतिशीलता और अग्निशक्ति के कारण टैंक युद्ध क्षेत्र पर छा जाएंगे। उनके तर्क के अनुसरण में जर्मनों ने कवचधारी सेनाएं बनाईं और यूरोप में जनरल गुडेरियन और बाद में उत्तरी अफ्रीका में जनरल रोमेल ने यह सिद्ध कर दिया कि सही नेतृत्व में कवचधारी सेनाएं क्या-क्या कौशल दिखा सकती हैं। किंतु इस शस्त्र के साथ-साथ तोपों, पनडुब्बियों तथा वायुयान के बनाने में लगे टेक्नोलाजिकल निवेशों की प्रकृति क्रांतिकारी विकासों की न होकर अनिवार्यतः विकासमूलक थी। तथापि, सुरंग युद्ध-पद्धति में नवप्रवर्ती प्रकार के विकास पहले पहल उन चुंबकीय सुरंगों के रूप में आए जो उथले जल के तल में बिछा देने पर उस समय स्वतः विस्फोटित हो जाती थीं जब जहाज़ सीधे सुरंग के ऊपर से अथवा निकट से गुजरते थे। अपने आकस्मिक प्रभाव के कारण इस शस्त्र ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों को बहुत बड़ी संख्या में नष्ट कर दिया और मित्र राष्ट्रों ने शीघ्र ही जहाज़ों को विचुंबकित करके प्रतिरक्षा उपाय कर लिए। स्थल युद्ध-पद्धति के लिए प्लास्टिक सुरंगों का विकास किया गया जिनका पता सुरंग हटाने की प्रक्रियाओं से नहीं लगाया जा सकता था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान विकसित नवप्रवर्ती प्रकार के मुख्य अस्त्र-शस्त्र थे। दीर्घ परास राकेट, न्यूक्लीय विस्फोट शस्त्र, सामरिक महत्व के शस्त्रों के पुरोगामी शस्त्र और आज के उपग्रह। इनके अतिरिक्त सैन्य संचालन संबंधी विश्लेषण की तकनीकों में अधिकतम फलसिद्धि के लिए वैज्ञानिक विधि के प्रयोग के साथ-साथ उन इंजीनियरी परियोजनाओं के नियोजन और संपादन के लिए तकनीकों में परिष्करण किया गया जो तब से उद्योग में निरंतर योग देता रहा है।

प्रथम युद्ध की तुलना में भी द्वितीय विश्वयुद्ध कहीं अधिक पूर्ण युद्ध था जिसके दौरान युद्धरत राष्ट्रों ने अपने सारे साधनों को युद्ध के संचालन में लगा दिया।

सामरिक अनुसंधान

बड़ी मात्रा में युद्ध-सामग्री के साथ-साथ बड़ी-बड़ी फौजी टुकड़ियों की अवाजाही के कारण बड़ी संख्या में जहाज़ों के नियमित प्रयोग की आवश्यकता पड़ी, विशेषतः अटलांटिक महासागर में, जो एक सक्रिय महासागरीय कड़ी बन गया था। महासागरीय राजमार्ग पर उपयुक्त स्थानों पर छिपी जर्मन पनडुब्बियां अपेक्षाकृत कम जोखिम के साथ जहाज़ों को डुबो सकती थीं और जहाजों को इससे होने वाली क्षति जिस तेजी के साथ होती थी, नए निर्माण द्वारा उस तेजी के साथ उनकी

क्षतिपूर्ति नहीं हो पाती थी। शत्रु की पनडुब्बियों को पकड़ने जैसे सक्रिय रक्षा उपायों के अतिरिक्त, जहाजों के रक्षक दलों में वर्गीकृत करने और ऐसे रक्षक दलों को अनेक अनुरक्षी पोतों के साथ अधिकतम सुरक्षा प्रदान करने के लिए विश्लेषणात्मक विधियां विकसित की गईं जिन्हें तब से सामयिक अनुसंधान कहा जाता है। टोह के कार्यों के लिए उपलब्ध वायुयानों की सीमित संख्या से ही अधिकतम तटीय क्षेत्रों और महासागरीय पहुंचमार्गों पर नजर रखने के लिए ऐसे ही कार्यक्रम बनाए गए।

सैनिक गतिविधियों को सुकर बनाने में विज्ञान और इंजीनियरी के प्रयोग को स्पष्ट करने के लिए तीन अन्य उदाहरणों का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम है—संचालन प्लुटो, महासागर के नीचे पाइप लाइन (पी एल यू टी ओ) जिसे युद्ध के अंतिम चरणों के दौरान यूरोप में युद्धरत विशाल थल सेनाओं और वायु-सेनाओं के लिए ब्रिटेन से यूरोप में पेट्रोलियम उत्पाद पहुंचाने के उद्देश्य से इंग्लिश चेनल के नीचे समुद्र तल पर एक उच्च क्षमता की पाइप लाइन बिछाने के लिए बनाया गया था। दूसरा—शत्रु के अथवा नव अधिकृत तट पर, जहां से शत्रु की सेनाएं अधिक दूर नहीं थीं, बंदरगाह भवन का निर्माण था। इस बंदरगाह भवन का निर्माण ब्रिटेन में मापांकों के विनिर्माण द्वारा किया गया था और उसे बाद में चुनिंदा स्थान पर जोड़ कर खड़ा कर दिया गया था। बृहदाकार बंदरगाह भवन का, हिस्से जोड़ कर किया गया यह निर्माण वस्तुतः अमरीकी पोत-निर्माता केज़र द्वारा विकसित सिद्धांतों का विस्तार था जिसने समुचित योजना के ज़रिए मापांकों के उत्पादन, अपने यार्डों पर उनके समन्वित परिवहन और अंतिम संयोजन को विकेंद्रीकृत किया। इन यार्डों में युद्ध के अंत तक प्रतिदिन एक जहाज बन कर तैयार होता था। युद्ध की अनिवार्यताओं के अंतर्गत विकसित इन उत्पादन टेक्नालाजियों और प्रक्रियाओं ने अमेरिका को और कालांतर में अपने यूरोपीय मित्र राष्ट्रों को और अपने संरक्षण में जापान को विश्व औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में प्रभावशाली नेतृत्व हासिल कराने और बनाए रखने में बहुत कुछ मदद की है।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विकास

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उद्योग एवम् कृषि के साथ-साथ युद्धपद्धति पर भी विज्ञान तथा टेक्नोलाजी का प्रभाव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ा है। वायु अंतरिक्ष, न्यूक्लीय और अंतर्जलीय टेक्नोलाजियों तथा थल युद्धपद्धतियों के लिए परंपरागत शस्त्रों पर लागू होने वाली टेक्नोलाजियों में इलेक्ट्रानिक्स के क्षेत्र में हुई प्रगतियों के कारण बड़ी तेजी से उन्नति हुई और इलेक्ट्रानिक्स में हुई प्रगति

ठोस अवस्था भौतिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति से प्रेरित थी। क्लेशप्रद तथा बिजली की अधिक खपत करने वाले निर्वात वाल्वों के स्थान पर ट्रांजिस्टर सामग्री के बने छोटे वाल्व लगाए जाने लगे। इस परिवर्तन के फलस्वरूप आकार छोटा हो गया और कंप्यूटरों की संचालन क्षमता और किफायत में तथा सामान्यतः संचार और नियंत्रण उपकरण में सुधार हो गया। परिवर्ती कार्य ने सफलतापूर्वक एकीकृत, बड़े एकीकृत (एल एस आई) और अतिरिक्त बड़े एकीकृत परिपथों (ई एल एस आई ई) के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जिसने कंप्यूटरों और इलेक्ट्रानिक नियंत्रण क्रियाविधियों की संचालन क्षमताओं तथा बहुविज्ञता में सुधार करने के साथ-साथ उनके आकार और लागत में भी प्रभावशाली रूप से कमी कर दी।

व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ यह हुआ कि शस्त्र स्फोटक-शीर्षों और राकेट मोटरों के इस्तेमाल में नियंत्रण उपकरण के आकार और वजन को बहुत अधिक कम किया जा सका जिससे उपग्रहों और अंतर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों का विकास संभव हुआ। इसने प्रकाशिकी के क्षेत्र में हुए विकास के साथ मिल कर अवरक्त कैमरों तथा चुंबकीय असंगतियों का पता लगाने वाले उपकरण का उत्पादन संभव किया और इस प्रकार महासागर की सतह के नीचे पनडुब्बियों तथा धरती की सतह के नीचे अयस्क पिंडों का पता लगाना संभव हो सका। लेसर तकनीकों के विकास ने खोज लगाने वाले उपकरण की बहुविज्ञता को और अधिक बढ़ा दिया और तब से ये तकनीकें टैंक अग्नि नियंत्रण यंत्रीकरण के लिए मानक बन गई हैं। गत तीन दशाब्दियों के दौरान विकसित अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण शस्त्र प्रणालियों और सैन्य टैक्नोलाजियों का उल्लेख किया जा सकता है।

वायु अंतरिक्ष

जेट इंजन के विकास के साथ वायुयान के लिए ध्वनिरोध और पराध्वनिक वेगों को पार करना तथा पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से निकलना भी संभव हो सका। सही नौसैनिक खोज के साथ उच्च वेग और फायर नियंत्रण साधनों ने वायुयान को युद्ध का दुर्जेय यंत्र बना दिया है। सूक्ष्म नौसंचालन प्रणालियां, आक्रामक वायुयान को नीचा उड़ने में समर्थ बनाती हैं जिससे शत्रु उन्हें खोज नहीं पाते हैं। पूर्व चेतावनी रडार अपने लक्ष्य पूरे करके द्रुत गति से लौट आते हैं। बिल्कुल हाल की प्रगतियों के कारण प्रक्षेपणास्त्रों का विकास हुआ जिन्हें शत्रु के प्रदेश से काफी दूर रहकर ही वायुयान (और पोतों) से फेंका जा सकता है ताकि आक्रामक यान शत्रु के सुरक्षित इलाकों में जाए बिना ही अपने देश को सुरक्षित लौट सकें।

हाइड्रोजन विस्फोटक-शीर्ष युक्त अंतर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों से लेकर सामरिक प्रक्षेपणास्त्रों से होते हुए परंपरागत अत्यधिक विस्फोटक शीर्ष युक्त निकट परास टैंकरोधी और विमानभेदी प्रक्षेपणास्त्रों तक अनेक प्रकार के प्रक्षेपणास्त्रों की खोज हुई है। दीर्घ परास प्रक्षेपणास्त्र यदि किसी देश में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों तो वे उस देश को उसके शत्रुओं की तुलना में सामरिक महत्व की सौदेबाजी की शक्ति दे देते हैं। यदि एक पक्ष की तुलना में दूसरा पक्ष अत्यधिक शस्त्र संपन्न न हो तो प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष को रोक सकेगा क्योंकि प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष को अवांछनीय भारी क्षति पहुंचा सकने में समर्थ होगा। अतएव न्यूक्लीय अस्त्रशस्त्रों से भली-भांति लैस शत्रु देशों के बीच परमाणु युद्ध संभाव्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे शत्रुओं के बीच परंपरागत युद्ध की भी संभावना नहीं है क्योंकि दुर्घटनाओं के कारण अथवा किसी एक पक्ष अथवा दूसरे पक्ष के मिथ्यानुमान के कारण परंपरागत युद्ध की परिणति परमाणु युद्ध में हो सकती है।

न्यूक्लीय शक्ति

परमाणु युग के प्रारंभिक दिनों में, अमेरिका की न्यूक्लीय शक्ति अपने मुख्य प्रतिद्वंद्वी सोवियत रूस की तुलना में कहीं अधिक उत्कृष्ट थी और कम-से-कम कुछ युद्धनीतिज्ञ यह मानते थे कि परंपरागत युद्ध की भांति ही परमाणु युद्ध में भी हिंसा की मात्रा को नियंत्रित किया जा सकता है। टेक्नोलाजी के क्षेत्र में हुई प्रगतियों ने अल्प प्रभावकारी परमाणु हथियारों का उत्पादन संभव किया—इन हथियारों का प्रभाव बहुत कम था अर्थात् मात्र 0.1 के टी तक (जो 1945 में हिरोशिमा और नागासाकी पर फैंके गए अमरीकी बमों के 15,000 से 20,000 टन प्रभाव की तुलना में 100 टन आई एन टी की विस्फोटक शक्ति के बराबर था)। इन हथियारों के उपलब्ध होने के साथ सामरिक परमाणु शस्त्रों से युक्त तोपखाना युद्धक्षेत्र विरचना का महत्वपूर्ण अंग बन गया। मिले-जुले आकारों के सामरिक शस्त्र अल्प प्रभावकारी बमों तथा वायु-भू-राकेटों के रूप में हवाई कार्रवाई के लिए भी उपलब्ध हैं।

सामरिक परमाणु युद्ध के खतरे के कारण अर्थात् स्थल युद्ध में अल्प प्रभावकारी अणु शस्त्र के प्रयोग के कारण अमेरिका ने टैंक के भीतर कर्मीदल को सुरक्षित और नियंत्रित परिवेश देकर ऐसे टैंकों का विकास किया, जो परमाणु युद्ध क्षेत्र में चल सकते थे।

प्रक्षेपणास्त्र

सामरिक शस्त्रों की प्रहार संभाव्यता एम आर बी (बहुविध पुनः प्रवेश वाहनों) के और उनके शीघ्र ही बाद एम आई आर बी (बहुविध स्वतंत्र-लक्षित

पुनः प्रवेश वाहनों) के विकास के कारण कई गुणा बढ़ गई है जिसके फलस्वरूप एक प्रमोचित्र (लांचर) अनेक स्फोटकशीर्ष युक्त प्रक्षेपणास्त्र फेंक सकता है ताकि एक पूर्व निर्धारित बिंदु पर अपने प्रक्षेपपथ पर प्रक्षेपणास्त्र के स्फोटक-शीर्ष पृथक् हो सकें और अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ सकें। पनडुब्बी से छोड़े गए प्रक्षेपणास्त्र चौदह स्फोटक-शीर्ष तक ले जा सकते हैं जबकि मुख्य सामरिक भूमि से छोड़ गए प्रक्षेपणास्त्र केवल तीन बड़े स्फोटक शीर्ष ले जा सकते थे। अमेरिका में विकासाधीन एम एक्स भू शस्त्र अधिक, संभवतः दस तक, स्फोटक-शीर्ष ले जा सकता था।

बहुविध स्फोटक-शीर्ष शत्रु की मिसाइल मोर्चाबंदी को अस्तव्यस्त कर देते हैं जिससे आक्रमणकारी प्रक्षेपणास्त्र बढ़ते जाते हैं और अपने लक्ष्यों का बड़ा हिस्सा नष्ट कर देते हैं। वायुयान से छोड़े गए ब्रूज प्रक्षेपणास्त्र भी शत्रु की मोर्चाबंदियों को अस्त व्यस्त और मलियामेट कर सकते थे। अमरीकी सेनाओं द्वारा सिद्ध तथा परीक्षित छद्म शस्त्रों के दो रूप हैं स्केड (एस सी ए डी) और स्कड (एस सी यू डी) जो क्रमशः अवध्वनिक कूजिग सशस्त्र छद्म शस्त्रों और अवध्वनिक कूजिग निशस्त्र छद्म शस्त्रों के संक्षिप्त रूप हैं। सशस्त्र रूपों में एक लघु न्यूक्लीय स्फोटक शीर्ष लगा होता है जबकि निशस्त्र रूपों में यह नहीं होता।

अनेक विधाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले वैज्ञानिकों और इंजीनियरों के एकीकृत प्रयत्नों द्वारा संभव हुए टेक्नोलाजिकल नवप्रवर्तनों के कारण परिक्रम करने वाले वाहनों को चलाने की क्षमता का विकास हुआ है। उपग्रहों के मुख्य सैनिक प्रयोग हैं चौकसी, पूर्व चेतावनी संचार और संभवतः प्रक्षेपास्त्र प्रमोचन और शत्रु उपग्रह अवरोधन। चौकसी में प्रकाशकीय अवरक्त और चुंबकीय पद्धतियों द्वारा शत्रु के इलाके की चौकसी ही नहीं बल्कि महासागर अंतराल और पनडुब्बियों तथा अंतर्जलीय गतिविधि के स्थान-निर्धारण के साथ-साथ न्यूक्लीय अथवा अन्य विस्फोटों का पता लगाना भी शामिल है। संचार के अंतर्गत, कक्षीय रिले साधनों के जरिए अथवा भू-केन्द्रों तथा संचार पोतों और/अथवा वायुयानों के जरिए संसार के एक भाग से दूसरे भाग को सिगनल भेजना आता है। उनमें जलमग्न पनडुब्बियों के लिए वी० एल० एफ० (अतिनिम्न आवृत्ति) चैनल संचार भी सम्मिलित हैं जिनसे पनडुब्बियां जब जलमग्न होती हैं तब अन्य संदेशों के साथ-साथ संचालन संदेश भी ग्रहण कर सकती है।

समुद्री युद्धपद्धति

न्यूक्लीय शस्त्रों और उन्नत संसूचक पद्धतियों के विकास के साथ समुद्री जहाजों, विशेषतः वायुयान वाहकों तथा जंगी जहाजों जैसे बड़े समुद्री जहाजों की

बेध्यता बढ़ गई। जंगी जहाज नौ सेना को सामान-सूची से बाहर कर दिए गए हैं। वायुयान वाहकों को भूमिका विशेषत: अंत:क्षेप संक्रियाओं में और स्त्रातजिक तथा अन्य वायुयानों के लिए उपयोगी प्लेटफार्म मुहैया करने में है। अब महत्व समुद्र नियंत्रण पोतों का है जो वाहकों से अपेक्षाकृत काफी छोटे है किंतु जो समुद्रों को नियंत्रित करने के लिए और क्रूज प्रक्षेपणास्त्रों सहित शस्त्रों के लिए प्लेटफार्म मुहैया करने के लिए उपयोगी हो सकते हैं। पनडुब्बी आक्रमणों की समुद्री जहाजों को बेधने की क्षमता बनी हुई है, हालांकि पनडुब्बी संसूचन तकनीकों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। न्यूक्लीय पनडुब्बी की कल्पित परियोजना के परिणामस्वरूप अतिसमृद्ध यूरेनियम पर आधारित और ऐसे न्यूक्लीय प्रक्षेपणास्त्रों से लैस, जिन्हें जलमग्न पनडुब्बियों से फेंका जा सकता था; संहत न्यूक्लीय शक्ति रिएक्टर द्वारा धकेली गई पनडुब्बी ही का विकास नहीं हुआ अपितु तब से पी ई आर टी (परियोजना मूल्यांकन व पुनरवलोकन तकनीकों) के रूप में परिष्कृत परियोजना समन्वय तकनीकी का विकास भी हुआ।

इन कारणों से कि पनडुब्बी गुप्त रह सकती हैं पनडुब्बी शस्त्र को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व मिल गया है। हालांकि जलमग्न वस्तुओं, विशेषत: चल वस्तुओं और पनडुब्बियों की तरह चुम्बकीयत: धनात्मक वस्तुओं का विद्युत-ध्वनिक संसूचन परिष्कृत किया गया और बहुत दीर्घ परासों पर भी संसूचन संभव हुआ है लेकिन उनकी सापेक्ष निरापदता बनी हुई है। दीर्घ परास न्यूक्लीय शस्त्रों से युक्त ये अपेक्षाकृत अवेध्य द्वितीय प्रहारक यद्धनीतिक बल का काम करते है और इस प्रकार अवरोध को सुदृढ़ करते हैं। शत्रु पनडुब्बियों का पता लगाने और पीछा करने के लिए भी वे मूल्यवान हैं।

विएतनाम में युद्ध के दबाव में अमरीकी रक्षा-वैज्ञानिकों ने ऐसे परंपरागत हथियारों का विकास किया जिनका निशाना अधिक अचूक होता था और जिनकी क्षति संभाव्यता बहुत अधिक बढ़ गई थी। लक्ष्य साधने के बेहतर उपायों तथा वायुयानों, हेलिकाप्टरों, समुद्री और भूस्थित प्लेटफार्मों से छोड़े गए बमों/राकेटों में घोर मार्गदर्शन युक्तियों के समावेशन के ज़रिए शस्त्रों को अधिक अचूक बनाया गया

अन्य क्षेत्र

अन्य क्षेत्र जहां विज्ञान और टेक्नोलाजी ने महत्वपूर्ण रूप से योगदान किया है वे है जैविक, रासायनिक और पर्यावरणी युद्धपद्धति। प्रमुख शक्तियों ने ऐसे

विषाणुओं का विकास किया जिन्हें उपयुक्त मौसम और धरातल संबंधी परिस्थितियों में जब मुक्त किया जाता था तो वे मनुष्यों तथा पशुओं में रोग उत्पन्न कर सकते थे। अन्य कारक-शाकनाशी-वनस्पतियों को बड़े पैमाने पर नष्ट कर सकते हैं जिससे पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है और जंगलों तथा सस्य भूमियों के नष्ट होने से क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था चौपट हो जाती है। वियतनाम और कम्पूचिया में अमरीकी सेनाओं ने शाकनाशियों के नियमित प्रयोग से प्रधान जंगलों और धान के खेतों को नष्ट करके बड़े पैमाने पर दीर्घकालीन नाश किया है। इनमें से कुछ ने जल मार्गों को दूषित करके मछलियों और पशुओं को प्रभावित किया है जिससे भोजन शृंखला के जरिए रोग मनुष्यों में पहुंच गए।

रासायनिक कारक यद्यपि जैविक कारकों की तुलना में अपेक्षाकृत कम दीर्घावधि नाश संभावना के होते हैं तथापि हानिकारक तो होते ही हैं। महान शक्तियों ने यद्यपि जैविक युद्धपद्धति पर प्रतिबंध लगाने के लिए तो सहमति दे दी है किंतु युद्ध में रासायनिक कारकों के प्रयोग पर पूरी तरह रोक लगाने के प्रति वे उदासीन हैं। किंतु प्रत्याक्रमण में उनके प्रयोग के अतिरिक्त उनका प्रयोग न करने के विषय में सामान्य सहमति है।

फिर भी नेपाम अथवा पेट्रोलियम जैली तथा एलुमिनियम व मैग्नीशियम के मिश्रणों जैसे दाहक शस्त्रों का प्रयोग जारी है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में विएतनाम में अमरीकी सेनाओं ने नेपाम का वितरण बडे पैमाने पर किया।

भूभौतिक युद्ध पद्धति

भूभौतिक युद्धपद्धति की क्षमता के निर्धारण के लिए पथ प्रदर्शक संक्रियाएं क्या हो सकती हैं इसको भी आठवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में विएतनाम में अमरीकी सेनाओं द्वारा कार्यान्वित किया गया प्रतीत होता है और बाद में हिंद महासागर में डियागो गार्शिया से और प्रयोग भी किए गए। भू-भौतिक युद्ध पद्धति में अनिवार्यतः बादल पैदा करके लक्ष्य क्षेत्रों में नकली बाढ़ को प्रेरित करना, बिजली, तड़ित, झंझा और चक्रवातों को प्रेरित करना आता है। ऐसी संक्रियाओं से जो कुछ भी हासिल किया जा सकता है उसकी संभवतः सुनिश्चित सीमाएं हों किंतु वर्तमान स्थिति देखते हुए ऐसा लगेगा कि कतिपय अनुकूल परिस्थितियों में चुने हुए क्षेत्रों में संभवतः भारी वर्षण को प्रेरित किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक युद्ध, अनिवार्यतः शत्रुओं के मनों का अनुकूलन ताकि मुकाबला करने की उनकी इच्छाशक्ति को समाप्त किया जा सके, आधुनिक विकास कदापि

नहीं है। आक्रमणकारी सेनाओं के आगे चलने वाले कर्मियों की भलीभांति प्रशिक्षित टुकड़ियां आक्रमणकारी टुकड़ियों द्वारा मचाई गई तबाही की अफवाहें और किस्से फैला सकती हैं और युद्ध में हताहत होने वाले संभावित सैनिकों को भागने के लिए तैयार कर सकती हैं और इस प्रकार शत्रु के लिए आगे बढ़ने का मार्ग सरल बना देती हैं। प्रचार और सुझाव की तकनीकों में परिष्करण हुआ है और यदि शासक दल को विवेकपूर्ण ढंग से उनका लक्ष्य बनाया जाए तो उनके सुनिश्चित प्रभाव पड़ सकते हैं विशेषत: यदि शासक दल छोटा है, अपनी जनता से विमुख है और राज्य कार्यों के संचालन के लिए कुछ दरबारियों पर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक युद्ध सस्ता और जोखिम मुक्त होता है। महान शक्तियां अपनी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने के लिए गुप्त कार्रवाइयों के साथ तृतीय विश्व देशों के शासक वर्ग के सदस्यों को सीधे रिश्वत देकर इसका प्रयोग करती रही हैं।

इस प्रकार युद्ध और "न युद्ध-न शांति" के धूसर क्षेत्र में सामाजिक विज्ञान का संभवत: उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना भौतिक विज्ञानों का।

भावी प्रवृत्तियां

युद्ध पर विज्ञान और टेक्नोलाजी का प्रभाव अब तक जैसा रहा है भविष्य में उससे कहीं अधिक सुनिश्चित हो जाएगा। विश्व की महाशक्तियों के बीच युद्ध इसलिए कल्पनातीत प्रतीत होता है क्योंकि छोटी शक्तियों का सांकेतिक अथवा छोटा प्रतिशोध भी बड़ी शक्तियों के लिए गंभीर क्षति का कारण होगा। यह तथ्य ज़िम्मेदार नेताओं को व्यावहारिक विकल्प के रूप में न्यूक्लीय युद्ध को अपनाने से विमुख करेगा। फिर भी अधिक न्यूक्लीय शक्ति संपन्न देश न्यूक्लीय युद्ध की धमकी का प्रयोग अपेक्षाकृत कमज़ोर शत्रु के लिए कर सकेगा। रणनीतिक न्यूक्लीय युद्ध की बात का अर्थ अधिक न्यूकलीय शक्ति संपन्न देश को शत्रु द्वारा परंपरागत युद्ध को प्रारंभ करने से विमुख करने के इरादे से दी जाने वाली धमकियां समझा जा सकता है। फिर भी न्यूक्लीय शक्ति की धमकी देने पर प्रतिबंध प्रतीत नहीं होते और जो देश न्यूक्लीय शक्ति संपन्न नहीं है उन्हें पराजित करने के लिए न्यूक्लीय शस्त्रों के प्रयोग पर भी, जैसा कि 1945 में अमेरिका ने जापान में किया था, कोई रोक प्रतीत नहीं होती।

जो देश सुरक्षा के खतरे की धमकियों का सामना कर रहे हैं चाहे ये धमकियां वास्तविक हों या काल्पनिक, उन्हें ये तर्क न्यूक्लीय शस्त्रों का विकास करने के लिए

उकसाएंगे । बड़ी शक्तियां जहां अपने न्यूक्लीय शस्त्रों के स्टाक में और वृद्धि कर लेंगी, वहां अपेक्षाकृत छोटी शक्तियां जो आज न्यूक्लीय शक्ति संपन्न नहीं हैं वे वर्तमान प्रवृत्तियों को देखते हुए प्रतिबंधों को पार करने का प्रयत्न कर सकेंगी । यद्यपि न्यूक्लीय युद्ध छिड़ने की संभावना न हो तो भी अपेक्षाकृत अधिक अचक, अधिक ठोस तथा अधिक परिवर्तनशील न्यूक्लीय शस्त्रों के निरंतर निर्माण के साथ-साथ न्यूक्लीय आक्रमणों का सामना करने के लिए सक्रिय और निष्क्रिय शक्ति का निरंतर निर्माण हो सकता है ।

न्यूक्लीय जानकारी के लिए प्रतिस्पर्धा

जब तक बड़ी शक्तियां अपने न्यूक्लीय शस्त्र भंडारों को समाप्त करने के लिए ठोस कदम नहीं उठातीं तब तक न्यूक्लीय शक्ति केंद्रों का निर्माण व संचालन करने के लिए राष्ट्रों को बाध्य करने वाला ऊर्जा संकट गैर न्यूक्लीय देशों के लिए कालांतर में न्यूक्लीय शस्त्र प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध कराएगा । न्यूक्लीय युद्ध करने के लिए और इसके साथ ही शांति व युद्ध में घटनाओं के संचालन के लिए, अंतरिक्ष यानों को चलाने, उनमें संवेदक लगाने, यानों को वापिस बुलाने और उन्हें धरती पर उतारने की क्षमता सुधरेगी । अनेक राष्ट्र इस सामर्थ्य को हासिल करने का प्रयत्न करेंगे । इस प्रकार न्यूक्लीय टेक्नोलाजी का युद्ध पर गहन प्रभाव पड़ता रहेगा; साथ-ही-साथ अंतरिक्ष विज्ञान का प्रभाव भी पड़ता रहेगा । फिर भी प्रमुख शक्तियां अंतरिक्ष यानों को, जिनमें लेसर बीमों अथवा नियंत्रित विद्युत स्पंदों के प्रयोग से विरोधी शक्तियों द्वारा शत्रु प्रदेश से फेंके गए प्रक्षेपणास्त्र भी शामिल है, अवरुद्ध और/अथवा सक्रिय करने के लिए और अधिक समर्थ बन जाएंगी ।

वायुयान पहले से ही बहुत परिवर्तनशील है । तेल संकट संभवतः हाइड्रोजन ईंधन पर आधारित शक्ति संयंत्र के विकास के लिए बाध्य करेगा और प्रमुख विकास उन शस्त्रों में होंगे जिन्हें वायुयान से फेंका जा सकेगा । ये शस्त्र कैसा कार्य करते हैं यह वायुयान की संरचनाओं में प्रयुक्त सामग्री पर और उस शक्ति संयंत्र पर निर्भर करता है जिसे अनुकूलतम संरचना प्रारूप वाले वायुयान में लगाया जा सकता है । यदि वायुयान में लगाई गई सामग्री के भौतिक गुण निश्चित हों तो वायुयान संरचनाओं में विकासात्मक प्रकार के सुधार होने की संभावना है । जैसा कि शक्ति संयंत्रों के लिए है, फिलहाल प्रयोग में आ रहे पेट्रोलियम-मूलक ईंधनों के स्थान पर जिन नए ईंधनों का भविष्य में प्रयोग होगा वे वायुयान प्रांचल में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला सकेंगे ।

सामग्री, अभिकलित्र और संवेदी टेक्नोलाजियों के समन्वित प्रयोग से अधिक गहरा गोता लगाने वाले और दीर्घतर परास अवगाहन क्षम वाहनों का विकास होगा। इन वाहनों में संभवतः ऐसी संरचनाएं भी शामिल होंगी जो शस्त्रों को रखने और यंत्रों को संचालित करने के लिए तथा महासागर की सतह के नीचे और महासागर की सतह पर युद्ध-निर्देश देने के लिए कार्मिकों को महासागर की सतह पर अधिक देर तक रोके रख सकती हों।

जैविक युद्ध-पद्धति

अन्य क्षेत्र जहां अपूर्व प्रगतियों की संभावना है वह सामान्यतः जैविक अथवा जीव विज्ञान है, यद्यपि युद्ध में जैविक शस्त्रों का प्रयोग इस कारण से संभवतः न भी किया जाए कि इन शस्त्रों से आक्रमणकारियों और उनके मित्र राष्ट्रों को भी हानि पहुंचने की उतनी ही संभावना है जितनी कि अभिप्रेत शत्रु पक्ष को। तथापि, कृषि, पशु, मत्स्य और मुर्गी पालन, आयुर्विज्ञान और किण्वन नियंत्रण, अयस्क पिंडों से कतिपय धातुओं के चयनात्मक पृथक्करण जैसी औद्योगिक प्रक्रियाओं में तथा अनेक अन्य प्रक्रियाओं में इन विज्ञानों के महत्वपूर्ण सार्थक अनुप्रयोग होंगे।

निष्कर्ष

जैसा कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के इतिहास से प्रकट होता है, देश की वैज्ञानिक, टेक्नोलाजिकल तथा औद्योगिक बुनियाद जितनी अधिक विकसित और अधिक बहुविध होगी, उतना ही अधिक द्रुत उसकी अगली वैज्ञानिक प्रगति होगी और विकसित हथियार तथा संबद्ध टेक्नोलाजियों का विकास करने के लिए उतनी ही बृहत् उसकी संभाव्यता होगी। अनेक बाधाओं के बावजूद अग्रणी देशों से लेकर टेक्नोलाजी की दृष्टि से पिछड़े देशों में टैक्नोलाजी का प्रसार हुआ है। ये बाधाएं भी क्रमशः टूट रही हैं, अतएव यदि शस्त्रों के प्रचुर मात्रा में होने वाले उत्पादन को रोकने के लिए सभी देश मिलकर कृतसंकल्प प्रयत्न नहीं करते तो विद्यमान शस्त्रों के परिष्करण के लिए विकसित देशों के साथ-साथ विकासशील देशों में भी विज्ञान और टेक्नोलाजी का बढ़ता प्रयोग होने की संभावना है। अनेक देश जो आज अपेक्षाकृत पिछड़े हुए हैं, उनकी भी शक्तिशाली शस्त्रों के निर्माण की क्षमता हासिल करने की संभावना प्रमुख देशों को सशस्त्र सेनाओं के आकार को सख्ती के साथ नियंत्रित करने और उनके प्रयोगों को सीमित करने के लिए युक्ति निकालने और उपाय करने के लिए प्रेरित कर सकेगी। आशा की जा सकती है कि शीघ्र ही राष्ट्र अपने लोकप्रिय प्रतिनिधियों के जरिए सशस्त्र संघर्ष के

स्थान पर विचार-विनिमय तथा परस्पर बातचीत से अपने संबंधों को मैत्रीपूर्ण बनाने में सहमत हो जाएंगे। यह प्रत्याशा दूरस्थ और संभवतः स्वप्न हो सकती है, किंतु आसन्न तथा सार्वभौम विनाश के लिए शस्त्रों की विद्यमान संभाव्यताओं के संदर्भ में कोई अन्य लक्ष्य नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय सुरक्षा

---महाराज के० चोपड़ा

साधारण भाषा में, राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ है राष्ट्र की संरक्षा । यह एक ऐसी स्थिति है जिसे प्राप्त करने के लिए सभ्यता के विकास के साथ-साथ अधिक-से-अधिक प्रयत्न किए गए हैं । कई शताब्दियों तक संसार के लोग धरती के विशिष्ट क्षेत्रों में समूह बना कर रहने का यथासंभव प्रयत्न करते रहें हैं जहां वे अपने लिए अनन्य अधिकारों का दावा करते हैं । इसके उदाहरण, भारत और मध्य-पूर्वीय देशों जैसी प्राचीनतम सभ्यताओं से लेकर विश्व के लिखित इतिहास में मिलते हैं । किन्तु इस दिशा में लंबा फासला तय करने के पश्चात् ही क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर विशिष्ट इकाइयां बन पाई हैं । आज के विश्व का राजनीतिक नक्शा जिसमें 150 से अधिक सीमांकित प्रदेश हैं-अनेक सदियों के सतत प्रयासों का परिणाम है ।

फिर भी विद्वान, इस बात से सहमत हैं कि इस राजनीतिक मानचित्र की विशिष्टताएं उसी ढांचे से निकली हैं जो यूरोप में, 1948 में वैस्टफालिया-संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद बना था । उसी समय से रोमन साम्राज्य और रोम के चर्च की सार्वभौमिकता का दावा धुंधला पड़ने लगा था और राज्य-प्रणाली अपना वर्तमान स्वरूप धारण करने लगी । तभी से इस माडल का प्रसार यूरोप से बाहर हुआ और अमेरिका एवं यूरोप तथा हाल ही में अफ्रीका ने भी इसे अपना लिया । भारत ने 1947 में ब्रिटिश शासन की समाप्ति तथा अपने विभाजन पश्चात राष्ट्रीय सरकार बनने के बाद इस राज्य-प्रणाली को अपनाया ।

द्रुत संचार साधनों की सुविधा, सहयोग एवं समेकित प्रयासों की आवश्यकता के कारण संसार के लोग आज एक दूसरे के अधिक से अधिक निकट आते जा रहे हैं । इसलिए अब अलग-अलग राष्ट्रों, देशों अथवा राज्यों में मानवजाति को विभाजित करने की धारणा पुरानी समझी जाती है, भले ही राष्ट्र देश और राज्य शब्द एक ही भावना को व्यक्त करते हैं, फिर भी इनका अर्थ अब एक-सा नहीं है इसके बावजूद, मानवजाति के विभाजन में अनुकूलन और अपने आप को

बनाए रखने की उल्लेखनीय क्षमता दिखाई देती है, आज इस का रूप बन चुका है। राष्ट्र राज्य-प्रणाली एक ऐसी पद्धति है जिसे कम-से-कम इस समय तो अंतर्राष्ट्रीय जीवन का चिरस्थायी तथ्य मानना ही होगा। राज्य-प्रणाली की स्थापना कठोर और दीर्घ संघर्ष के बाद हो पाई है। समय-समय पर आपसी झगड़े और युद्ध इसमें बाधक बनते रहे हैं लेकिन दृढ़ भावना ने इसे बनाए रखा है। इन सब कारणों से राज्य की सुरक्षा राज्यवासियों का सर्वोपरि कर्तव्य बन गया है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा उन परम महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक है जिनकी पूर्ति में पूरा राष्ट्र जुटा रहता है।

सुरक्षा की धारणा का विकास

राज्य के सुरक्षा-संबंधी प्रश्न के विभिन्न पक्षों पर विचार शासन कला विषयक उन अनेक पुस्तकों में किया गया है जो प्राचीन समय से विभिन्न देशों से प्रकाशित होती रही हैं। भारत में "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" इस विषय पर सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। फिर भी, एक ऐसी विशिष्ट संकल्पना के रूप में, जिसके लिए विशद अनुसंधान और अनुप्रयोग की आवश्यकता है, इस धारणा का उदय हाल ही में हुआ। यह धारणा पश्चिम की देन है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इस ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा क्योंकि उस समय बहुत से लोगों का यह विचार था कि वर्सेल्स संधि द्वारा स्थापित शांति भ्रामक है और प्रत्येक देश को किसी भावी विनाशकारी युद्ध की स्थिति में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए गंभीरता से विचार करना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमेरिका में इस दिशा में गहन प्रयास किया गया। इसका आंशिक कारण अमेरिका की विदेशनीति की दुविधाएं थीं जिनके साथ राष्ट्रीय सुरक्षा घनिष्ट रूप से जुड़ी हुई थी। दूसरा कारण यह था कि वहां के विद्वानों को अपेक्षित अवकाश और ऐसा वातावरण प्राप्त था जिससे कि वे अपना ध्यान इस ओर दे सकें। दूसरे विश्व-युद्ध ने कई कारणों से इस प्रक्रिया की गति को तेज कर दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा की यह धारणा नितांत सैनिक क्षेत्रों से राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में फैल गई। प्रौद्योगिक प्रगति, विशेषतया परमाणु बम के निर्माण ने इस बात पर गहरा प्रभाव डाला कि अस्तित्व बनाए रखने के लिए कौन सी युक्तियां अपनाई जाएं और कौन से लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में प्रयास किए जाएं। अब रक्षा-योजना की भावना ने जोर पकड़ा और राष्ट्रीय सुरक्षा देश की तात्कालिक आवश्यकताओं के साथ ही नहीं अपितु दूरगामी प्रतिबद्धताओं के साथ भी जोड़ी जाने लगी।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद यहां भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने युद्ध प्रयासों की अनेक कमियों और प्रौद्योगिक प्रभावों से प्रेरित होकर इस दिशा में पहल की, क्योंकि अब रक्षा और उसके तंत्र संबंधी समूचे प्रश्न पर नए दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक हो गया था। इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार को संस्था का रूप दे दिया गया। सुरक्षा मामलों से सम्बद्ध सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में समेकित नीतियों का निर्माण करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम 1947 के अन्तर्गत राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् की स्थापना की गई जो नीति निर्धारण के मामले में इस समय मंत्रिमंडल के समकक्ष है। इसी अधिनियम के अन्तर्गत एक विशेष राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार की व्यवस्था की गई जो अब सरकार के सर्वोच्च सदस्यों में से है। उसके बाद और भी घटनाएं हुईं—मोटे तौर पर चार क्षेत्रों में। राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए तीनों सेनाओं तथा रक्षा विभाग में विशेष कक्षों की स्थापना की गई। शिक्षाविद् और सामान्यजन भी, जिनमें से कई युद्ध-पूर्व वर्षों में ख्याति पा चुके थे, बड़े उत्साह से इसमें रुचि लेने लगे। सुरक्षा मामलों में विशेषज्ञता प्राप्त कराने हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई और अन्त में, सरकारी तंत्र और गैर-सरकारी व्यक्तियों में पारस्परिक विचार विनिमय के लिए एक संबंध स्थापित हो गया। इन विविध और बहुपक्षीय प्रयासों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी अध्ययनों और उनके व्यावहारिक अनुप्रयोगों में प्रभावशाली प्रगति हुई और पर्याप्त सामग्री की प्राप्ति हुई। ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी और सोवियत रूस अन्य ऐसे राज्यों में से हैं जहां राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी संकल्पना और समस्याओं पर चर्चा की जाती है।

ऐसा नहीं कि राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में इन देशों ने जो प्रयत्न किए हैं और जो कुछ अपना लिया है, अन्य देशों ने उसका अनुकरण किया है, किन्तु इन देशों की उपलब्धियों का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा।

भारत में सुरक्षा हित

भारत में राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही उठा क्योंकि इससे पूर्व ब्रिटिश शासन के अधीन भारत साम्राज्यिक सुरक्षा की परिधि में था। उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत, भारत की रक्षा ब्रिटिश शासन के लिए निश्चित ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय तो थी, फिर भी यह एक राष्ट्रीयेतर, बाहरी हित अर्थात् ब्रिटेन के हितों का एक अंग थी। किन्तु अंग्रेजों के भारत से चले जाने के पश्चात् भारतवासियों के सामने भी सुरक्षा समस्याएं समग्र रूप में आईं।

इसके पीछे मूल अभिप्रेरणा ठीक वैसी थी जिसने यूरोप और अन्य देशों के लोगों को स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में उद्घोषित करने और अपना राज्य बनाने के लिए विवश कर दिया था। यह कार्य देखने में जितना सरल प्रतीत होता था, उतना नहीं था, क्योंकि राज्य के सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत तत्वों में से कम-से-कम एक अर्थात् भू-सीमा की सबसे विकट समस्या थी। सीमा के प्रश्न पर ही तो गोवा का युद्ध हुआ, पाकिस्तान ने कश्मीर के एक हिस्से को हथिया लिया और शक्ति के बल पर चीन ने इस देश के उत्तरपूर्वी और उत्तरी-पश्चिमी हिस्सों पर अपना कब्जा कर लिया। कालांतर में भारत को बाध्य होकर बंगला देश के स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होना पड़ा। इसी का परिणाम था कि भारत राष्ट्रीय सुरक्षा की अकादमिक विवेचना करने की अपेक्षा अपने राज्य की सुरक्षा को बनाए रखने के व्यावहारिक कार्य में मुख्यतः जुटा रहा।

किन्तु रक्षा-संगठन और सैनिक शक्ति के प्रयोग से भारत को जो व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हुआ उसके कारण उसका सुरक्षा संबंधी दृष्टिकोण व्यापक हो गया। अंग्रेजों के प्रस्थान का तात्कालिक परिणाम वास्तव में यह था कि भारत की सेना एक राष्ट्रीय सेना बन गई और देश की रक्षा का कार्यभार पूर्णतः हमारे राजनीतिक और सैनिक नेताओं के कंधों पर आ पड़ा। रक्षा संबंधी योजनाओं और युद्धनीति मामलों में राजमर्मज्ञों और कमांडरों को अपने पर ही निर्भर रहना पड़ा। भारत ने जितनी लड़ाइयां लड़ीं, उनसे उसके अनुभव में वृद्धि हुई और सुरक्षा के मामलों में दिलचस्पी रखने वालों का दायरा बढ़ गया। विचारों में सामान्यतया विकास हुआ और इन विचारों को कार्य रूप देने की क्रियाविधि भी उपयुक्त थी।

शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा निश्चित ही राष्ट्रीय महत्व का विषय है और इसे समग्र आयोजना और उन विकास योजनाओं से अलग नहीं किया जा सकता जिनकी रूप-रेखाएं समय समय पर तैयार की जाती हैं। इसके साथ ही यह भी पता लगा कि सुरक्षा का प्रश्न कई तरह से राष्ट्रीय तो है ही पर इसे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से अलग नहीं किया जा सकता।

संवैधानिक व्यवस्थाएं

सुरक्षा संबंधी सर्वप्रथम उल्लेख संक्षिप्त रूप में ही सही, भारत के संविधान में मिलता है। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक गड़बड़ी के कारण भारत अथवा इसके किसी भी हिस्से की सुरक्षा खतरे में पड़ जाने की स्थिति में विशेष शक्तियां प्रदान की गई हैं। ऐसा

कहा जा सकता है कि उक्त अनुच्छेद में जिस "सुरक्षा" का उल्लेख किया गया है उसमें राष्ट्रीय सुरक्षा की—जिसे आज विज्ञान और कला दोनों रूपों में लिया जाता है—विशिष्टताएं नहीं हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय भारत का संविधान (1950) बना उस समय ये विशिष्टताएं पश्चिमी देशों में भी सुस्पष्ट नहीं थीं। फिर भी, इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संविधान में इसका उल्लेख है : सुरक्षा का इतना महत्व है कि इसके लिए राष्ट्रपति को प्रबल शक्तियां दी गई हैं, क्योंकि इसके बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार के खतरे हो सकते हैं। यह दूसरी बात राष्ट्रीय सुरक्षा को विदेश नीति और गृहनीति—इन दोनों से जोड़ने की हाल ही की विचारधारा के साथ मेल खाती है।

रक्षा के पुनर्गठन के साथ-साथ इस क्षेत्र में प्राप्त अनुभव और राष्ट्रीय केडेट कोर तथा प्रादेशिक सेना जैसी संस्थाओं के माध्यम से सैनिक मामलों में सामान्य रूचि पैदा हो जाने से बीसवीं सदी के छठे दशक में सुरक्षा समस्याओं पर विचार और चर्चा बढ़ने लगी और अगले दशक में इन चर्चाओं ने बल पकड़ा। चीन के साथ 1962 के युद्ध ने निश्चित ही भारत को चौकस कर दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा के विषय को लेकर राष्ट्रीय संचार माध्यमों को नए आयाम मिले और कुछ क्षेत्रों में सैनिक संवाददाता भी नियुक्त हो चुके थे और उनमें से कुछ अधिकारियों ने उन युद्धों के जिनमें उन्होंने भाग लिया था, विस्तृत विवरण, विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किए। सरकार ने 1965 में पाकिस्तान से युद्ध के बाद एक पंचवर्षीय रक्षा-योजना तैयार करके एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। यह रक्षा योजना स्वतंत्रता के पश्चात् इस प्रकार की पहली योजना थी। बाद के वर्षों में तो ऐसी बहुत-सी योजनाएं तैयार की गईं। 1971 के युद्ध से भारत और पाकिस्तान के सुरक्षा मामलों को राजनीतिक नीति और आर्थिक विकास के निकट लाने की दिशा में प्रेरणा मिली। आजकल रक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टों में भी राष्ट्रीय सुरक्षा का एक अलग अध्याय होता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्याओं पर अब देश की अनेक संस्थाओं में किसी न किसी रूप में विचार किया जाता है। "यूनाइटेड सर्विस इंस्टीट्यूशन आफ इंडिया" इस क्षेत्र में सबसे अधिक प्राचीन संस्था है। रक्षा अध्ययन तथा विश्लेषण संस्थान अभी हाल ही में स्थापित हुआ है। कनिष्ठ अधिकारियों के लिए रक्षा सेवा स्टाफ कालेज और वरिष्ठ अधिकारियों के लिए राष्ट्रीय रक्षा कालेज ने अपने पाठयक्रमों में सुरक्षा-विषयों को शामिल कर लिया है। अनेक विश्वविद्यालयों

ने भी सैन्य अध्ययनों के लिए संकाय स्थापित किए हैं। इन संकायों में राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी समस्याओं पर विचार किया जाता है।

उपर्युक्त सभी घटनाएं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुई हैं और अपेक्षाकृत अल्प अवधि में और ऐसे क्षेत्र में हुई हैं जो भारतीयों के लिए नया था। अतः यह आशा की जा सकती है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की वर्तमान संकल्पना का वर्तमान गहराई और व्यापकता दोनों दृष्टियों से और अधिक विकास होगा। हां, यह जरूर है कि इस पर, विदेशों में हुए रक्षा संबंधी अध्ययनों और सुरक्षा के विविध अर्थों का प्रभाव अवश्य रहेगा। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस पर मुख्यतया भारत की अपनी भौगोलिक स्थितियों, नीति विकल्पों और राष्ट्रीय आचरण का रंग रहेगा।

संकल्पना

यद्यपि "राष्ट्रीय सुरक्षा" शब्द का प्रयोग राजनीतिक, सैनिक और शैक्षिक क्षेत्रों में प्रचुरता से होता है तथापि अभी तक इसकी कोई प्रामाणिक सर्वमान्य परिभाषा नहीं मिलती है। राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी संकल्पना, विषय-वस्तु और विषय-विस्तार दोनों में अस्पष्ट ही नहीं है अपितु अलग-अलग देशों के लिए इसका अर्थ भी एक-सा नहीं रहा है। इस दिशा में बेहतर यही होगा कि इस संकल्पना को परिभाषा देने के बजाय इसकी व्याख्या की जाए ताकि उसमें से संबंधित आम राय को शामिल किया जा सके।

राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ राष्ट्र की सुरक्षा है—ऐसे विचार के बाद निश्चित ही यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्र के ऐसे कौन से घटक हैं जिनकी सुरक्षा अनिवार्य होती है। निस्संदेह लोगों की रक्षा की जानी चाहिए, देश की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए, राष्ट्र की संपत्ति नष्ट नहीं होनी चाहिए और राज्य की मुख्य संस्थाएं सुरक्षित रहनी चाहिएं। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय सुरक्षा के अंतर्गत नागरिकों, प्रादेशिक अखंडता, राज्य की प्रभुसत्ता, राष्ट्रीय संसाधनों और राष्ट्रीय संस्थाओं की सुरक्षा की जानी चाहिए। ये मूर्त परिसंपत्तियां हैं। इसके अतिरिक्त अमूर्त परिसंपत्तियां भी होती हैं जिनके क्षतिग्रस्त होने अथवा नष्ट होने के गंभीर अप्रत्यक्ष परिणाम हो सकते हैं। राष्ट्रीय एकता, मनोबल और संस्कृति ऐसी ही परिसंपत्तियां हैं। अतः मूल विचार यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ राष्ट्र की उन सब मूर्त और अमूर्त परिसम्पत्तियों की सुरक्षा से है जिन्हें राष्ट्र की अमूल्य परिसंपत्तियां कहा जा सकता है।

राष्ट्र की अमूल्य परिसंपत्तियों की पूर्ण सूची बनाने का कोई भी प्रयास निष्फल होगा क्योंकि कभी-न-कभी ऐसी स्थिति अवश्य सामने आएगी जब कि अमूल्य परिसंपत्तियों के विषय में एक ही राष्ट्र के अंदर अलग-अलग विचार हो सकते हैं। वास्तविकता यह है कि आधारभूत महत्व के जिन पांच घटकों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें से पहले चार के संबंध में तो कोई विवाद नहीं होगा। किन्तु "राष्ट्रीय संस्थाओं" को—जो भारत जैसे विशाल देश में बहुत अधिक संख्या में हैं—वर्गीकृत करने में संभव है कुछ-न-कुछ कठिनाई हो। किन्तु कुछ ऐसी संस्थाएं भी होती हैं जो राष्ट्र के लिए अत्यंत महत्व की हों। भारत का एक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की जा सकती है: संसदीय प्रणाली के लिए कोई खतरा उत्पन्न हो जाने पर निश्चित ही देश में खलबली मचेगी जैसा कि 1975 में आपात स्थिति की घोषणा के समय हुआ था। इससे लोगों में विरोध और अवज्ञा की भावना पैदा हो सकती है, केंद्र और राज्य के पारस्परिक संबंध बिगड़ सकते हैं, और राजनीतिक अस्थिरता और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ये सभी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थितियां हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा संकल्पना में कौन-कौन सी अमूल्य वस्तुएं शामिल हैं यह जानने की कसौटी यह है कि राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति वह है जिसे क्षति पहुंचने से राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ जाए और जिसकी रक्षा के लिए राज्य हर संभव प्रयास करता है—यहां तक कि वह युद्ध का रास्ता भी अपना सकता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा की संकल्पना का अभी भी विकास हो रहा है और यह कहा जा सकता है कि इसके संबंध में जो अनिश्चितता और अस्पष्टता बनी हुई है, वह स्वयं में एक प्रकार की चुनौती है कि इसके विषय में और अधिक अध्ययन और विश्लेषण किया जाए और राष्ट्रीय मामलों के संचालन में इसकी जो भूमिका है उसे निर्धारित किया जाए। इस संबंध में दो प्रवृत्तियां उल्लेखनीय हैं एक तो "राष्ट्रीय सुरक्षा" को उससे मिलती-जुलती संकल्पनाओं—विशेषतया राष्ट्रीय संकल्पना से अलग करने की है। इस संदर्भ में सुरक्षा को एक विशिष्ट विषय माना जाता है जिसकी अपनी अलग विशेषताएं हैं। दूसरी प्रवृत्ति जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण है—वह है राष्ट्रीय सुरक्षा को एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोण में देखने की जिसमें यह राज्यकला संबंधी बहुत सी अन्य संकल्पनाओं के साथ जुड़ी रहती है। इस प्रकार एक समय यह सोचा जाता था कि राष्ट्रीय सुरक्षा बाह्य खतरों से बचाव और इसी कारण विदेश नीति का विषय है किन्तु अब यह भी समझा जाता है कि सुरक्षा राज्य के भीतरी खतरों से भी संकट में पड़ सकती है। अतः राष्ट्रीय सुरक्षा विदेशनीति और गृहनीति दोनों से संबद्ध होनी चाहिए। कभी यह तर्क

दिया जाता था कि राज्य की सुरक्षा केवल सैन्य बल पर कायम रखी जा सकती है किन्तु अब यह माना जाता है कि इस दृष्टि से असैनिक कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी से राष्ट्रीय शक्ति की धारणा का बोध होता है। इन सब के बावजूद, सुरक्षा संकल्पना की प्रगति का एक पक्ष यह भी है कि राष्ट्रीय सुरक्षा को अब अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ अधिकाधिक जोड़ा जाता है। अब हम संकल्पना के मूर्त रूप पर विचार करने और इसके विविध संबंधों की जांच करने का प्रयास करेंगे।

राष्ट्रीय हित

कहा जा सकता है कि "राष्ट्रीय हित" संकल्पना को राष्ट्र राज्य प्रणाली के विकास के साथ उस समय लोकप्रियता मिली जब राजवंश अथवा शासक-राजकुमार के हितों का स्थान जनहित ने ले लिया था। बाद में राष्ट्रीय हित को एक ओर तो राज्य के अन्दर व्यक्तियों अथवा दलों की मांगों से और दूसरी ओर राज्य के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की मांगों से अलग करके देखा गया। इसमें ऐसी संकल्पनाएं शामिल हैं और यह ऐसी नीतियों का संवर्धन करता है जो अन्य अनेक हितों को राष्ट्रीय हित से गौण कर देती हैं।

चूंकि राष्ट्रीय हित राष्ट्र राज्य प्रणाली के साथ जुड़ा है, इसलिए इसके अपने अलग उद्देश्य बन गए हैं और यह उन दिशाओं में प्रवृत्त होता रहा है जिनका राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ घनिष्ट संबंध है। यह सोच कर कि चूंकि राज्य का प्रमुख कार्य किसी दूसरे राज्य के हितों की तुलना में अपने हितों की रक्षा करना होता है अतः इसे मुख्य रूप से विदेशनीति का विषय माना गया। इस प्रकार की विचारधारा बहुत समय तक बनी रही और वास्तव में बीसवीं सदी में जब राष्ट्रीय हित का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाने लगा तो इसे अतिरिक्त बल मिला। एक लेखक के अनुसार यह राष्ट्र की राजनीतिक आवश्यकता ही नहीं बल्कि उसका नैतिक कर्तव्य भी है कि वह अन्य राज्यों के साथ अपने संबंधों में मार्गदर्शन के एक सिद्धान्त, विचारों के एक मानक और कार्य के एक नियम अर्थात् राष्ट्रीय हित का पालन करें। उन्होंने यह भी कहा कि "जब तक यह संसार राजनीतिक रूप से राष्ट्रों में बंटा रहता है तब तक विश्व की राजनीति में "राष्ट्रीय हित" का सर्वाधिक महत्व रहेगा। अतएव, राष्ट्रीय हित पर मुख्यतया विदेश नीति के संदर्भ में और गृहनीति पर 'लोक हित' के संदर्भ में विचार करने की प्रवृत्ति रही है।

राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय सुरक्षा भावना शक्ति-संकल्पना से, जो विदेशनीति का अवलंब मानी जाती है, प्रेरित होकर साथ-साथ आगे बढ़ती रही। शक्ति

दूसरे विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में राजनीति विज्ञान और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रमुख विषय बन गई क्योंकि उन वर्षों में यथार्थवादियों का यह निश्चित मत रहा कि "समस्त राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है"। फिर भी समय के साथ-साथ शक्ति की असीम विध्वंसक क्षमताओं—जो प्रौद्योगिक क्रांति की देन हैं—और विदेशनीति के साधनों और साध्यों के नए सिरे से किए गए मूल्यांकन का स्थायी प्रभाव पड़ा। अब राष्ट्रीय हित मात्र विदेशी संबंधों से ही जुड़ा न रह कर आंतरिक मूल्यों से संबद्ध हो गया है। अब यह विदेशनीति और गृहनीति दोनों का लक्ष्य है। इसमें वह सब कुछ आ जाता है "जो राष्ट्र को प्राप्त करना है, बनाए रखना है अथवा जिसका उपयोग करना है अथवा जो इतना जरूरी समझा जाता है कि जिसके लिए महत्वपूर्ण राष्ट्रीय संसाधनों का उपयोग किया जा सकता है"।

संकल्पना के विकास संबंधी उपर्युक्त विहंगावलोकन से ज्ञात होगा कि राष्ट्रीय हित संबंधी धारणा को प्रारंभ से ही अनेक अर्थ दिए गए हैं। किन्तु अभी तक इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा सामने नहीं आई है। 'आंतरिक मूल्यों' के साथ राष्ट्रीय हित का क्या संबंध है—इस विषय में पहले जो विविध व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं उनके बाद उपर्युक्त संबंध भले ही तर्क संगत प्रतीत हो किन्तु इसे अब भी विवादमुक्त कदापि नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'आंतरिक मूल्य' क्या हैं? इन्हें कौन निर्धारित करता है? इस विकट प्रश्न से चकरा कर कुछ लेखक यह सुझाव देते हैं कि यह कार्य तो राष्ट्र के उन उच्च स्तर के निर्णायकों को सौंपा जाना चाहिए जो राष्ट्रीय परिस्थितियों पर अपने अवलोकन के आधार पर इन मूल्यों को निर्धारित करने के लिए बेहतर स्थिति में हों। किन्तु निर्णायकों में कभी-कभी मतभेद हो जाता है और वे कोई निर्णय लेने की स्थिति में नहीं होते। इसके अतिरिक्त उनके निर्णय को वेदवाक्य भी नहीं माना जा सकता, विशेषतया उस स्थिति में जब कि वे उन प्रबल दलों के प्रभाव में आ सकते हैं जो स्वतंत्र समाज में विशेष रूप से शक्तिशाली होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय हित की इस संकल्पना और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की मांगों की अस्पष्टता की सार्थक चर्चा नहीं हो सकी। किन्तु यह प्रतीत तो है ही और वास्तव में यह उन राजनीतिज्ञों के लिए बहुत उपयोगी है जो एक विशेष कार्य दिशा अपना लेते हैं और जब कोई दूसरा तर्कसंगत कारण नहीं मिलता तो 'राष्ट्रीय हित' का नाम ले देते हैं।

इसके विपरीत, राष्ट्रीय सुरक्षा संकल्पना अत्यधिक सजीव संकल्पना है। आज इसमें ऐसे अनेक विषय भी शामिल हैं जिनका अध्ययन समाजशास्त्री और

राजनीति विज्ञानी करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय नीति और दाव-पेंच के अनेक क्षेत्रों में भी इसकी पैठ है। विषय-वस्तु और विस्तार की दृष्टि से राष्ट्रीय सुरक्षा संकल्पना और राष्ट्रीय हित में समानता होते हुए भी राष्ट्रीय सुरक्षा संकल्पना अधिक विस्तृत और सुनिश्चित है और इसलिए यह एक धारणा, एक साधन अथवा एक उद्देश्य के रूप में पेश की जा सकती है। राष्ट्रीय हित को अधिक व्यापक कहा जा सकता है, इसमें सुरक्षा और वे अन्य मूल्यवान वस्तुएं भी शामिल हैं जिन्हें हम सुरक्षा के साथ सीधे संबद्ध नहीं कर सकते। अतः राष्ट्रीय हित में राष्ट्रीय सुरक्षा के अपरिहार्य आधारभूत तत्व शामिल किए ही जाएंगे। ये तत्व हैं : देशवासियों, प्रादेशिक एकता, राज्य की प्रभुसत्ता, प्राकृतिक संसाधनों और राष्ट्रीय संस्थाओं की रक्षा। "किन्तु यदि हम भारत का उदाहरण लें तो इसमें सार्वजनिक शिक्षा, पिछडे वर्गों का उत्थान, धर्मनिरपेक्षता, परमाणु शक्ति का विकास और इसके लाखों लोगों के कल्याण के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण"— इन सब मूल्यवान वस्तुओं को शामिल करना होगा।

राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय नीति

गृह-नीति :—भारत में गृहनीति और विदेशनीति दोनों ही राष्ट्रीय सुरक्षा से जोड़ी गई हैं और जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इसका सर्वप्रथम उदाहरण भारत के संविधान में ही मिलता है। स्वतंत्रता के शुरू से ही भारत के नेताओं ने यह पूरी तरह से महसूस कर लिया था कि देश की रक्षा की सबसे पहली शर्त स्थिर और सशक्त आंतरिक आधार है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सैनिक साधनों के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक साधनों का भी सहारा लिया गया। इस प्रकार आज हमारा देश राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली केंद्र है। जिसके पर्याप्त सेना और आर्थिक संसाधन हैं और जो पूरे देश पर अपनी प्रभुसत्ता जमा सका है और अपने संसाधनों और नीतियों को उन दिशाओं और क्षेत्रों में मोड़ सका है जो सुरक्षा के लिए खतरा बने हुए थे। इसका विशेष प्रमाण उस समय मिला जब हमारे देश के उत्तर-पूर्व में छापामारों के नेतृत्व में थोड़े समय के लिए पृथकवादी आंदोलन भड़का और उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान के घुसपैठियों ने तोड़फोड़ और विघटन का प्रयत्न किया। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार केंद्र तो सशक्त है ही, राज्यों की भी अपने क्षेत्रों में स्वायत्तता कायम है और राष्ट्रीय ताने-बाने को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से केंद्र और राज्यों के प्रयासों को समेकित किया जाता रहा है। केंद्र और राज्य सरकारें दोनों ही अंतः प्रादेशिक तनावों, साम्प्रदायिक हिंसा, वर्ग संघर्षों और भूमिगत

आन्दोलनों जैसी विघटनकारी शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए मिल कर कार्य करते रहे हैं। हालांकि यहां राजनीतिक दल हारते-जीतते रहे हैं तथा केंद्र और राज्य सरकारों के तख्ते भी पलटे हैं फिर भी एक ऐसी स्थायी राजनीतिक व्यवस्था निरंतर विकसित होती रही है जो राष्ट्र की सुरक्षा में मूलभूत विश्वास उत्पन्न करती है।

आर्थिक कार्यक्रम

इसमें संदेह नहीं कि यह स्थिति भारत के व्यापक आर्थिक कार्यक्रमों के कारण ही कायम रही है। ये आर्थिक कार्यक्रम पांच मुख्य उद्देश्यों को लेकर शुरू किए गए हैं। ये उद्देश्य है : गरीबी उन्मूलन, बेरोजगारी की समाप्ति, आय असमानताओं में कमी, कृषि और औद्योगीकरण में सुधार। जैसा कि जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे "ये शक्ति के आधार हैं"। इस राष्ट्रीय प्रयास के दो निम्नलिखित पक्ष उल्लेखनीय हैं—

प्रथम, प्रारंभिक चरणों में, रक्षा-विकास को आर्थिक क्षेत्रों की प्रगति से सहायता तो मिली किंतु इसे विशेष रूप से आर्थिक योजना में सम्मिलित नहीं किया गया। इसी शताब्दी के सातवें दशक के मध्य के वर्षों में ही रक्षा और विकास को उस समय परस्पर संबद्ध किया गया जब योजना आयोग के एक उच्चस्तरीय दल ने यह जायजा लिया कि, देश के सामने कौन से बड़े खतरे हैं और उन खतरों का सामना करने के लिए रक्षा-स्थापना को किन-किन साधनों की आवश्यकता है। तभी से राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय कल्याण के आवश्यक तत्वों को आपस में संबद्ध रखा गया और प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में यह ध्यान रखा गया कि रक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति राष्ट्रीय प्रगति उद्देश्य को क्षति पहुंचाए बिना की जाए। दूसरे, भारत ने अपनी रक्षा-क्षमता पैदा की है, और स्थिति के अनुसार इसे सुदृढ़ भी किया है किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि भारत ने और सब कुछ परे रख कर मात्र एक विशाल सुरक्षा-प्रासाद को खड़ा करने का प्रयत्न किया है। वर्षों से ही रक्षा-बजट निवल राष्ट्रीय उत्पाद का तीन-से चार प्रतिशत के बीच रहा है। यह संसार में सबसे कम रक्षा बजट है। यही नहीं रक्षा-सेवाओं में लगी भारत की जन-शक्ति संसार में सबसे कम अनुपात में है। इस निम्न रक्षा बजट स्थिति का एक उत्कृष्ट उदाहरण भारत के परमाणु कार्यक्रम हैं। भारत भी चीन की तरह अपनी परमाणु शक्ति को सैन्यीकरण की दिशा में अच्छी तरह से लगा सकता था किन्तु उत्तर के पड़ौसी देश की तरफ से स्पष्ट परमाणु खतरे के

बावजूद भारत ने अपनी इस शक्ति का उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यों तक ही सीमित रखा है। हमारी राष्ट्रीय नीति सुरक्षा तंत्र की रक्षात्मक क्षमताओं पर बल देने की रही है ।

इससे यह स्पष्ट है कि भारत का यह आचरण राष्ट्रीय सुरक्षा को गृह-नीति से जोड़ने की नवीनतम प्रवृत्ति से मेल खाता है । किन्तु इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी समस्याएं विदेशनीति के संदर्भ में ही अधिक चिंता का विषय रही हैं, अधिक पेचीदा हो गई हैं और अधिक व्यापक बन गई हैं ।

विदेश नीती

राष्ट्रीय सुरक्षा का राष्ट्र की विदेश नीति के साथ घनिष्ट संबंध राष्ट्र-राज्य प्रणाली के विकास की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है । यह बात आसानी से समझ में आती है कि राष्ट्रीय सुरक्षा के मूल में खतरे की धारणा कार्य करती है और अधिसंख्य लोगों का यह विश्वास है कि यह खतरा देश के बाहरी शत्रुओं से होता है। अतः किसी भी तरह से शत्रु का मुकाबला करने की समस्या बाह्य संबंधों के विकास की समस्या है । जो लोग वास्तव में नीति-निर्धारण के कार्य में लगे हुए हैं उनके लिए यह एक सहज, सुलभ और उचित उद्देश्य है जिसकी पूर्ति की ओर उन्हें बढ़ना है । इन प्रयासों को निश्चय ही लोक समर्थन मिलेगा । अभी हाल ही में, राष्ट्रीय मामलों के सिद्धांतकारों और कर्ताओं में यह प्रवृत्ति देखने में आई है कि विदेश नीति को यदि राष्ट्रीय सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में रखा जाए तो यह संभवतया बेहतर रूप में समझी जा सकती है । ऐसा करने से राज्यों की अभिप्रेरणाएं और उद्देश्य काफी स्पष्ट होंगे और अंतर्राष्ट्रीय संबंध अच्छी तरह से समझे और संचालित किए जा सकेंगे क्योंकि अब ये विश्व परिवेश में राज्यों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर आधारित होंगे । फिर भी व्यवहार में, राष्ट्रीय सुरक्षा और विदेशनीति के विलयन से विदेशनीति को समझने में बाधा पड़ सकती है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनका संबंध सुरक्षा से नहीं के बराबर है किंतु फिर भी जो राज्य के लिए महत्वपूर्ण हैं । ये विशेषताएं भारत की अपनी विदेश नीति में झलकती हैं ।

स्वाधीनता के बाद इस नीति का विकास और विस्तार हुआ । किंतु इसके बहुत पहले से स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं की विदेशी मामलों में निरंतर दिलचस्पी बनी रही । यह बात हमें स्पैनिश गृह-युद्ध, फ्रांसिस्टवाद के उदय, और चीन पर

जापान के आक्रमण के संबंध में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किए उनसे स्पष्ट हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस प्रक्रिया की कुछ प्रावस्थाएं सुरक्षा-संकल्पनाओं के विभिन्न आयामों में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं।

शुरू से ही, विदेश नीति जिन विषयों से सम्बद्ध और प्रेरित रही है वे हैं, अन्य राष्ट्रों में भारत की अलग पहचान, साम्राज्यवाद का विरोध, तटस्थता की नीति पर जोर, सैनिक गुटों और शीत युद्धों से बचे रहना, अंतर्राष्ट्रीय तनाव में कमी और संयुक्त राष्ट्र में अभिरुचि। इस अवधि के दौरान, मुख्य खतरा पाकिस्तान से रहा और अपनी प्रादेशिक अखंडता की सुरक्षित रखने के उद्देश्य से भारत ने इस खतरे का सशस्त्र सैन्य बल से मुकाबला करने का फैसला किया।

भारत द्वारा तटस्थता का निर्वाह एक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता बनाए रखने और दूसरी ओर अपने से अधिक शक्तिशाली राज्यों को दूर रखने की दोहरी युक्ति थी। इसके अतिरिक्त भारत की विदेश नीति बहुत कुछ प्राचीन आदर्श वादी परम्पराओं, शांतिपूर्ण प्रयत्नों और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अधीन प्राप्त अनुभव से प्रेरित हुई थी।

यथार्थ स्थिति

भारत की विदेशनीति की दूसरी अवस्था 20 वीं शताब्दी के सातवें दशक के प्रारंभ में मुख्यतया चीन के आक्रमण के कारण उत्पन्न हुई। उस समय पाकिस्तान की ओर से सुरक्षा समस्या अपेक्षाकृत कम थी क्योंकि भारत को विश्वास था कि विभाजन का उन्माद शान्त हो जाने पर सुरक्षा समस्या सरल हो जाएगी। किंतु चीन के आक्रमण ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की सुरक्षा समस्या मात्र पाकिस्तान की ओर से खतरे की समस्या ही नहीं है बल्कि इसके साथ बहुत कुछ और भी जुड़ा हुआ है। इसके बाद भारत की विदेशनीति कहीं अधिक यथार्थवादी और व्यावहारिक हो गई। इसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया यह हुई कि विदेशी अतिक्रमणों को रोकने के उद्देश्य से राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाई गई और विदेश नीति अधिक प्रभावशाली हो गई। इसी उद्देश्य को लेकर प्रथम पंचवर्षीय योजना शुरू की गई और रक्षा स्थापना का बहुत अधिक विस्तार किया गया। साथ ही, भारत ने चीन के आक्रमण और 1965 में पाकिस्तान के साथ हुए दूसरे युद्ध के धक्के के बावजूद भी संसार के उन दूसरे विषयों पर भी ध्यान दिया जिनका सुरक्षा पर प्रभाव पड़ सकता था यथा शस्त्रों के लिए बढ़ती प्रतियोगिता, निरस्त्रीकरण की दुहाई, परमाणु शक्ति का प्रचुर विकास और अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री विधि का पुनर्निर्माण।

तभी से, रक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टों में राष्ट्रीय सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान रखा जाता रहा है। यद्यपि यह पाकिस्तान और चीन के साथ भारत के संबंधों से अब भी जुड़ी हुई है किन्तु अब यह अधिक व्यापक रूप से विश्व की घटनाओं से जुड़ गई है और इसका मूल्यांकन भी घटनाओं के उस व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में बड़ी शक्तियों के बीच सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता (साल्ट) हेलसिंकी के समझौते पर आधारित यूरोप की सुरक्षा और सहयोग, अरब-इजरायली संघर्ष, फारस की खाड़ी में शस्त्र-संग्रह, हिन्द महासागर में बड़ी शक्तियों की पारस्परिक स्पर्धा, हिन्द-चीन में युद्ध और शान्ति और चीन-रूस विवाद जैसी विशेष घटनाएं शामिल हैं। संभवतया यह कहा जाए कि इनमें से कुछ घटनाएं तो भारत की सुरक्षा सीमा से इतनी दूर हैं कि इनका बहुत अधिक सीधा प्रभाव नहीं पड़ सकता, किंतु अब यह महसूस कर लिया गया कि ऐसा सोचना सही नहीं होगा। आज विश्व में देशों के एक दूसरे पर प्रभाव की गति इतनी तेज है और स्थान तथा दूरस्थ देशवासी सिमट कर इतने पास हो गए हैं कि "सुदूर" शब्द में अब इतना अधिक दूरी का भाव नहीं रह गया है।

सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता (साल्ट) आज पूरे विश्व के लिए भी उतना ही सुरक्षा का महत्वपूर्ण विषय है जितना कि बड़ी शक्तियों के लिए। यदि यह वार्ता पूरी तरह असफल हो जाती है तो इसका निश्चित ही यह परिणाम होगा—विश्व के बहुत सारे हिस्सों में शस्त्रों को होड़ और आपसी संघर्ष होने लगेंगे। इससे एक ऐसा दूरगामी खतरा पैदा हो जाएगा जो भारत जैसे देशों को अपनी लपेट में ले सकता है। भारत की विदेशनीति के हाल के लक्ष्यों में एक लक्ष्य हिन्दमहासागर का विसैन्यीकरण है। इस क्षेत्र में अभी तक तो कोई खतरा सामने नहीं आया है। किन्तु भारत यह भूला नहीं है कि इसी महासागर को पार कर पश्चिमी शक्तियां आई थीं और भारत को अपने कब्जे में कर लिया था। भारत यह भी जानता है कि वर्तमान परिस्थितियों में हिन्द महासागर इस देश के अस्तित्व के लिए परम महत्वपूर्ण संचार व्यवस्था का कार्य करता है।

यह जरूरी नहीं है कि सम्पूर्ण विदेशनीति सुरक्षा विषयों से प्रभावित हो ही। ऐसा माना जाता है कि आज की दुनियां में आर्थिक संबंध उतने ही निर्णायक हो गए हैं जितने कि राजनीतिक व सैनिक संबंध। इस संबंधों में उत्तर-दक्षिण के सम्पन्न और निर्धन वर्ग के बीच के एक दूसरे से नितान्त भिन्न संचार, व्यापार

और सहायता संबंधी समस्याएं, विश्व वित्त का प्रबंध, कच्चे माल तथा तैयार सामान का नियंत्रण और वितरण तथा प्रौद्योगिकी का विनिमय आदि कार्य शामिल हैं। ऐसे प्रयोजनों के लिए भारत के विदेशनीति विशेषज्ञों को युद्धनीतिज्ञ न होकर आर्थिक और वित्त विशेषज्ञ होना होगा। अन्य ऐसे असैनिक क्षेत्र भी हैं जिनके साथ देश की विदेशनीति जुड़ी हुई है जैसे जाति-पांति से रहित समाज में मानव अधिकारों का संवर्धन। बाहरी संबंधों में क्या बात सबसे प्रथम आती है, यह बहुत कुछ अंतर्राष्ट्रीय वातावरण पर निर्भर करता है। तनाव और संघर्षों के दौरान सुरक्षा समस्याएं प्रमुख होती हैं किन्तु शान्तिपूर्ण स्थितियों में जब विश्व मानव जाति के कल्याण संबंधी समस्याओं में जुटा होता है, सुरक्षा समस्याएं गौण हो जाती हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय शक्ति

राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी प्रारंभिक विचार अधिकतर सैनिक मामलों से जुड़े रहे क्योंकि तब ऐसा सोचा जाता था कि राष्ट्र और राज्य का अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि शत्रु के विरुद्ध उसमें बल प्रयोग की कितनी क्षमता है। यह सत्य है कि सैन्य बल अभी भी राष्ट्रीय सुरक्षा का सबसे अधिक सुस्पष्ट तत्व है और राजनेता तथा राजनीति-वैज्ञानिक अभी भी सेना वृद्धि, शस्त्र प्राप्ति, रक्षा संरचना के निर्माण और सामरिकी तथा युद्ध योजनाओं के निर्माण में लगे हुए हैं। परन्तु यह विचार अत्यंत संकीर्ण समझा जाता है। जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, मात्र सैनिक शक्ति से ही सुरक्षा कायम नहीं रहती। इसके अतिरिक्त, सैनिक शक्ति में भी अनेक ऐसे संघटक है जिन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है। अंततोगत्वा यही कहा जाएगा कि राष्ट्रीय सुरक्षा को राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में अधिक अच्छी तरह से समझा और मूल्यांकित किया जा सकता है।

राष्ट्रीय शक्ति

किंतु प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय शक्ति क्या है? साधारणतया इसका यह अर्थ होगा कि राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्र की वास्तविक क्षमताओं का समष्टि रूप है। किन्तु यह संकल्पना काफी भ्रामक है क्योंकि एक राष्ट्र की बहुत सारी क्षमताएं होती हैं। इनमें से कुछ तो बिल्कुल स्पष्ट होती हैं, किंतु अन्य कुछ ऐसी गुप्त क्षमताएं होती हैं जो केवल संकट की घड़ी में ही सामने आती हैं और फिर, जो भी हो, क्षमताएं इतनी अधिक होती हैं विशेष रूप से भारत जैसे विशाल देश में कि इन्हें संक्षेप में नहीं बताया जा सकता।

फिर भी, राष्ट्र शक्ति को हम कम से कम छह तत्वों की उपज मान सकते हैं। ये तत्व हैं—

(क) **भूगोल** :—इसमें आकार, स्थिति, रूप और सीमाएं शामिल हैं। भारत एक विशाल देश है और इसलिए इसे काफी अधिक स्थान और प्राकृतिक संसाधनों का लाभ प्राप्त है। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत की प्रमुखता है और दक्षिण में हिन्द महासागर है जो इसकी रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और आज पड़ौसी देशों के साथ इसकी लंबी और नाजुक सीमाएं सुरक्षा संबंधी स्थायी समस्याएं उत्पन्न करती हैं। प्रायद्वीपीय रूप के कारण हिन्द महासागर के दो महत्वपूर्ण खंडों - अरबसागर और बंगाल की खाड़ी में इसकी महत्वपूर्ण स्थिति है।

(ख) **जनसंख्या** :—आज भारत की जनसंख्या विश्व की दूसरी बड़ी जनसंख्या है, यह जनशक्ति का विशाल भंडार है। यदि इसकी भली प्रकार देखभाल की जाए तो यह शक्ति का स्रोत है किंतु यदि इसकी उपेक्षा की जाए तो यही जनसंख्या एक दायित्व बन सकती है।

(ग) **राष्ट्रीय संस्थाएं** :— ये संस्थाएं लोगों को अपना कामकाज संगठित, व्यवस्थित तरीके से करने योग्य बनाती हैं, संपत्ति पैदा करती हैं और उसकी आगे रक्षा करती हैं, साथ ही राष्ट्रीय प्रयासों को शक्ति और संबद्धता प्रदान करती हैं। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही वैधानिक, शास्त्रीय, न्यायिक, आर्थिक, सामाजिक और सैनिक क्षेत्रों में काफी कुछ स्थायी, उत्पादक और नियामक संस्थाएं बन गई हैं। ये गतिशील हैं और समय की आवश्यकतानुसार कार्य करती हैं।

(घ) **प्रौद्योगिकी** :—इसका संबंध राज्य की मूल अर्थ-व्यवस्था से है। इससे कामगारों और लड़ाकू वर्ग का प्रशिक्षण एवं सैन्यसंघटन सुकर बनता है उद्योग का विकास होता है तथा शस्त्र और उपस्कर भी इसी के कारण प्राप्त किए जाते हैं। इस संबंध में, भारत ने यद्यपि काफी कुछ उन्नति कर ली है किन्तु अभी भी इसे इलेक्ट्रोनिकी, परमाणु ऊर्जा और अंतरिक्ष विज्ञान के आधुनिक युग के उपयुक्त अधिक परिष्कृत कौशल प्राप्त करने हैं।

(ङ) **हौसला तथा नैतिक बल** :—यह संस्कृति, निष्ठा और प्रशिक्षण से निर्मित होता है, साथ ही इसके लिए राष्ट्रीय अस्तित्व तथा स्तर और वैयक्तिक गौरव की रक्षा करना भी आवश्यक है ।

(च) **नेतृत्व** : नेतृत्व इस बात का मापक है कि राष्ट्रीय क्षमताएं किस सीमा तक संगठित और प्रयुक्त की जा रही हैं । नेतृत्व के बिना तो राज्य का दैनिक जीवन भी संकट में पड़ सकता है । निश्चित ही एक नेतृत्वहीन राज्य चाहे वह अन्य क्षेत्रों में कितना ही योग्य क्यों न, संकट के सामने नहीं ठहर सकता । दोष यूनिटों का नहीं होता बल्कि उनके कमांडर अयोग्य होते हैं यह लोक प्रसिद्ध सूक्ति है जो राष्ट्र के संदर्भ में भी उतनी ही सही है जितनी कि सेना के संदर्भ में । स्वतंत्रता के बाद भारत को सौभाग्य से ऐसा नेता मिला जिसका पूरे देश में व्यापक प्रभाव था । भारत को ऐसा सत्ताधारी मिला जिसने स्वतंत्रता की उपलब्धियों को समन्वित करने और राज्य में शक्ति और स्थायित्व की भावना प्रेरित करने में बहुत सहायता की ।

ऊपर जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसमें सैनिक शक्ति का राष्ट्रीय शक्ति के एक पृथक तत्व के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है-यह सोच कर कि सैनिक शक्ति राष्ट्रीय क्षमताओं के आधार पर ही निर्मित होती है ।

तत्वों की सूची उपर्युक्त तत्वों तक ही सीमित नहीं है । उदाहरण के लिए, कुछ लोग राजनय को एक और तत्व मानेंगे क्योंकि राजनय का एक प्रमुख कार्य राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना होता है । संकट की घड़ी में एक दक्ष राजनयज्ञ अपनी सरकार को समय पर चेतावनी दे सकता है और दुश्मन के खतरे को कुछ देर रोक सकता है । दूसरी ओर, कुछ लोग उपर्युक्त सूची को सरल करके यह कहेंगे कि राष्ट्रीय शक्ति, सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और जन विचार शक्ति 'इन तीनों शक्तियों में विभाजित है । यही नहीं कुछ अन्य लोग ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीय शक्ति के 'मूल' पक्षों पर ध्यान देंगे जो राष्ट्रीय सुरक्षा के पीछे मुख्य प्रेरक शक्ति हैं ।

उपर्युक्त विचारकों का अंतिम वर्ग प्रायः दूसरे विश्व युद्ध के अनुभव के तथा इसके बाद राष्ट्रीय संसाधनों के संविभाजन के लिए एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर किए गए एक साथ अनेक दावों से प्रेरित हुआ है । युद्ध का अनुभव यह था कि

अंतिम स्थिति में यह औद्योगिक शक्ति ही थी जिसने विभिन्न प्रकार के हथियारों, उनके विस्तार और प्रयोग के रूप में मित्र शक्तियों का पलड़ा भारी कर दिया था और उन्हें विजयी बनाया। इस प्रकार, राष्ट्रीय सुरक्षा को आर्थिक प्रयास का एक तत्व माना गया है। इस सामान्य अभिधारणा के अंतर्गत सुरक्षा संबंधी मामले मोटे तौर पर दो वर्गों में आते हैं।

पहले वर्ग में राष्ट्रीय संसाधनों को सैनिक और सिविल क्षेत्रकों में बांटने के संबंध में विशेषज्ञों को समस्याएं हैं। विशेषज्ञ यह जानते हैं कि सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के ऐसे मूल्य हैं जिनकी देखभाल करनी होती है। रक्षा के क्षेत्र में ही वे बजट को सेनाओं तथा विभिन्न शस्त्र व्यवस्थाओं के बीच वितरित करने के विषय में अपने-अपने तर्क देते हैं। व्यवस्था विश्लेषण, रक्षा-प्रबंध, माल सूची नियंत्रण, और इसी प्रकार के अन्य मामले इन बातों से अधिकाधिक प्रेरित होते हैं कि लागत और प्राप्त संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग किस प्रकार किया जाए। दूसरे वर्ग में उस 'आर्थिक' लड़ाई के विरुद्ध अपनाई जाने वाली युक्तियां आती हैं जो राज्य के स्थायित्व को खतरे में डाल सकती हैं। इन युक्तियों में स्टाक संचय, सामरिक महत्व के सामान की खोज, और साधारणतया राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का विकास शामिल है। यहां नीति की बात यह है कि सुरक्षा उन दबावों से भी खतरे में पड़ सकती है जिन्हें हम शुद्ध अर्थों में सैनिक दबाव नहीं कह सकते।

सामूहिक सुरक्षा

राष्ट्र-राज्य-प्रणाली से जुड़ी हुई राष्ट्रीय सुरक्षा से भिन्न सामूहिक सुरक्षा को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के संदर्भ में लिया जाता है। इसका अर्थ सिद्धांत और साधन दोनों ही रूपों में लिया जाता है। सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि सुरक्षा पारस्परिक होती है और अलग-अलग राज्य अपनी जगह तभी सुरक्षित रह सकते हैं जब वे सभी राज्य सुरक्षित हों। साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा की परिभाषा यह दी जाती है कि यह अंतर्राष्ट्रीय स्थापित व्यवस्था के प्रति किसी भी खतरे को नियंत्रित करने के लिए संयुक्त कार्रवाई की व्यवस्था है।

बीसवीं शताब्दी में सामूहिक सुरक्षा का विचार 'राष्ट्रसंघ कान्वेंट' में व्यक्त था, यह अलग बात है कि दोनों विश्व युद्धों के बीच के वर्षों में इस विचार को कार्य रूप देने के प्रयत्न निराशाजनक ही रहे। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के युग में संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा का सर्वोच्च और महान रक्षक रहा है। इसका श्रेय इस बात को है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य पूरे विश्व से हैं और

संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार पत्र के अंतर्गत इसके अनेक दायित्व हैं। यह सोच कर कि सामूहिक सुरक्षा के तंत्र के रूप में राष्ट्र-संघ कितना अधिक पराश्रित और व्यवहारतया अशक्त था, इस विश्व संस्था के प्रवर्तकों ने इसे दृढ़ और विशाल नींव प्रदान की। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद-1, के अनुसार यह अपेक्षित है कि शान्ति के खतरों के निराकरण और निवारण के लिए अथवा शान्ति भंग की अन्य स्थितियों में सामूहिक उपाय किए जाएं। अधिकार-पत्र के अध्याय-7 में यह सविस्तार उल्लेख किया गया है कि सामूहिक सुरक्षा उपाय क्या हो सकते हैं। इसके अन्तर्गत एक सैनिक स्टाफ समिति तथा दूसरी राज्य सदस्यों के लिए समिति की स्थापना की भी व्यवस्था है ताकि वे अपनी सैनिक सहायता उपलब्ध करा सकें।

किंतु वास्तविक व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा जैसी कोई चीज़ अभी तक विकसित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की ही स्थापना सभी राष्ट्रों की सर्वोच्च समानता के सिद्धांत को लेकर हुई है और किसी भी सामूहिक कार्रवाई के लिए राष्ट्रों को अपनी कुछ-न-कुछ जो प्रभुसत्ता छोड़नी पड़ती है, उसके लिए कोई भी राष्ट्र तैयार नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त निषेधाधिकार वाली बड़ी शक्तियों को शुरू से ही ऐसे विशेषाधिकार मिले हुए हैं जो किसी भी एक सामान्य निर्णय को चाहे वह कितने ही बड़े बहुमत से किया गया हो, रद्द कर सकते हैं। अंत में 'आक्रमण' शब्द सबसे अधिक 'भ्रामक' साबित हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सामूहिक कार्रवाई केवल युद्ध विराम के क्षेत्रों में शान्ति सेना भेजने और शान्ति कायम होने तक युद्ध विराम की स्थिति बनाए रखने तक ही सीमित रही है।

क्षेत्रीय मैत्री

संघर्षों पर काबू पाने के किसी सार्वभौमिक प्रबंध के स्थान पर क्षेत्रीय प्रबंध ही युद्धोत्तर युग की उल्लेखनीय बात रही है। अधिकार-पत्र के अनुच्छेद 51 के अन्तर्गत उपर्युक्त क्षेत्रीय प्रबंधों की व्यवस्था की गई है। इस अनुच्छेद में व्यक्ति अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के सहज अधिकार को विशिष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। कभी-कभी इनका औचित्य स्थापन इस आधार पर किया जाता है कि क्षेत्रीय एजेंसियों के क्रियाकलापों और संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक कार्रवाई के बीच हो सकता है एक दूसरे का समर्थक संबंध बन जाए। वास्तविक व्यवहार में, ऐसा संबंध कभी नहीं बना। प्रवृत्ति सदैव यह रही है कि क्षेत्रीय समझौतों पर अधिक भरोसा किया गया और यहां तक कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंपे गए

उत्तरदायित्वों और कार्यवाही को और बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त जो भी मैत्रीसंघ बने उन्हें इस संदेह की दृष्टि से देखा गया कि वे उसी महाशक्ति के हित-संवर्धन के समर्थक थे जो अपने कमजोर साथियों को सुरक्षा छत्र प्रदान करने के बहाने सारी स्थिति को अपने काबू में ले लेता है ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, इन क्षेत्रीय प्रबंधों ने युद्ध-जर्जरित राज्यों को सुरक्षा देकर कुछ बातों में रचनात्मक भूमिका निभाई है। इन राज्यों को सैनिक और आर्थिक सहायता दी गई और इस तरह वे राज्य पुनर्निमाण के नए रास्ते पर कदम बढ़ा सके। किंतु ये प्रबंध एक क्षेत्र अथवा सहभागी राष्ट्रों के लिए कोई आदर्श सामूहिक व्यवस्था नहीं बना सके हैं। कोई भी प्रबंध ऐसा नहीं था जिसे मानना बाध्यकारी रहा हो और प्रत्येक मामले में अंतिम निर्णय प्रत्येक सदस्य के स्वविवेक पर छोड़ दिया गया है। संभवतया 'उत्तरी एटलांटिक संधि संगठन और वारसा पैक्ट, समसामयिक युग के सर्वाधिक सुदृढ़ क्षेत्रीय प्रबंधों में से है किन्तु यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नाटो पैक्ट के फ्रांस और वारसा पैक्ट के रूमानिया में अपने मूल मैत्री संघों से अलग अपना रास्ता बना लिया है। उपर्युक्त दो प्रबंध तो दीर्घ काल से टिके हुए हैं किन्तु दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन और मलेशिया-नदियों के पंच शक्ति रक्षा व्यवस्था जैसे अन्य प्रबंध समाप्त हो चुके हैं। इससे भी कहीं अधिक बुरा हाल अनेक द्विपक्षी समझौतों का हुआ है यथा मिस्र और रूस-पैक्ट जिसका सुरक्षा में कोई योगदान तो दूर रहा बल्कि उसने वैर-विरोध और पारस्परिक अवमानना को जन्म दिया। संस्थागत व्यवस्थाओं के अलावा, कभी कभी एशियाई सुरक्षा, यूरोपीय सुरक्षा आदि अन्य सुरक्षा प्रबंध भी सुनने में आते हैं किन्तु ये सब तो संयुक्त सुरक्षा प्रयास सिद्धांत से जुड़े हुए हैं और व्यवहार में बहुत अधिक नहीं आते।

तटस्थता

यद्यपि गत वर्षों में द्विपक्षी और बहुपक्षी अनेक मैत्री संघ स्थापित किए गए किंतु यह भी सही है कि आज जिन राज्यों में विश्व बंटा हुआ है उनमें से कुछ ही इन मैत्री संघों के सदस्य बने। समय के साथ सदस्य राज्यों की संख्या कम होती गई क्योंकि अनेक राज्यों ने यह महसूस कर लिया कि मैत्री संघ में बने रहने का अर्थ केवल यही नहीं कि उन्हें अपनी स्वाधीनता को लेकर कुछ समझौता करना पड़ता है और राष्ट्रीय गरिमा को क्षति पहुंचती है। बल्कि यह भी कि ये संघ अनर्जक हैं क्योंकि ये उन्हें शक्ति की होड़ और शीत युद्ध में फंसा देते हैं। अब राज्य अधिकाधिक तटस्थ दल की ओर झुके हैं जिसका सिद्धांत यह है कि किसी

भी शक्ति गुट में शामिल न हुआ जाए, बाहरी शक्तियों को अपनी धरती पर अड्डे न बनाने दिए जाएं और शक्ति को प्रोत्साहित न किया जाए। इस दल का भारत सबसे अग्रणी प्रतिनिधि रहा है। एक तटस्थ राज्य सबसे पहले राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अपनी शक्ति पर निर्भर करता है भले ही उसे यह भी ज्ञात है कि आज विश्व का जो गठन है उसमें यह पर्याप्त नहीं है। वे तटस्थता दल के अपने साथियों के नैतिक समर्थन पर भरोसा करते हैं। यह दल वस्तुतः सामूहिक सुरक्षा को सभी धारणाओं का त्याग करता है, और वास्तव में इस दिशा में कार्य करने का इसके पास कोई उपकरण भी नहीं है, फिर भी यह इस बात की ओर ध्यान देता है कि मानवजाति के स्वविवेक का सामूहिक समर्थन होना चाहिए। भारत का यह विश्वास है कि इसकी तटस्थता की नीति ने बड़ी शक्तियों को दूर रखने में निरोधक का काम किया है—यह अपने आप में ही एक प्रकार की राष्ट्रीय सुरक्षात्मक कार्रवाई है।

निष्कर्ष

समकालीन लेखक यह संकेत करते हैं कि आज विश्व संक्रांति काल से गुजर रहा है, आज एक ओर तो अंतर्राष्ट्रीय विश्व समुदाय का उदय हो रहा है और दूसरी ओर मानव समाज के विखंडित होने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। इस प्रकार संघर्ष और सहयोग के स्वर एक साथ सुनाई दे रहे हैं। आज बढ़ती हुई पराश्रितता, निकट के संपर्क, और आपसी सद्भावना, आर्थिक हितों का, जो कि विश्व-व्यापि शान्ति की स्थितियों में ही अधिक पनप सकते हैं—उत्कर्ष और अपने प्रतिद्वन्द्वी दावों को पराजित करने वाली सैकड़ों अंतर्राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय एजेंसियां—ये सब सहयोग को बढ़ाते हैं। इसके बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार-पत्र के अनुच्छेद 33 के अन्तर्गत अब शान्तिपूर्ण निपटारों के लिए अनेक उपाय, बातचीत मध्यस्थता, मेल-मिलाप, मध्यस्थ निर्णय, सामने आ गए हैं। दूसरी ओर अभी भी शक्ति को झगड़ों का अंतिम निर्णायक माना जाता है और यह विरोधी शक्ति को उत्पन्न करती है। राष्ट्र अब भी 'शक्ति स्थितियां' बना रहे हैं और अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा को अधिकांशतया सैनिक गुटों, शक्ति संतुलन और निवारण के संदर्भ में लिया जाता है। आज विश्व पारस्परिक संबंधों में शक्ति की बात समाप्त करने के स्थान पर शक्ति समीकरण के अनुसार चल रहा है। वह स्थिति केवल परमाणविक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि अधिक छोटे परंपरागत क्षेत्रों में भी है। अतः हथियारों की होड़ आज के समय की सबसे प्रमुख बात है, इस होड़ में सभी राष्ट्र इस उद्देश्य से बाध्य होकर बह जाते हैं कि स्वरक्षा सबसे बड़ी सहायता है।

सहयोग और संघर्ष साथ-साथ चलते हैं और अंत में जीत किसकी होगी, इसके विषय में कुछ भी पहले से कहना कठिन होगा । जैसी अब स्थिति है, राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कोई व्यावहारिक विकल्प नहीं है, भले ही अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एक सिद्धान्त के रूप में बनी रह सकती है ।

संदर्भ

(रिपोर्ट और लेक्चर)

रक्षा मंत्रालय :

(1) **वार्षिक रिपोर्ट** :—1971-72 से इन रिपोर्टों में राष्ट्रीय सुरक्षा का एक अलग अध्याय होता है जिसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में उन मुख्य घटनाओं की रूपरेखा होती है जिनके सुरक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रभाव हो सकते हैं ।

(2) **पंचवर्षीय रक्षा योजनाएं** :—1964 में आरम्भ की गई इन योजनाओं में (वर्गीकृत प्रलेख किन्तु विषय वस्तु संक्षिप्त रूप में उपलब्ध) राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी प्रश्नों को सैनिक संदर्भ में ठोस रूप में प्रस्तुत किया गया है । राष्ट्रीय योजना आयोग का योजनादल समय-समय पर प्रमुख खतरों का जायजा लेता है ताकि सुरक्षा और विकास को समन्वित किया जा सके ।

यूनाइटेड सर्विस इन्स्टीट्यूशन आफ इंडिया : इंडियाज प्रोबलम्ज आफ नेशनल सिक्योरिटी इन दि सेवेंटीज : 1971 : इंडियाज डिफेन्स पालिसी सिस इन्डिपेंडेंस : सम प्रोबलम्ज आफ इंडियाज डिफेन्स 1975

डिफेन्स एंड डेवलपमेंट 1976—ये लेक्चर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते हैं और राजनीतिक तथा आर्थिक विकासों से सहसंबद्ध वर्तमान दृष्टिकोणों पर केंद्रित हैं ।

चोपड़ा, महाराज के० : इण्डिया दि सर्च फार पावर : बम्बई, 1969, इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा का भूराजनीतिक वातावरण दिया गया है और सुरक्षा को देश की आर्थिक-राजनीतिक नीतियों से सहसम्बद्ध किया गया है ।

स्टेबिलिटी इन दिइंडियन सब कान्टिनेंट और **इंडियाज डिफेंस पालिसी एंड इंफ्रास्ट्रक्चर:** यू० एस० आर्मी कमांड एंड जेनरल स्टाफ कालिज के नवम्बर 1925 और जून 1978 में क्रमशः दिए ।

कौल, बी० एम०, ले० जनरल : दि अन्टोल्ड स्टोरी : नई दिल्ली 1967, इसमें संकट की घड़ी—1962 का चीन के साथ युद्ध में भारत के सुरक्षा तंत्र की कार्य पद्धति की झलक है ।

पामर, नारमेन डी : इन्टरनेशनल रिलेशन्स : पेन्सिलवेनिया, यू० एस० ए० 1969—इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा के विभिन्न पक्षों का टेक्स्ट बुक विवरण दिया गया है ।

रोजी, ड्यूजीन० जे० : **अमेरिकन डिफेन्स एंड डिटेन्टे :** न्यूयार्क 1973, इसमें संकल्पना संबंधी दूसरे विश्व युद्ध के बाद शुरू शुरू की अवस्था संकल्पना संबंधी आधारभूत व्याख्याएं दी गई हैं ।

टेलर, मैक्सवेल डी० : प्रिकेशियस सिक्योरिटी : न्यूर्याक 1976, इसमें सुरक्षा संबंधी समस्याओं को मुख्यतया अमरीकी दृष्टिकोण के भावी परिवेश में उभारा गया है और जनसंख्या विस्फोट, खाद्य संसाधनों के नियंत्रण के लिए संघर्ष और विश्व के अनेक भागों में अस्थायित्व—इन सब के रूप में उपर्युक्त समस्याओं के अप्रत्यक्ष प्रभावों की परीक्षा की गई है ।

राष्ट्रीय रक्षाविश्वविद्यालय : रिपोर्ट ऑन नेशनल सिक्यूरिटी : कांफ्रेंस, वाशिंगटन, यू० एस० ए० । इस कांफ्रेंस में चुने हुए ऊंचे दर्जे के विद्वानों, सरकारी अधिकारियों और उद्योग के उच्चाधिकारियों ने भाग लिया । इस की रिपोर्ट में महत्वपूर्ण समीकरणों, आर्थिक और प्रौद्योगिक कारकों और मुख्य शक्तियों के साथ-साथ विकासोन्मुख राज्यों की भूमिका पर ध्यान केन्द्रित किया गया है ।

सिविल सैन्य संबंध

—मेजर श्याम लाल

सिविल सैन्य संबंध से तात्पर्य यह है कि सेना और राज्य के अन्य अंगों के आपसी संबंधों का स्वरूप क्या है ? अन्य अंगों के समान हो, आवश्यकता के समय काम आने वाली सशक्त सेनाओं का गठन और देखभाल भी, राज्य द्वारा की जाती है। इसके अंतर्गत मुख्यत: इन अंगों के आपसी संबंध ही शामिल हैं। अलग-अलग राज्यों में ये संबंध भिन्न-भिन्न हैं। ये संबंध प्राय: विरोधी राष्ट्रीय हितों की प्रतिद्वंद्विता पर आधारित होते हैं। सिविल-सैन्य संबंध राज्य के अंगों और समाज के बीच सब प्रकार के विरोध को दूर करने का एक प्रयास है। इसे एक सहयोग सापेक्ष प्रयास माना जाना चाहिए। सिविल शक्ति लगभग सभी प्रकार संविधानों में सर्वोपरि मानी जाती है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित नीतियां और प्रक्रमण, औपचारिक एवं कार्य रूप में, राष्ट्र के सिविल नायकों द्वारा, जो कि जनता द्वारा मान्य हो, निर्धारित होने चाहिए। इस मूल सिद्धान्त को आधुनिक उच्च सैन्य अधिकारी भी मानते हैं। अमरीकी जनरल ओमर ब्रैडले ने कहा है कि "आर्थिक, राजनीतिक तथा सैन्य क्षेत्रों में हमारे राष्ट्र का नियंत्रण सिविल सरकार एवं विधान मंडलों द्वारा ही होता है।"

यद्यपि सैन्य विभाग उसी प्रकार से राज्य का एक अंग है जैसे कि वित्त, विदेश, कृषि विभाग, परन्तु सैन्य शक्ति राजनीति में प्राय: हस्तक्षेप करने के पश्चात् राज्य के लिए खतरा हो जाती है। ऐसा खतरा विभिन्न संविधानों में अथवा समाज में कम-अधिक हो सकता है परन्तु पूर्णतया समाप्त नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि सेनाओं के पास वह दुधारी तलवार होती है, जिसकी एक धार सुरक्षा प्रदान करती है तो दूसरी से तख्ता-पलट अथवा अन्य स्तरों पर हस्तक्षेप किया जा सकता है। इतिहास में सैन्य शक्ति का प्रयोग इन दो रूपों में होता रहा है—कभी विचार-धाराओं के प्रवाह को सीमित करने में अथवा उनका प्रतिपादन करने में कभी सीमाओं को रक्षा करने में अथवा उनका विस्तार करने में, विदेशों को जीतने में अथवा उनका शासन करने में। एक समय यदि सेनाएं देश के अंदर असैनिक सत्ता को स्थापित करने तथा उसका बचाव करने में योगदान देती हैं तो कभी सेनाओं ने

राजाओं, गणतंत्रों, तानाशाहों का दमन करवाया है तो कभी ऐसे राज्यों को स्थापित होने में सकारात्मक सहायता प्रदान की है। कभी सेनाओं ने सरकार का विकल्प लाने में योगदान दिया है तो कभी स्थायी सरकार बनाने में सहायता की है।

सिविल सत्ता तथा समाज का प्रभाव सेनाओं की प्रतिष्ठा, संगठन मनोबल, सामूहिक शक्ति, आदि पर बहुत पड़ता है क्योंकि वे देश का ही एक अंग हैं और उनका कार्य अर्थात् राष्ट्रीय सुरक्षा उन्हें समाज में उच्च स्थान प्रदान करती है। सामाजिक जीवन के दोनों, सैन्य-असैन्य अंगों में पारस्परिक संबंध बना रहना स्वाभाविक है परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा संबंध समस्या और तनावपूर्ण क्यों बन जाता है। इस समस्या का इतिहास है और आधुनिक काल में भी यह महत्वपूर्ण है, यद्यपि इस तनाव का रूप बदल गया है।

जब कभी किसी राष्ट्र को आत्मप्रभुसत्ता प्राप्त होती है तब अपनी सुरक्षा करना उसका प्रथम कर्तव्य होता है। सीमा तथा राष्ट्रीय भूमि की रक्षा ही नहीं अपितु राष्ट्रीय संपत्ति और नैतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परंपराओं की रक्षा करना भी उस राष्ट्र का कर्तव्य है। राष्ट्रीय नौका पर आप चाहे सभी सुख-साधन जुटा दें परन्तु यदि उसकी रचना में समुद्री तूफानों का सामना करने की क्षमता नहीं है और वह डूब जाती है तो जीवन के सभी सुखद साधन विफल हो जाएंगे। अतः विदित है कि पुरातन काल से ही राजा एवं प्रजा राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रथम स्थान देते आए हैं और इस हेतु ऐसी शक्तिशाली सक्षम सेनाओं का संगठन करते आए हैं जो बाहरी आक्रमण अथवा आंतरिक विद्रोह से सुरक्षा प्रदान कर सके।

इन क्षमताओं को प्राप्त करने के लिए सेनाओं की सज्जा, संगठन, मनोबल, नेतृत्व एवं प्रतिष्ठा का उत्तम होना आवश्यक है। राष्ट्र की सत्ता बनाए रखने में सैनिक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह दयनीय परिस्थितियों में कार्य करता है और प्रायः उसे अपने जीवन को उन सुविधाओं की भी बलि दे देनी पड़ती है जिनका आमतौर पर अन्य सभी नागरिक उपभोग करते हैं। अतः उसका दृष्टिकोण ऐसा बना देना चाहिए ताकि उसके सामने कोई उद्देश्य रहे। उसका संपूर्ण प्रशिक्षण और पर्यावरण जीवन में किसी उच्च उद्देश्य की भावना की प्रेरणा देने वाला होना चाहिए। वह अपने यूनिट, रेजिमेंट और उसकी परंपराओं के लिए जीना सीख जाता है और इनके माध्यम से वह अपने देश के लिए जीता है। उसे इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है कि अनुशासन उसके अंग-अंग में समा जाए। अपने से उच्च अधिकारी का आदेश तत्परता के साथ तथा बिना आनाकानी मानना उसका धर्म हो जाता है और अभ्यास द्वारा अनुशासन उसकी प्रकृति बन जाती है।

सेनाओं को सज्जा भी देश उत्तम ढंग से करता है । अंदरूनी विद्रोह भी न पनपने पाए, इसका भी ध्यान रखना पड़ता है इसलिए, शस्त्रों से सज्जित कोई अन्य ऐसी शक्ति न खड़ा होने दी जाए जो कि आरूढ़ सत्ता को चुनौती दे । इसलिए, कुछ देशों को अथवा संविधानों को छोड़कर शस्त्रों में राष्ट्र की सेनाओं का लगभग एकाधिकार होता है । सेनाओं का संगठन भी विशेष प्रकार का होता है जिसमें समानता पर नहीं बल्कि अर्हता पर बल दिया जाता है । सैनिक संगठन समस्तरीय न होकर विषमस्तरीय अथवा पिरामिडाकार बनाया जाता है जहां सैनिकों का कमान, प्रशासन, देखभाल, प्रशिक्षण आदि उनके नायक करते हैं । सनिक का धर्म तत्परता और पूर्ण शक्ति के साथ आज्ञा को कार्यरूप देना होता है । क्योंकि संकट अथवा युद्ध काल में यदि सैनिकों को विचार-विनिमय करने अथवा निर्णय पर आपत्ति करने का अधिकार दे दिया जाए तो युद्ध में सफलता मिलना लगभग असंभव हो जाएगा ।

जैसो कि सैनिकों से अपेक्षा की जाती है, वे राष्ट्रीय सुरक्षा और युद्ध-संकट विशेषत: युद्ध के दौरान नायक के रूप में सामने आते हैं और वे जनता द्वारा नायक के रूप में स्वीकार भी किए जाते हैं । यदि किसी कारणवश देश में सेना की प्रतिष्ठा गिर जाती है और जनता सैनिकों को सम्मान नहीं देती तो सेना का आत्मबल भी गिर जाता है और उसी के साथ सेनाओं की यौद्धिक क्षमता भी क्षीण हो जाती है ।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, ऐसी प्रबल सैन्य शक्ति का दुरुपयोग होना शंकित ही नहीं अपितु वास्तविक होता है और सेनाएं आरूढ़ सत्ता के लिए खतरा बनती रही हैं क्योंकि शक्ति के द्वारा प्रभुता प्राप्त करना सरल है । सभी शक्तिशाली वर्ग प्रभुता प्राप्ति के इच्छुक रहते हैं । इसी मूल कारणवश, इतिहास में सेनाएं राजनीतिक सत्ता प्राप्त करती आई हैं, यद्यपि सिविल सत्ता का लगातार यह प्रयास रहता है कि सेनाओं को राजनीति से पृथक रखा जाए । राजनीतिक सत्ता के लिए कई स्तरों पर हस्तक्षेप हो सकता है । पहले स्तर पर सेनाएं स्पष्ट रूप में राजनीति से पृथक् रहती हैं परन्तु वास्तव में उनका पर्याप्त प्रभाव होता है । दूसरे स्तर पर, सेनाएं राजनीति से अलग रहते हुए जिस दल को चाहें, सत्ता से वंचित अथवा सत्तारूढ़ कराने में भाग लेती रहती हैं । उससे भी अधिक शक्तिशाली स्तर वह है जब राज्य की सभी गतिविधियां सेनाओं के इशारे पर चलने लगती हैं और सैन्य शक्ति देश के अंदर एक राज्य का रूप धारण कर लेती है । जैसे कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी और द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिका । अंतिम स्तर का सैनिक हस्तक्षेप वह होता है जब सैनिकों को यह विश्वास हो जाए कि सिविल सत्ता में इतनी भ्रष्टता

आ गई हैं कि वह देश की प्रगति में बाधक है और देश सेवा उन्हें बाध्य करती है कि वे स्वयं राज्य शक्ति ग्रहण कर लें और अपने कुशल संगठन, तकनीकी विज्ञान और प्रशिक्षण के द्वारा देश को उत्तम पथ पर लगाएं। सैन्य नायक बहुधा यह भी घोषित करते हैं कि प्रजातंत्र को पुनःस्थापित करना उनका संकल्प है। जैसे ही भ्रष्टाचार दूर होगा, देश में पर्याप्त उन्नति होने लगेगी। सैन्य शक्ति का राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना सैन्य तख्ता-पलट कहलाता है। आधुनिक काल में सैन्य तख्ता-पलट अफ्रीका, एशिया तथा दक्षिणी अमेरिका के बहुत से देशों में देखने में आया है। जिन कारणों से इन देशों में सैन्य तख्ता-पलट हुआ उनके अध्ययन से परिस्थितियों और घटनाओं की समानता का पता लगता है। प्रमुख राजनीतिक शक्ति का अभाव वह प्रमुख परिस्थिति है जिसके फलस्वरूप तख्तापलट की आवश्यकता होती है और जिस पर उसकी सफलता निर्भर है। इस रिक्ति को भरने की दौड़ में शक्तिशाली सैनिक संगठन ही हमेशा विजयी होता है। राजनीतिक शक्ति की रिक्ति उत्पन्न करने का कारण कई परिस्थितियां हैं यथा:—

1. जब संविधान राज्य के अंगों की तुलना में सेनाओं को अधिक लाभ की स्थिति प्रदान करता है या स्वीकार कर लेता है।
2. जब लिखित अथवा अलिखित संविधान अपना स्थायित्व तथा गरिमा खो बैठता है।
3. जब भ्रष्ट कार्य पालिका, जिसमें आम लोगों का विश्वास हो जाता है, गद्दी छोड़ने को तैयार नहीं होती।
4. जब किसी अति आवश्यक और सार्वजनिक प्रश्न पर आम लोगों में एक प्रतिकूल और तनावपूर्ण भावना मौजूद हो जिसकी ओर कार्यपालिका ध्यान नहीं दे रही हो।
5. जब सेनाओं के संवेदनशील क्षेत्रों के संबंध में कार्यपालिका और सशस्त्र सेनाओं में तीव्र मतभेद हो। (यह एक ऐसी स्थिति है जो अन्य कारकों के साथ मिल कर सशस्त्र सेनाओं को तख्ता-पलट के लिए बाध्य कर सकती है।)
6. जब कोई देश आकार को दृष्टि से सुसंबद्ध, सजातीय और प्रबंधनीय हो।
7. जिन राज्यों में तख्ता-पलट हुआ है, वहां इनमें से अधिकांश या कुछ परिस्थितियां हमेशा ही पाई गई हैं।

परन्तु उन देशों में जहां प्रजातंत्र की नींव दृढ़ हो गई है—जैसे यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और जहां पर आधुनिकीकरण तथा उन्नति भी पर्याप्त

हुई है, इस प्रकार का विकल्प देखने को नहीं मिलता। भारत यद्यपि आधुनिकीकरण में कुछ पिछड़ा रहा है तथापि यहां पर सेना द्वारा सत्ता-ग्रहण की कार्यवाही नहीं हुई है क्योंकि भारत में प्रजातंत्र की नींव काफी गहरी जम गई है।

कुशल नेतृत्व की वजह से भारत में राजनैतिक शक्ति का अभाव नहीं हो पाया और सुस्थापित कार्यपालिका के कारण भी सफल तख्ता-पलट के लिए उपयुक्त अन्य परिस्थितियां उत्पन्न नहीं हो पाईं। इसके अतिरिक्त भारत का विशाल आकार और विविध प्रकृति सहित सशस्त्र सेनाओं का विविध स्वरूप भी तख्ता-पलट के प्रयत्नों के अनुकूल नहीं है।

इन महाद्वीपों के कितने ही राष्ट्रों पर जहां यूरोपीय साम्राज्य नहीं थे, सेना ने शासन किया है क्योंकि यूरोपीय आक्रमण से अपना बचाव करने के लिए अपनी सेनाओं का आधुनिकीकरण करना पड़ा था। फलतः उन राष्ट्रों की सेनाएं देश की आधुनिक, प्रगतिशील, तकनीक-कुशल हो गईं और उनके कमांडर भी आधुनिकीकरण, राष्ट्रवाद तथा प्रगति में विश्वास करते हैं न कि किसी वर्ग विशेष में। वे किसी क्षेत्रवाद में संकुचित विचार नहीं रखते हैं। 1908 में तुर्की में जिन नौजवान तुर्कों ने जो सत्ता ग्रहण की थी वे उन्हीं पाश्चात्य सैनिक स्कूलों के प्रशिक्षित थे जो वहां के सुल्तान ने 19वीं शताब्दी के अंत में स्थापित किए थे। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मिस्र तथा ईराक जैसे राज्यों में वहां की कुशल सेनाओं ने पुराने राजाओं से सत्ता छीन कर आधुनिकीकरण की पहल की थी। सूडान, पाकिस्तान, बरमा (1958), दक्षिणी कोरिया (1961) तथा दक्षिणी वियतनाम (1963) में जहां यूरोपीय साम्राज्य रहे थे, स्वतंत्रता प्राप्ति के थोड़े ही समय पश्चात सेना ने राजनीतिज्ञों से सत्ता छीन ली क्योंकि उन देशों में राजनीतिक पार्टी भ्रष्ट थी और उनका शासन संतोषजनक नहीं था परन्तु सैन्य विचारधारा भी मूलतः रूढ़ होती है तथा सेनाओं का तकनीकी ज्ञान भी इतना अधिक नहीं होता जितना कि सिविल संस्थाओं का। तीसरे, सैन्य कमांडर भी तानाशाही में जनता से संपर्क खो सकते हैं, असंतोष बढ़ता है और एक सैन्य विप्लव दूसरे विप्लव को अथवा सिविल पार्टी को सत्ता सौंपने पर विवश हो जाता है जैसे पाकिस्तान में जनरल अय्यूब से जनरल याह्याखां ने सत्ता छीनी परन्तु उनका शासनकाल भी कुछ दिनों पश्चात् (1971 की पराजय का विशेष पल) सिविल के जुल्फिकार अली भुट्टो की पार्टी को सत्ता देने पर विवश हो गया और फिर (1977 में) वहां पर सैन्य तख्ता-पलट हो गया। इसी प्रकार अफगानिस्तान में भी एक सैन्य विप्लव दूसरे को जन्म देता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि पिछड़े हुए देश आधुनिकीकरण

के लिए उतावले हैं और शीघ्र ही पश्चिम के उन्नत स्तर को प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वहां पर न तो औद्योगीकरण के लिए आधारिक संरचना है और न ही कुशल नौकरशाही। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में भी पिछड़े हुए हैं। इसलिए कोई भी शासन उनकी महत्वाकांक्षाओं को संतोषजनक ढंग से पूरा करने में असमर्थ हो जाता है।

साम्यवादी देशों यथा रूस और चीन में इस प्रकार के सैन्य शासन अथवा तख्ता-पलट कार्यवाही देखने को नहीं मिलती क्योंकि वहां पर साम्यवादी पार्टी सेनाओं में भी समाई हुई है और बहुधा सैन्य कमान श्रृंखला के समांतर एक स्वतंत्र अथवा स्वायत्त कमान-श्रृंखला राजनीतिक कमिसारों की होती है। वहां पर सेनाएं राजनीति से पृथक न रह कर उसमें सक्रिय भाग लेती हैं, उनको राजनीतिक शिक्षा दी जाती है। एक ही दल अर्थात् साम्यवादी पार्टी शक्ति संपन्न होने के कारण वहां अन्य शक्तियों को पनपने का अवसर नहीं मिल पाता। कितने ही उच्च सैन्य अधिकारी शासन में उच्च पदों पर बने रहते हैं। अतः असंतोष की भावना जन्म नहीं ले पाती है। परन्तु वहां पर भी सेनाओं की शक्ति सीमित, स्पष्ट तथा असैन्य शक्ति की सर्वोपरिता होती है और सेनाओं को अपनी सीमाओं में रखने का प्रयास बना रहता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सैन्य शक्ति को नियंत्रित रखना, विशेष कर उन तानाशाही शासनों के लिए अधिक आवश्यक होता है जिन्होंने शक्ति के बल पर (जनमत से नहीं) सत्ता ग्रहण की थी क्योंकि उनकी सत्ता प्राप्ति केवल बल पर आधारित थी। इसलिए यदि कोई अन्य व्यक्ति अथवा दल अधिक शक्तिशाली हो जाए तो वह सत्ता ग्रहण करने का उतना ही अधिकारी है जितना कि सत्ता प्राप्त दल अथवा व्यक्ति।

सैन्य-असैन्य अंगों में सदैव पारस्परिक संबंध बना रहता है। इस संबंधों के तीन मुख्य स्तर होते हैं। सबसे व्यापक है—सामाजिक स्तर। सेनाएं उस समाज का एक प्रतिबिंब होती हैं जहां पर सभी वर्ग सैन्य सेवा करते हैं। प्राचीन काल में अथवा पिछड़े हुए कबीलों में, जहां समाज आदिम दशा में था, सैन्य संस्था अन्य असैनिक दलों से भिन्न नहीं थी क्योंकि उनकी सेना में लगभग सभी युवक शामिल होते थे। उनके नायक भी वही होते थे जो असैनिक मामलों में निर्णय लेते थे। यूनान तथा रोम में भी, ऐसी ही संस्थाएं थीं, यद्यपि वे अधिक विकसित दशा में थीं। सैन्य सेवा नागरिकों का प्रथम दायित्व था। अरस्तू ने लिखा है "स्वतंत्र राज्य के वे ही लोग नागरिक होने के अधिकारी हैं जो शस्त्र सज्जित हों परन्तु सामंत युग वर्ग के अनुसार विभाजित था। समाज और सेना में पृथकता आ गई थी।

सेनाओं में निचले वर्ग के भूमिहीन मजदूर भर्ती किए जाने लगे थे। बीच के ओहदे के सैन्य अधिकारी जमींदार वर्ग से लिए जाते हैं और उच्च वर्गों के सामंत व शूरवीर राजनीतिक नायकत्व, धरती से प्राप्त आर्थिक लाभ तथा सेनाओं का नायकत्व संभाले हुए थे। आधुनिक युग में (18 वीं शताब्दी के अंत से) विशेषकर यूरोप में अफसर कोर स्वायत्त तथा पेशेवर बन गई। सेनाओं के नायक अब किसी वर्ग विशेष के युवक नहीं होते थे। उस किसी भी व्यक्ति को जिसमें नायक बनने के गुण हों, प्रशिक्षण हेतु भर्ती किया जाने लगा। उनको सैन्य शिक्षा हेतु स्कूल तथा अकादमियां खोली गईं। इस कार्य में पहल जर्मनी ने की और वह यूरोप की प्रबल स्थल शक्ति बन गई। जर्मनी की नकल अन्य देशों ने भी की और लगभग सभी यूरोपीय राज्यों तथा साम्राज्यों ने अपनी सेनाओं को पेशेवर रूप देकर उनका आधुनिकीकरण कर लिया। इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि युद्ध कौशल का स्तर बहुत ऊंचा हो गया परंतु सेनाएं समाज से पृथक् हो गईं।

दूसरे स्तर पर सैनिक तथा असैनिक (मध्य श्रेणी के) नायकों के संबंध की बात आती है क्योंकि आधुनिक युग में अफसर कोर और सिविल नायकों में व्यावसायिक पृथकता आ गई है परन्तु युद्ध का प्रभाव समाज के सभी अंगों पर परिलक्षित होने लगे, इसलिए सैन्य-असैन्य मामलों तथा विभागों में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

तीसरे स्तर पर उच्च नायकों के संबंध की बात आती है। प्राचीन काल में राजा सेनाओं का कमांडर भी होता था और असैनिक क्षेत्रों में भी वही सर्वोपरि था। ऐसी अवस्था में सैन्य-असैन्य संघर्ष का प्रश्न महत्व नहीं रखता था। बाद में उच्च सैनिक कमांडर अभिजात वर्ग से आने लगे, परन्तु असैनिक क्षेत्र में भी वे ही निर्णय लेते थे, इसलिए निर्णय बहुधा वर्ग विशेष के हितानुसार होते थे न कि प्रजा के हितों के लिए। अभिजात वर्ग के उच्च नायक बहुधा रूढ़िवादी होते थे और युद्ध की बदलती प्रवृत्ति को नहीं समझते थे। 18 वीं शताब्दी के पश्चात् यद्यपि श्रेत्रों के युवक भी सैन्य अधिकारी होने लगे थे, परन्तु वे भी प्रजा के हितों का ध्यान न रख कर बहुधा अपने वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते थे। जैसे-जैसे व्यापार और औद्योगिक उन्नति के द्वारा जनता में शक्ति की वृद्धि होने लगी, उनमें भी अपने अधिकारों पर विचार करने की प्रेरणा आई और राजाओं के दैविक अधिकारों पर आघात होने लगा। इंग्लैंड में 1648 ई० में गृह-युद्ध राजा और संसद में हुआ था और वहां के राजा को फांसी दी गई थी और सेना ने सत्ता संभाल ली थी, परन्तु क्रोमवेल तथा उसके जनरलों ने राज्य शासन को इतना अप्रिय बना दिया कि आज तक ब्रिटेन में सैन्य शक्ति को अति सीमित रखा जाता है। वहां पर

सेना को राजनीति से पृथक रखना महत्वपूर्ण समझा जाता है। 1789 ई० में फ्रांस की क्रांति के फलस्वरूप वहां के राजा को फांसी दी गई थी और जनता ने अधिकार ग्रहण कर लिए थे। इस प्रकार प्रजातंत्र की नींव सुदृढ़ होने लगी परन्तु प्रजा के अधिकारों के साथ-साथ देश की रक्षा में योगदान करना भी उनका दायित्व हो गया और सैन्य सेवा अनिवार्य हो गई। इस प्रकार सैन्ययुक्त राष्ट्र का पुनः जन्म हुआ इसके आदिम रूप यूनान के तथा रोम के नगर राज्य रहे थे। फलतः सेनाओं में किसी वर्ग विशेष के लोग भर्ती नहीं होते थे बल्कि अब उनमें सभी वर्गों के लोग भर्ती होने लगे थे। वास्तव में शांतिकाल में एक छोटी व्यवसायी सेना रहती थी जिसके सैनिकों में आपात-काल में नागरिक सेना सम्मिलित करके भारी वृद्धि की जा सकती थी। इस प्रकार सभी वर्गों के युवक सेनाओं में आने लगे तथा अफसर कोर में भी (जिसे सैन्य शक्ति का मेरुदंड कहा जाता है) विभिन्न वर्गों के युवक प्रवेश पाने लगे।

असैनिक क्षेत्र में भी विकास अत्यंत तीव्र गति से चल रहा था और विभिन्न क्षेत्रों तथा आर्थिक, औद्योगिक, वित्त, विज्ञान, प्रौद्योगिक आदि का विशेष ज्ञान विशिष्ट संस्थाओं द्वारा दिया जाने लगा था। इसका यह परिणाम हुआ कि विशेषज्ञता ने असमानीकरण को जन्म दिया। असैनिक क्षेत्रों की विशेषज्ञताओं में भी विभिन्न शाखाएं बढ़ती जाती थीं जिसके फलस्वरूप उनमें भारी असमानता आ गई थी। तीसरे स्तर पर भी, सैनिक तथा असैनिक उच्च नायक अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ हो गए थे। परन्तु इस युग के संपूर्ण युद्ध राष्ट्र के सभी अंगों को प्रभावित करने लगे थे। युद्ध में व्यय भी अत्यधिक होता था और राष्ट्र-संपत्ति का प्रयोग एवं विनाश भी होने लगा था इसलिए युद्ध राष्ट्रीय जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया था। युद्ध का अंतिम निर्णय अब केवल सेना के वरिष्ठ अधिकारियों पर नहीं छोड़ा जा सकता था। वास्तव में युद्ध के विषम तथा व्यापक रूप को समझना और उसके लिए सफल योजना बनाना तो सैनिक विशेषज्ञों का काम है परन्तु उसके उच्चस्तरीय संचालन, विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों को सुलझाने, राष्ट्र एवं मित्र राष्ट्रों को आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक शक्ति का कुशल योगदान कराने, तथा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सैन्य कमांडरों तथा चीफ्स आफ स्टाफ द्वारा प्रस्तुत विभिन्न योजनाओं में से किसे कार्यान्वित किया जाए यह निर्णय राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं सैनिक उच्च अधिकारी ही मिल जुल के कर सकते हैं। इसलिए लगभग सभी देशों में ऐसी उच्च समिति अथवा परिषद् बन गई थी, अमेरिका में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद्, ब्रिटेन में रक्षा एवं विदेश नीति समिति तथा भारत में

राजनीतिक मामलों की समिति । इन समितियों में सभी संबंधित विभागों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं । ये समितियां आपातकाल ही में नहीं अपितु शांतिकाल में भी देश की राष्ट्र-रक्षा-नीति पर गंभीरता से विचार करके निर्णय करती हैं । ऐसा निर्णय करने से पूर्व राष्ट्र को इसके अतिरिक्त विभिन्न शिक्षा संस्थाएं तथा पत्रकार भी इस विषय पर विचार करते रहते हैं । अनेक सुरक्षा विश्लेषण संस्थाएं तथा लोक सभाओं के सदस्य और संबंधित उप-समितियां भी इन गहन पहलुओं पर विचार करती रहती हैं । इस प्रकार राष्ट्रीय विचार के आधार पर यदि नीति को अंतिम रूप दिया जाता है तो वह प्रजातंत्र सिद्धांतों के अनुरूप होगा । इस विचार-धारा का बीजांकन सैन्य विशेष अधिकारियों को एक समिति चीफ्स आफ स्टाफ समिति द्वारा होता है । सैन्य असैन्य संबंधों को सुधारने तथा सरल बनाने में इस समिति का पर्याप्त प्रभाव रहा है । सेना तीन अंगों (जल, थल, वायु) में कार्य करती है, इसलिए लगभग सभी राष्ट्रों में जल सेना, थल सेना तथा वायु सेना अलग-अलग होती है । अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तीनों सेनाओं की आवश्यकताएं और योजनाएं भिन्न भिन्न होती हैं । परंतु राष्ट्र के पास इतने साधन नहीं होते कि वह उन सब आवश्यकताओं को पूरा कर सके । दूसरे, आधुनिक युद्ध का कुशल संचालन इन तीनों सेवाओं की योजनाओं को एक सूत्र में बांध कर उन्हें एक उच्च कमान के द्वारा कार्यान्वित कराने से होता है—विश्व युद्धों की यही विशेष सीख रही है । इन सब गहन विषयों पर विचार करने के लिए तीनों सेवाओं के चीफों की एक समिति का गठन किया गया जो मिल कर ऐसी योजना बनाए जो देश के रक्षा बजट की दृष्टि में उपयुक्त हो । इस समिति को कुछ देशों में अलग नियुक्त किया जाता है—जैसे अमेरिका में ज्वाएंट चीफ्स आफ स्टाफ कमेटी चेयरमेन का पद 1949 में बनाया गया, और ब्रिटेन में यह चीफ आफ डिफेंस स्टाफ कहलाता है । यह राष्ट्र का मुख्य सैनिक कमांडर होता है परन्तु उसकी शक्ति भी सीमित रखी जाती है जिससे असैन्य शक्ति की सर्वोपरिता बनी रहे तथा राष्ट्रपति उसके ऊपर मुख्य सेनाध्यक्ष होता है । सैन्य उच्च अधिकारियों के चयन, सेना बजट की स्वीकृति तथा अन्य पैरा-सैन्य बल द्वारा सेनाओं पर सिविल नियंत्रण रखा जाता है ।

पहले, ब्रिटेन तथा अन्य कुछ देशों में प्रत्येक सेवा का एक सिविल मंत्री तथा मंत्रालय होता था यथा ब्रिटेन में थल सेना के लिए एक युद्ध मंत्री और एक युद्ध मंत्रालय, एक फस्ट लार्ड आफ एडमिरल्टी और नौसेना मंत्रालय । इसी प्रकार स्वतंत्र वायु सेना के संगठित होने पर, वहां वायुमंत्री एवं वायु मंत्रालय बन गए । परन्तु आजकल विभिन्न सेनाओं के मंत्री तथा मंत्रालय प्रायः नहीं होते हैं और

एक रक्षामंत्री तथा उसका मंत्रालय ही रक्षा विभाग का पूरा नियंत्रण करता है। रक्षा मंत्रालय तथा मंत्री सिविलियन होते हैं। चीफ आफ स्टाफ समिति में कई बार विभिन्न सेनाध्यक्ष अपनी अपनी सेनाओं के हितों के लिए संघर्ष करते हैं। सभी विरोध स्थितियों अथवा विभिन्नताओं को दूर करने का दायित्व रक्षामंत्री तथा रक्षा मंत्रालय पर होता है। इस प्रकार इस समिति के निर्माण में सिविल अधिकार कम नहीं हुए, अपितु बढ़े ही हैं। हां बहुत से देशों में सिविल सरकार तथा संसदों में भी इस विषय पर विवाद हो जाता है कि सैन्य नीतियों पर किसका नियंत्रण हो यथा अमेरिका में सैन्य शक्ति का नियंत्रण राष्ट्रपति और कांग्रेस दोनों ही करते हैं, इसलिए वहां पर उच्च सैन्य अधिकारियों को राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाना तथा कांग्रेस सदस्यों का सहारा लेना पड़ता है। ब्रिटेन में ऐसा नहीं है क्योंकि वहां सदन ही मंत्रिमंडल बनाता है इसलिए कार्यकारिणी एवं सदन में अधिक एकरूपता बनी रहती है और सैन्य मामलों में राजनीतिक नेताओं की शक्ति सर्वोपरि रहती है। परंतु अमेरिका में कांग्रेस सदस्यों का समर्थन प्राप्त करके सेनाएं किसी विशेष योजना के लिए धन स्वीकृति प्राप्त कर लेती हैं जिसकी राशि कभी-कभी राष्ट्रपति के बजट में मांगे गए धन से भी अधिक हो सकती है। राष्ट्रपति तथा उसके द्वारा नियुक्त रक्षामंत्री के अधिकारों तथा कांग्रेस के अधिकारों के विषय में सदैव मतभेद रहता है इसलिए सेनाध्यक्षों को उनसे व्यवहार करने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। पिछले 20-25 वर्ष में सामान्यतः रक्षा विषयों में अमेरिका का रक्षा मंत्रालय कांग्रेस की तुलना में अधिक शक्तिशाली हो गया है और इस प्रकार सिविल शक्ति उसमें केंद्रित हो गई है।

आधुनिक राज्यों में सिविल-सैन्य समस्या का रूप

आधुनिक काल में देशों ने बड़ी-बड़ी सेनाएं स्थायी रूप में बनाई हैं जो देश में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी हैं तथा असैनिक सत्ता के आदेशों का पालन करती हैं और राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत कम प्रभाव रखती हैं। परन्तु इस विषय में भी मतभेद है। ऐसे आधुनिक प्रजातंत्रीय राज्यों को भी यथा, अमेरिका को हेरल्डलासवेस ने सैनिक राज्य कहा है। राष्ट्रपति आइजनहावर ने कहा था कि उसके देश में सेनाओं और उद्योग में साठगांठ है जिसके दुष्परिणामों से सचेत रहना चाहिए। मूलतः तीन मुख्य तथ्य विचाराधीन हैं (1) ऐतिहासिक दृष्टि से सेनाएं राजनीति में सक्रिय भाग लेती रही हैं इसलिए विभिन्न राजनीतिक दल सेनाओं की संभावित शक्ति से भयभीत रहते हैं, (2) सेनाओं का कुशल

संगठन, एकरूपता, अनुशासन, तकनीकी कौशल उन्हें असैनिक दलों की तुलना में अधिक कार्यकुशलता प्रदान करता है और (3) युद्धकाल में एवं गंभीर आपात-काल में सेना देश की उत्पादन शक्ति पर पर्याप्त रूप से नियंत्रण कर लेती है जैसे कि द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका के राष्ट्रीय उत्पादन का 40 प्रतिशत और शीतयुद्ध काल में 10 प्रतिशत भाग सैन्य कार्यों में व्यय होता रहा। इस में राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग 18 प्रतिशत भाग शीतयुद्ध काल में व्यय होता रहा है। सेनाओं पर इतना भारी व्यय, आयुधों की बढ़ती कीमत, रक्षा अनुसंधान तथा सैनिकों की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति आदि करने का परिणाम है। परन्तु इससे सैन्य शक्ति में वृद्धि होना अनिवार्य है।

वास्तव में यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो आधुनिक समाज में अफसर कोर और उसके उच्च नायक देश की नीति को, आक्रामक नहीं शांतिमय मोड़ देने का प्रयत्न करते रहे हैं, जब कि कितने ही राजनीतिक दल और उनके नेता उसको संघर्षात्मक बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं। हिटलर और उसकी नाजी पार्टी आक्रामक नीति अपनाने पर बल देती रही थी, जब कि जर्मनी के उच्च सैन्य अधिकारी युद्ध के विरुद्ध थे क्योंकि आधुनिक युद्धों की विनाश शक्ति और विफलता को उनके विशेषज्ञ भली प्रकार समझते थे। ऐसा होते हुए भी सेना और युद्ध को एक साथ जोड़ा जाता है और यदि कोई देश रक्षा पर अधिक व्यय करता है अथवा सेनाएं राजनीतिक शक्ति ग्रहण करती हैं तो युद्ध की संभावना बढ़ती हुई मान ली जाती है। पश्चिमी देशों में भी, थोड़े बहुत अंतर सहित समाज तथा राजनीतिक दलों का यही विश्वास बना रहा है।

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो समाज में सेनाओं के सम्मान में गिरावट आई है। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि 19वीं शताब्दी तक यूरोप में सैन्य अधिकारी अभिजात वर्ग से लिए जाते थे जिनका समाज में बहुत सम्मान था परन्तु शनैः शनैः मध्य वर्ग के, और फिर निम्न मध्य वर्ग के समाज से भी सैन्य अधिकारी लिए जाने लगे जिनका समाज में उतना ऊंचा स्थान नहीं था। दूसरे, आधुनिक सैन्य अधिकारी सैन्य शक्ति के उचित प्रयोग तथा उसके कुशल प्रबंध के विशेषज्ञ हैं (जैसे कि अन्य सिविल अधिकारी अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ हैं) इसलिए भी समाज में विभिन्नता बढ़ी है। परंतु यह सैन्य विशेषज्ञता भी सैन्य परम्परा और युद्ध में तेज गति से होने वाली नवीनताओं के फलस्वरूप अन्य समाज नायकों की दृष्टि में प्रश्न चिह्न बन सकती है और सैन्य अधिकारी राजनीतिक तथा अन्य सिविल अधिकारियों से पिछड़ सकते हैं, जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध में

लार्ड जार्ज और ब्रिटेन के अन्य सिविल अधिकारियों ने इस तथ्य का अनुमान लगाया था कि संपूर्ण युद्ध का समाज तथा राष्ट्र पर क्या प्रभाव होगा। इसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् परमाणु हथियारों का अमेरिका की नीति पर क्या और कितना प्रभाव होगा—इसे सिविल विशेषज्ञों ने अधिक परिशुद्ध मात्रा में आंका था। इस प्रकार आण्विक युग में सैन्य व्यावसायिकता, असैन्य वैज्ञानिकों तथा अन्य नायकों में भी आ गई है।

आधुनिक राज्यों में उच्च सैन्य अधिकारियों के तीन सामान्य उत्तरदायित्व होते हैं : (1) राष्ट्र को सैन्य सुरक्षा हेतु क्या आवश्यकताएं हैं और सरकार देश की आय का कितना भाग सुरक्षा पर व्यय करे (2) किसी कार्य अथवा नीतियों को कार्यान्वित करने के सैनिक परिणाम क्या हो सकते हैं—उनसे राजनीतिक अधिकारियों को अवगत कराना और विभिन्न सैन्य अवस्थाओं के लिए विभिन्न सैन्य योजनाएं तैयार कराना, तथा (3) राजनीतिक अधिकारियों द्वारा लिए गए निश्चित निर्णय को सैन्य क्षेत्र में कार्यान्वित करना। इन तीनों दायित्वों को पूरा करने में उच्च सैन्य अधिकारियों, राजनीतिज्ञों एवं सरकारी सिविल विभागों में बराबर संघर्ष बना रहता है। युद्धोत्तर आधुनिक राज्य को संकल्पना कल्याणकारी राज्य के रूप में की गई है जिसका शांति-काल में प्राथमिक या मुख्य कर्तव्य कर-दाताओं का कल्याण करना है और ऐसे कल्याणकारी राज्य का सुरक्षा को गौण कार्य के रूप में माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यय करते समय लोगों के कल्याण की अपेक्षा सुरक्षा को प्राथमिकता देना अनुचित है। केवल युद्ध के दौरान ही इसे उचित माना जा सकता है। दूसरा दृष्टिकोण इस तथ्य पर आधारित है कि आधुनिक शस्त्रास्त्रों ने सामरिक संकल्पनाओं को बहुत अधिक बदल दिया है। जो प्रमुख सैनिक परिवर्तन हुआ है वह है मशीनीकृत युद्धपद्धति की तेज रफ्तार और विनाश शक्ति। इसका अभिप्राय है कि अगला युद्ध प्रलयंकारी और अप्रत्याशित रूप से कम अवधि का होगा और प्राथमिक सैन्य संचालन के लिए बिल्कुल भी समय नहीं होगा। अतः इसका यह अर्थ निकलता है कि युद्ध के समय के समान शांति-समय में भी सुसज्जित और सुसंगठित सेनाएं अपनी-अपनी चौकियों पर सतर्क रहनी चाहिएं। यह कल्याण से पूर्व अस्तित्व और जीवन-स्तर से पूर्व जीवन का प्रश्न है और इसलिए सशस्त्र सेनाएं बनाना आवश्यक है ताकि तथाकथित (आगामी) आक्रामक को दूर रखा जा सके और यदि युद्ध छिड़ जाए तो उसे जीता जा सके। उनके अनुसार इस कारण से सुरक्षा व्यय को प्राथमिकता देना उचित है। यह भी आधुनिक समाज में सैन्य-असैन्य संबंधों की मुख्य समस्या है क्योंकि सैन्य अधिकारी सुरक्षा हेतु जितना धन व सशस्त्र सेनाएं आवश्यक समझते हैं

उतना सिविल अधिकारी देने को तैयार नहीं होते। इसका कारण यह है कि राष्ट्र के अन्य सिविल विभाग भी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अधिकतम मांग सरकार के सामने रखते हैं और सीमित आय में सुरक्षा पर अधिक व्यय सिविल विभागों के लिए निर्धारित राशि में कमी करके ही किया जा सकता है। इसलिए सिविल विभागों से संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। दूसरे यदि राज्य अधिकारी स्पष्ट और शुद्ध रूप देकर अपनी नीति की सीमाएं निर्धारित करें तो सैन्य अधिकारी अपनी सैन्य योजनाएं उसी अनुरूप बना सकते हैं परन्तु राजनीतिक स्तर पर नीति निर्धारण इतना स्पष्ट, स्थिर तथा प्रासंगिक नहीं हो सकता क्योंकि राजनीति का उद्देश्य निर्णयों को बहुधा अस्थायी रखने में तथा वायदों को पूरा न करने में होता है। इसलिए इस क्षेत्र में भी तनाव बना रहना स्वाभाविक है। तीसरे, सैन्य अधिकारी यह भी आवश्यक समझते हैं कि जो भी राष्ट्रीय संपत्ति सुरक्षा हेतु निर्धारित की गई है, उस पर उनका पूर्ण अधिकार हो। इसका यह भी परिणाम होता है कि अंतर्राष्ट्रीय संधियों तथा मैत्री द्वारा सहायता प्राप्ति में उन्हें इतना विश्वास नहीं होता जितना कि सिविल सत्ता को होता है। इन सभी कारणों से सैन्य-असैन्य संबंधों में तनाव बना रहता है। अधिकारी तंत्र स्तर पर, विदेश और वित्त मंत्रालयों में संघर्ष चलता रहता है क्योंकि विदेश विभाग का मुख्य दायित्व विदेश-संबंध है, इसलिए वह विभाग ही यह निर्णय करने में पहल कर सकता है कि किस स्थिति में सैनिक कार्यवाही आवश्यक होगी। वित्त विभाग बजट (अमेरिका में ट्रेजरी एवं आफिस आफ द मेनेजमेंट तथा इंग्लैंड में एक्सचेकर) का दायित्व सरकारी प्राप्तियों को विभिन्न मदों में बांटना होता है, इसलिए उनका प्रयास यह रहता है कि सैन्य व्यय कम किया जाए। सैन्य विभाग इन दोनों चक्की पाटों के बीच पिसता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि विदेश विभाग उसका दायित्व बढ़ाता रहता है और वित्त विभाग उसके साधनों को कम करने का प्रयास करता रहता है। इन खाइयों को भरना राजनीतिक उच्च नेताओं का कार्य है और इस हेतु उन्होंने अंतर्विभागीय सदस्यों की समितियां बनाई हैं यथा अमेरिका में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् है जहां पर इन विभिन्नताओं को दूर किया जाता है और विचारों के आदान-प्रदान द्वारा कोई बीच का रास्ता निकाला जाता है ताकि राष्ट्रीय साधनों के अनुरूप अधिकतम राष्ट्रीय सुरक्षा मिल सके। इसलिए विभिन्न विभागों में संघर्ष तो आधुनिक सकल समाज का एक अंग है, इससे विचलित नहीं होना चाहिए।

परमाणु युग में सैन्य-असैन्य संबंध

आधुनिक प्रजातंत्रीय राष्ट्र यथा अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि में सैन्य शक्ति भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि सिविल सत्ता सर्वोपरि है। परंतु इन देशों

में भी इन संबंधों में समस्याएं बनी रहती हैं भले ही वे भिन्न रूप में हों। युद्ध इतना विनाशकारी, संपूर्ण तथा तकनीकी हो गया है कि युद्ध को रोकना अधिक आवश्यक हो गया है। फलतः शांतिकाल और युद्धकाल का भेद अस्पष्ट हो गया है। दूसरे युद्ध में सदैव अनिश्चितता बनी रहती है, भावी शत्रु की शक्ति का अनुमान लगाना अत्यंत कठिन कार्य होता है। राष्ट्र का सुरक्षा विभाग तैयारी में कोई कमी रखना राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल समझता है। इसलिए आधुनिकतम आयुध प्रणाली आधुनिक सैन्य वायुयानों, मिसाइलों, टैंकों, तोपों, उत्तम प्रशिक्षित सेनाओं आदि की अनायास ही मांग होती है जिनके लिए रक्षा व्यय बढ़ता जाता है लेकिन सिविल सत्ता इसका विरोध करती है। तीसरे, देश की उच्चतम निर्णयकारी समिति जितना भी रक्षा बजट निर्धारित करती है उसे राष्ट्र की तीनों सेवाओं में बांटने में उन सेवाओं में भी बहुधा संघर्ष होता है। सिविल सत्ता अर्थात् राष्ट्रपति अथवा कैबिनेट विभिन्न दलों, संसद आदि में भी संघर्ष चलता रहता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में बहुत से संसद-सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र के हितों की रक्षा करने के इच्छुक रहते हैं और वे क्षेत्रीय हितों को ही राष्ट्र-हित मानने लगते हैं। इस प्रकार सेना तथा उद्योगों में एक साठगांठ सी होने लगती है और वे लुप्तप्राय रक्षा उद्योगों को भी बनाए रखने तथा रक्षा बजट में वृद्धि को राष्ट्रीय सुरक्षा से जोड़ देने का प्रयास करने लगते हैं। 1930 के दशक में हेरल्ड डी लास्वेल ने अमेरिका को बढ़ते सैनिक प्रभाव के फलस्वरूप, एक सैनिक राज्य बताया। 1962 में अपनी विचारधारा की पुष्टि करते हुए उसने लिखा कि अमेरिका में भविष्य में भी भूतकाल के समान ही सैनिक राज्य का आभास बना रहेगा। मिल्स ने अपनी पुस्तक "पावर इलाइट" में लिखा है कि अमेरिका में राष्ट्रीय उच्च नौकरशाही में, जिस पर बड़े-बड़े उद्योगपतियों और उच्च सैन्य-अधिकारियों का प्रभुत्व है, शक्ति केंद्रित होती जा रही है। वास्तव में इस विचारधारा के अनुसार ऐसे खतरे की संभावना थी जो वस्तुतः पैदा नहीं हुआ। अमेरिका में सैन्य प्रभाव घटता रहा है, विशेष कर कोरिया युद्ध के पश्चात्। वियतनाम युद्ध ने तो देश के सामाजिक जीवन को ही छिन्न-भिन्न कर डाला और सेना की छबि समाज में धुंधली हो गई है। सेना को शासन तथा राजनीतिज्ञों से, और शासन एवं राजनीतिज्ञों को सेना से, निराशा हुई। सेना को ऐसा विश्वास हुआ कि वियतनाम में सिविल सत्ता ने उन्हें फंसाया और युद्ध योजनाएं अपने आप तैयार कीं तथा सेनाओं को दोषी ठहराया। सारांश यह है कि अब समाज में सेनाओं का वह ऊंचा सम्मान नहीं रहा और सैन्य सेवा भी अनिवार्य नहीं रही।

साम्यवादी राष्ट्रों में सन्य-असन्य संबंध

यद्यपि रूस की लाल सेना तथा चीन की पीपुल्स लिबरेशन आर्मी राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में शक्ति का मूल स्रोत वहां की साम्यवादी पार्टी ही है। दूसरे युद्ध के पश्चात् सभी देशों में सेना का सम्मान बढ़ा था और अमेरिका में जनरल आइजनहावर राष्ट्रपति चुने गए थे। रूस में भी मार्शल ज्हुकव का जनता में बड़ा सम्मान था और मार्शल स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् पदवी कौन ग्रहण करे, उस संघर्ष में सफलता मिलते ही खुरुश्चेव ने ज्हुकव को एक सुदूर पूर्वी कमान में नियुक्त कर शक्ति केंद्र से अलग कर दिया था जिससे उसके शक्ति केंद्र बनने की संभावना समाप्त हो गई।

चीन में माओ की मृत्यु के पश्चात् शक्ति संघर्ष चला और शांति स्थापना तथा स्थिरता लाने के लिए पीपुल्स लिबरेशन आर्मी का प्रयोग किया गया। परंतु राजनीतिक दल उनकी कार्यवाही का सावधानी से निरीक्षण करते रहते हैं, जिससे कि सैनिक हस्तक्षेप आवश्यकता से अधिक न हो पाए एवं सिविल सत्ता को पुनः स्थापित कर दिया जाए। भले ही संकट काल में बाह्य दृष्टि से ऐसा लगे कि सेना में शक्ति केंद्रित होती जा रही है। परंतु यह भ्रम है क्योंकि चीनी सेना तथा रूसी सेना साम्यवादी पार्टी की प्रतिद्वंद्वी संस्था नहीं है। दूसरे पोलिट्ब्यूरो और केंद्रीय समिति में पी० एल० ए० का प्रभावी प्रतिनिधित्व है, जिससे राष्ट्र-नीति निर्धारण में सेना की राय को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। दूसरी ओर, पी० एल० ए० के उच्च अधिकारियों में कितने ही वे क्रांतिकारी नेता हैं जो "लांग मार्च" के युद्धानुभवी हैं। इस प्रकार विदित है कि राजनीतिक पार्टी तथा सेना में सुंदर तालमेल रहा है और दोनों के कार्यक्षेत्र तथा वरिष्ठता क्रम में कोई मतभेद नहीं है और पार्टी की सर्वोपरिता सवमान्य और स्पष्ट है।

राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप

सेना का राजनीति में हस्तक्षेप तब बढ़ता है जब राष्ट्र में संवैधानिक मतैक्य न हो अथवा विभिन्न वर्गों में, धर्मों के अनुयायियों में तथा जातियों में जबरदस्त संघर्ष हो। आधुनिक राष्ट्र में भी, जहां अधिसंख्य जनता उस राजनीतिक प्रणाली को, जिसके आधार पर शासन चल रहा है, वैधानिक नहीं मानती है, वहां सेना राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है, जैसे कि जर्मनी में वीमर गणतंत्र के काल तथा फ्रांस में तीसरे, चौथे और पांचवे गणतंत्र के काल में।

सैनिक हस्तक्षेप उस समय भी बढ़ सकता है जब शासन की कुशलता में भरोसा न रहे। युद्ध में पराजय तथा राज्य की बड़ी भूल के कारण भी सैनिक हस्तक्षेप होता है जैसे कि अमेरिका में सैन्य-असैन्य संबंधों में सर्वाधिक तनाव कोरिया युद्ध के दीर्घ एवं दुखद काल में आया था क्योंकि उस समय पूर्ण सैन्य विजय के बिना ही राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करना शासननीति के खोखलेपन का प्रमाण रहा था।

इस सब से यह सार निकलता है कि सिविल सर्वोपरिता के लिए यह आवश्यक है कि वैधानिक तथा प्रभावी राजनीतिक संस्थाएं देश में स्थापित हों और जनता का उनमें विश्वास हो।

प्रो० हंटिंग्टन के मतानुसार सेनाओं का प्रशिक्षण स्तर जितना ऊंचा होगा तथा देश की सेनाएं जितनी संख्या में पेशेवर होंगी उसी अनुपात में आधुनिक राज्यों में सिविल नियंत्रण का स्तर भी ऊंचा हो सकता है। इसका कारण यह है कि प्रो० हंटिंग्टन के मतानुसार कोई भी सेना अपने पेशेवर अफसर की कार्यगत निपुणता को संदेह से नहीं देखने देगी। सेना यह भी जानती है कि अन्य विभागों में जो सैन्य क्षेत्र से बाहर हैं, उसकी निपुणता अधिक नीचे स्तर की है इसलिए उन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना उसकी भूल होगी इसलिए वह स्वेच्छा से राजनीति से अलग रहती है।

अन्य विशेषज्ञ हंटिंग्टन के मत को स्वीकार नहीं करते। प्रो० फाइनर का विश्वास है कि केवल व्यवसायीकरण सेना को राजनीति में हस्तक्षेप करने से नहीं रोक पाता। ऐसा तभी हो सकता है जबकि सैन्य अधिकारी स्वतः इस विचार को मानते हों कि सिविल सत्ता सर्वोपरि होती है। हस्तक्षेप करने से उन्हें कुछ और कारण भी रोक सकते हैं जैसे अपनी सैन्य शक्ति की क्षमता में अविश्वास, तथा उनमें फूट के कारण आपसी युद्ध का भय, और यह भी कि यदि हस्तक्षेप सफल न हुआ तो उनकी सेनाओं का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा। फाइनर यह भी कहते हैं कि व्यवसायीकरण के द्वारा स्वयं हस्तक्षेप प्रेरणा मिल सकती है क्योंकि सैन्य अधिकारी अपने को राष्ट्र का सेवक मानते हैं न कि किसी दल विशेष का जो उस समय शक्ति संपन्न है।

यद्यपि युद्धकाल में सैनिक शक्ति बढ़ जाती है और देश के अत्यधिक साधन युद्ध पर जुटाए जाते हैं, परंतु यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि युद्ध काल में सेनाओं की राजनीतिक शक्ति बढ़ जाती है। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी में, तथा द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका तथा जापान में सेनाओं ने मुख्य कार्य संभाला था।

परन्तु फ्रांस और ब्रिटेन में प्रथम विश्व युद्ध में सेना का स्थान राजनीनिज्ञों की तुलना में लगभग समान रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन तथा जर्मनी में सेनाओं का पलड़ा भारी नहीं रहा था। इसी प्रकार रूस में भी दोनों विश्व युद्धों में सेना कार्य, राजनीतिक क्षेत्र में निम्नस्तरीय रहा था। हां, विजयी देशों के नेताओं की जन-प्रियता बहुत बढ़ जाती है : जैसे कि

'हिंडरबर्ग, आइजनहावर तथा दिगाल अपनी युद्ध ख्याति के कारण ही राष्ट्रपति चुने गए थे। रूस में भी स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् मार्शल ज्हुकव की युद्ध ख्याति उसकी राजनीतिक शक्ति को बढ़ा कर चुनौती देती बशर्ते कि खुरुश्चैव उसे सुदूर कमान में नियुक्त करके राजनीतिक रंगमंच से अलग न कर देता।

राज्य के सिविल और सैनिक संगठनों के बीच वांछनीय और समुचित संतुलन बनाए रखने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। संतुलन का औचित्य इस बात में निहित है कि परस्पर विरोधी हितों और सिद्धांतों में उचित ढंग का संतुलन रखा जाए अर्थात् अधिकारऔर कर्तव्यों, विधान मंडल, कार्यपालिका, न्यायपालिका और समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों के बीच संतुलन रखा जाए।

आंतरिक युद्ध

— ए० एन० कक्कड़

छापामार युद्धपद्धति

आम विश्वास के अनुसार छापामार युद्धपद्धति अपरंपरागत युद्ध संचालन का एक नया तरीका है। छापामार युद्धपद्धति यैयान युग में माओत्से तुंग की प्रतिभा की उपज है और जिसका बाद में वामपंथी क्रांतिकारी आन्दोलनों द्वारा विश्व के अन्य भागों में सफलतापूर्वक उपयोग किया गया। प्रेक्षकों के अनुसार इतिहास में टी० ई० लारेंस को आधुनिक छापामार युद्धपद्धति का महान प्रवर्तक कहा है। कुछ प्रेक्षकों ने इससे भी पहले के नेपोलियन के विरुद्ध स्पेनी प्रतिरोध का हवाला दिया है। वास्तव में छापामार युद्धपद्धति उतनी ही प्राचीन है जितनी कि पर्वतमालाएं और यह नियमित युद्धपद्धति से भी प्राचीन है। आखिरकार आदिम युद्धपद्धति भी तो मुख्यतः सहसा आक्रमण, घात और इसी प्रकार की रणनीति पर आधारित थी। इसलिए, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि छापामार युद्धपद्धति उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं इतिहास।

इस युद्धपद्धति में अनियमित सेनाएं आमतौर पर किसी प्रमुख राजनीतिक सैनिक रणनीति से युक्त परम्परागत सैन्य बल के विरुद्ध छोटे पैमाने पर सीमित युद्ध लड़ती हैं। 'गुरिल्ला' शब्द की उत्पत्ति स्पेन शब्द गुएरो से हुई है जिसका अर्थ है छोटा युद्ध। इतिहास की अधिकांश महान विजयों में छापामार कार्रवाइयां भी शामिल थीं। डैरियस, सिकंदर और हनीबल—सभी ने छापामार युद्ध लड़े। सीथियन लोगों के विरुद्ध इस युद्धपद्धति का अपरिष्कृत रूप था लेकिन जब हनीबल ने रोमन जनरल क्विटस फैबियस मैक्सिकस को युद्ध में खींच लाने का असफल प्रयत्न किया तब इसका रूप परिष्कृत था। ईसा मसीह के जन्म से पूर्व रोमन लोगों ने स्पेन में 200 वर्ष तक गुरिल्ला युद्ध लड़ा। सीरिया में सिलजुक तुर्कियों के अर्ध गुरिल्ला युद्ध विरोध में फ्रांस के नार्मन धर्म योद्धा उठ खड़े हुए थे। एडवर्ड प्रथम ने भी वेल्स और स्काटलैंड में गुरिल्ला युद्ध लड़े थे परन्तु वह वास्तव में शान्ति स्थापना हेतु सैनिक कार्रवाई थी।

महान बोल्शेविक क्रांतिकारी लियोन ट्राटस्की ने एक बार भविष्यवाणी की थी कि विश्व में अंतिम क्रांति के दौरान सर्वत्र छोटी और हिंसात्मक उथल-पुथल लगातार होती रहेगी और शायद यह कई पीढ़ियों तक चलती रहेगी। वास्तव में ट्राटस्की का अंतिम विद्रोह शुरू हो गया है या नहीं लेकिन विद्रोही सब जगह क्रांति को अपना रहे हैं। पिछली दो शताब्दियों से विद्रोह के साधन और विदेशी आक्रमण के एजेंट के रूप में गुरिल्ला युद्धपद्धति का आविर्भाव हुआ है। गुरिल्लाओं के विरुद्ध असफल कार्रवाइयों की लम्बी सूची सैनिक नेताओं की अनम्यता के साथ-साथ उनकी हठी, दुराग्रही रणनीति का परिणाम है। सैनिक कठोरता सदियों से चली आ रही है और प्रत्येक वीरगाथा युग के अंतिम वर्षों में यह युद्धपद्धति की शैली में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है जो कि उस समय की परम्परागत युद्धपद्धति के प्रमुख परिवर्तन का प्रतीक थी। जो इतिहास से कुछ नहीं सीखेंगे वे उसकी पुनरावृत्ति अवश्य करेंगे।

क्रांति तुरंत सामाजिक परिवर्तन और कायापलट के लिए एक आम कार्यक्रम बन गया। कार्ल मार्क्स की दृष्टि में क्रांति इतिहास की संचालक है। यह एक क्रूर प्रक्रिया है जो बिना रुके एक क्रांति से दूसरी क्रांति तक अपने ही नियमों का पालन करती हुई पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ती जा रही है। उस क्रांति की प्रक्रिया का एक पहलू सामाजिक है। फ्रांसीसी क्रांति के माध्यम से मध्यवर्ग ने शक्ति प्राप्त की और मार्क्स के औद्योगिक सर्वहारा वर्ग ने एवं माओ के कृषक वर्ग ने विश्व में अपना स्थान बनाने हेतु किए गए क्रमिक संघर्षों में उसका अनुकरण किया। इसका दूसरा पक्ष है पेशेवर क्रांतिकारियों का बढ़ता हुआ कौशल जिसके फलस्वरूप जग क्रांति होती है तब वे केवल उससे लाभ ही नहीं उठाते बल्कि क्रांति को वास्तविक रूप से लाने में भी सफल होते हैं। इस लेख में क्रांति के आधुनिकतम रूप अर्थात् छापामार युद्धपद्धति पर बल दिया जाएगा। ऐसे युद्ध के लिए उपयुक्त व्याख्यात्मक शब्द क्रांतिकारी छापामार युद्धपद्धति होगा।

(2)

गुरिल्ला युद्धपद्धति एक ऐसी युद्धपद्धति है जिसके द्वारा एक छोटा क्रूर अल्पसंख्यक समुदाय किसी देश के लोगों पर बल प्रयोग द्वारा नियंत्रण कर लेता है और बाद में हिंसात्मक और असंवैधानिक साधनों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेता है।

"गुरिल्ला" शब्द मूलतः उन सैनिक कारवाईयों के लिए इस्तेमाल किया जाता था जिन्हें अनियमित सेनाएं शत्रु पक्ष की नियमित सेनाओं के विरुद्ध करती हैं। ऐसा कहा जाता है कि छापामार कार्रवाइयां प्रायः उन एकाकी तथा अलग-

थलग रहनेवाले लुटेरों द्वारा प्रारंभ की जाती हैं जो अपने ही कौशल और क्षमता के सहारे जीते हैं।' लेकिन यदि यह इससे अधिक कुछ नहीं करता तो गुरिल्ला वर्ग आतंक फैलाने वाला न होकर मात्र एक उत्पात बन जाता है। वास्तव में गुरिल्ला यूनिटें क्रांतिकारी जन-आन्दोलन का मात्र ऐसा तंग कटान है जिसके माध्यम से अन्ततः वर्धमान विद्रोही क्षेत्र के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति शामिल हो जाता है।

विद्रोहियों का सर्वप्रथम और सबसे बड़ा काम किसानों की वफादारी प्राप्त करना और उन्हें क्रांतिकारी शक्ति के रूप में परिवर्तित करना है। यह कठिन एवं समयसाध्य कार्य है। किसान परंपरागत रूप से संकीर्ण विचार वाले संशयी, रूढ़िवादी और राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं और यौद्धिक अपील से प्रभावित होने की उनकी सबसे कम संभावना होती है। लेकिन क्रांतिपूर्व की अवस्था में भी इनके अंदर गहरी घृणा होती है। ये लोग सर्वग्राही जमींदारों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा सताए हुए और सरकारी तंत्र की उपेक्षा के पात्र हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 1954 में अल्जीरिया में सारी अच्छी जमीन यूरोपीय लोगों के पास थी और लगभग चौथाई मजदूर बेकार थे। फिर भी ऐसे गांव थे जहां दशकों से कोई फ्रांसीसी प्रशासक नहीं गया।

इसी प्रकार की घृणा को विद्रोही बाहर निकालना और उसे क्रांति के उद्देश्यों के साथ जोड़ना चाहते हैं। गुप्त रूप से किसी गांव में पहुंच कर आंदोलनकारी गुप्त बैठकें आयोजित करते हैं जहां किसान लोग अपने पर होने वाले अनेक अत्याचार खुले आम सुनाते हैं। पोस्टर, अखबार और पर्चे क्रांति के संदेश को फैलाते हैं। जब विद्रोही अधिक विश्वस्त और सुरक्षित हो जाते हैं तब व्याख्याता आम सभाओं में भाषण देते हैं और नाट्य मंडलियां शासन की निर्दयता को अपने नाटकों के माध्यम से दर्शाती हैं।

लेकिन मात्र बहलाना, फुसलाना पर्याप्त नहीं होता। यदि मोटे तौर पर कहा जाए तो प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र में थोड़े समय के लिए आतंक का वातावरण बनाना जरूरी है। माओ-त्से-तुंग ने इस पर भी बल दिया है कि आतंक का प्रयोग बड़ी होशियारी से किया जाना चाहिए और उसे हमेशा ही सावधानी से नियंत्रित करना चाहिए। उसने अल्जीरिया और मलाया दोनों के विद्रोहों में हस्तक्षेप किया और विद्रोहियों से अनुरोध किया कि आतंक को कम किया जाए। फिर भी उसके विचार मानवीय कम तथा सामरिक अधिक थे। उसके समय प्राप्त करने के दौरान और खास तौर पर सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद के समय में फौरी फैसले के मामलों और जमींदारों को फांसी देने की घटनाओं की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई।

आतंक यह दर्शाता है कि विद्रोही अपने उद्देश्य में सफलता चाहते हैं इसलिए किसानों से निष्क्रिय आज्ञापालन से अधिक की आशा की जाती है और इसके लिए अन्य कौशल भी अपनाए जाने चाहिए। जनसाधारण को यह महसूस कराना चाहिए कि विद्रोही उनके हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका जीवन परस्पर जुड़ा हुआ है। कर में कटौती, भूमि का पुनर्वितरण, नए स्कूल और चिकित्सा सुविधाएं जैसी प्रत्येक नीति और सेवा राजनीतिक प्रभाव को ध्यान में रख कर लागू की जाती हैं। जिस नए गांव में विद्रोही पहुंचते हैं वहां समझाने-बुझाने, आतंक और सहायता की बात दोहराई जाती है। जैसे ही लोग उनके विचारों से सहमत हो जाते हैं, धीरे-धीरे पूरे देश में भूमिगत प्रशासन मान्य सरकार का स्थान ले लेता है ओर अंततः उसको हटा देता है। विद्रोही यह सुनिश्चित कर लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इच्छा या अनिच्छा से इन्क्लाब में शामिल हो। प्रत्येक ग्रामीण संगठन को एक क्रांतिकारी आवेग और प्रत्येक व्यक्ति को एक क्रांतिकारी भूमिका प्रदान की जाती है।

जब छापामार मित्रतापूर्वक या अन्य प्रकार से समझा-बुझा कर ग्रामीण लोगों की निष्ठा प्राप्त कर लेते हैं तब संघर्ष का दूसरा चरण शुरू हो सकता है अर्थात् ग्रामीणों को छापामारों की सहायता करने के लिए तैयार करना। ग्रामीण लोगों के साधारण लेकिन संभाव्य शक्तिशाली साधनों का सहारा लेकर विद्रोही प्रत्येक गांव को संपूर्ण युद्ध के लिए तैयार कर लेते हैं। कोई भी व्यक्ति भर्ती होने से नहीं बच सकता। बच्चे सरल खुफिया कार्य करते हैं, महिलाएं तोड़-फोड़ के कार्य करती हैं और बूढ़े लोग अपरिष्कृत सुरंगों और हथगोलों का निर्माण करते हैं। गांव के स्वस्थ व्यक्ति गांव की शस्त्रहीन सहायक सेना में भर्ती कर लिए जाते हैं। इसके बाद जब उस क्षेत्र से गुजरने वाली विद्रोही यूनिट के लिए भोजन एकत्र करने या घात स्थान तैयार करने के आदेश दिए जाते हैं तो सहायक सेना उन आदेशों का पालन करती है। वे बमबारी द्वारा नष्ट भागों की मरम्मत और उनके क्षेत्र में हो रही अस्वाभाविक सैन्य गतिविधियों की सूचना भी एकत्र कर सकते हैं। प्रसारण केंद्रों की जटिल प्रणाली पर प्राप्त सूचनाओं को आगे पहुंचाने के लिए हरकारों की भी व्यवस्था करते हैं। भारकों की एक विशेष यूनिट, यदि आवश्यक हो तो सैकड़ों मील तक भोजन और उपस्कर ढो कर ले जाती हैं। हिन्द चीन में फ्रांसीसियों के विरुद्ध एक लड़ाई की तैयारी में विद्रोही जनरल जोन्नयून गियाप के भारकों ने विपदाग्रस्त सेनाओं को युद्धक्षेत्र में 20 लाख टन शस्त्र और भोजन सामग्री पहुंचाई थी।

कुछ गांव गुप्त रसद भंडार बन जाते हैं, कुछ को सशस्त्र किलों के रूप में बदल दिया जाता है जहां एक दर्जन आदमी ही कई घंटों तक एक बटालियन को रोके रख सकते हैं। अल्जीरिया में लोगों ने काफी संख्या में भूमिगत प्रतिस्थापन जिनमें गोदाम, चिकित्सा केंद्र, खाद्य-सामग्री, कपड़े बनाए थे और गोला बारूद के भंडार शामिल हैं। वियतनाम में कभी-कभी ग्रामवासियों ने कई उपग्रामों को सैकड़ों मीटर लंबी खाइयों और सुरंगों द्वारा आपस में जोड़ दिया था और उनके प्रवेश द्वार बांस के झुरमुट या पेड़ों की जड़ों के बीच छिपे रहते थे और सारा क्षेत्र सुरंग क्षेत्रों और बांस की नुकीली बाड़ों से घिरा रहता था। इस प्रकार छापामारों द्वारा नियंत्रित और संचालित क्षेत्र विद्रोहियों का अड्डा कहलाता है। यह क्षेत्र मजबूत अंतःक्षेत्र या शत्रु से रक्षित किया जाने वाला स्पष्ट रूप से सीमांकित क्षेत्र नहीं होता। बेस एरिया एक ऐसा अस्थिर भू-राजनीतिक क्षेत्र होता है जिसकी जनसंख्या को क्रांति में सहयोग देने के लिए संगठित कर लिया जाता है। अतः यह लगभग अभेद्य होता है। जब सरकारी सेनाएं आक्रमण के लिए आगे बढ़ती हैं तब एकत्र होकर लड़ने के बजाय छापामार भीतरी भागों में चले जाते हैं या अस्थायी रूप से भूमिगत हो जाते हैं। इंडोचीन और अल्जीरिया दोनों स्थानों पर ही हजारों फ्रांसीसी सैनिकों द्वारा बार-बार बेस एरिया की छान-बीन करने पर उन्हें केवल उदासीन सिविलियनों, इधर-उधर बिखरे शस्त्र-रहित नौजवानों, जो छापामार हो भी सकते थे और नहीं भी, और कहीं-कहीं छिपे हुए गोला-बारूद के गुप्त भंडारों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। इस छल-कपट की सामरिकी के सम्मुख सरकार या तो लोगों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कर सकती हैं या उन्हें नष्ट कर सकती हैं। 1933 में चीनी राष्ट्रवादियों ने दूसरा तरीका अपनाया। उन्होंने माओ के चिंगकांशान बेस एरिया के विरुद्ध भारी विनाश अभियान में लगभग एक लाख किसानों की हत्या कर दी या भूखों मार दिया। माओ का बेस स्थल रूप में नष्ट कर दिया गया था लेकिन साम्यवादी सेनाएं अत्यन्त होशियारी से पीछे हटते हुए बड़ी संख्या में अपने प्रसिद्ध लम्बे कूच के बाद उत्तर में पहुंच गईं, जहां दिवंगत माओ ने दोबारा क्रांतिकारियों के लिए एक नया बेस एरिया बनाने का अपना कार्य शुरू कर दिया।

(3)

अपने अड्डों के मजबूती से संगठित हो जाने पर छापामार शत्रु के विरुद्ध अपनी लड़ाई शुरू कर सकते हैं। उन्हें संभवतया संख्या में अपने से कई गुना अधिक और आधुनिक औद्योगिकी के सभी साधनों से युक्त पेशेवर सेना

का सामना करना पड़ेगा । उनका युद्ध-कौशल कमजोर का युद्ध कौशल होता है जिसका उद्देश्य शत्रुपक्ष के लाभों को निष्प्रभावित करना और विषमताओं को संतुलित करना होता है ।

विद्रोहियों की सबसे जरूरी आवश्यकता शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद और उपस्कर होती है। वे इन्हें शत्रुओं से उनकी पुलिस चौकियों या एकल सैनिक चौकियों पर अचानक हमला करके प्राप्त कर सकते हैं । 1945 में जनरल गियाप ने वियतनाम की चीनी सीमा पर स्थित एकल फ्रांसीसी किलों के विरुद्ध लड़ाई-झगड़े शुरू कर दिए थे । यह तकनीक प्राय: बहुत ही प्रभावी होती है । क्यूबा के विद्रोहियों का दावा था कि उनके अधिसंख्य हथियार बातिस्ता की सेनाओं से छीने गए थे ।

लगातार तंग करके विद्रोही लोग सरकारी सेना के मनोबल को गिराने का प्रयत्न भी करते हैं। छिप कर गोलियां चलाना, बमबारी, सुरंग बिछी सड़कें और ट्रेनों पर डायनामाइट लगाना जैसी घटनाएं धीरे-धीरे लोगों की जान लेती रहती हैं। वर्ष 1962 के पहले 6 महीनों में सैगोन से उत्तर की ओर जाने वाले रेल मार्ग पर औसतन हर 36 घंटों में एक बार वियतकांग द्वारा तोड़-फोड़ की कार्यवाही की जाती थी । मनोवैज्ञानिक युद्धपद्धति क्रूर और बीभत्स रूप ले सकती है । 1952 में इंडोचाइना में पीछे हट रही फ्रांसीसी सैन्य टुकड़ी अपने मार्ग के साथ-साथ अपने मृत साथियों के सिर सूलियों पर लटके देख कर आतंकित हो गई ।

लेकिन छापामारों की सबसे लोकप्रिय और प्रभावी सामरिकी घात लगाना है । ची गिवेरा का विश्वास है कि एक छापामार लड़ाकू इस बात को महत्व देता है कि उसका शत्रु एक स्थान पर टिका न रहे । तथा वह अधीर, संशक, हर चीज से भयभीत और बचाव के लिए प्राकृतिक संरक्षण से वंचित रहे । अल्जीरिया में विद्रोहियों ने फ्रांसीसी सेना के पूरे फौजी दस्तों को घात लगा कर समाप्त कर दिया और हैलीकाप्टरों का होशियारी से बिछाए गए जाल में फंसा कर सफाया कर दिया । साइप्रेस में, जहां यूनानी राष्ट्रवादी ब्रिटिश लोगों को द्वीप से निकालने का प्रयत्न कर रहे थे, घात बहुत सफल रहे । इंडोचाइना के घने जंगलों में फ्रांसीसी चल यूनिटें कुछ ही भागों पर सीमित रहने के लिए मजबूर कर दी गईं और इस प्रकार वे वियतमिन्ह लोगों के आसानी से शिकार बन गए जिन्होंने घात लगा कर बीसियों फौजी दस्तों को ध्वंस कर दिया । फ्रांसीसियों के लिए मार्गों को सुरक्षित रखना एक प्रमुख और खर्चीला कार्य था । हनोई के

समीप 25 मील लंबे एक टुकड़े को साफ करने के लिए उन्हें 10,000 आदमी और तीन तोपखाने के दस्ते लाने थे, कई हवाई उड़ानें भरनी पड़ीं और उस मार्ग के दोनों ओर के झाड़-झंखाड़ को साफ करने के लिए सैकड़ों मजदूर लाने पड़े।

लेकिन छापामार दस्ते भी कुछ भारी अड़चनों के साथ कार्य करते हैं। सैनिक दृष्टि से उनकी कमजोरी और जनसाधारण की सहानुभूति पर उनकी निर्भरता उन्हें अपने प्रत्येक सैनिक निर्णय के राजनीतिक परिणामों को सावधानी-पूर्वक तोलने को बाध्य करती है। परिणामस्वरूप सैनिक कमान के सभी स्तरों पर राजनीतिक कमिस्सरों को सामरिक निर्णयों के अंतिम अधिकार तो नहीं पर बराबरी का अधिकार अवश्य दिया जाता है। प्रत्येक छापामार सिपाही को सतर्कतापूर्वक निर्देश दिए जाते हैं कि ग्रामीणों के प्रति कैसा व्यवहार करना है। माओ ने इस बात पर जोर दिया था कि लोगों से ली गई प्रत्येक वस्तु के दाम दिए जाएं और वह हर उस व्यक्ति को कड़ी सजा देता था जो चोरी और क्रूरता का अपराधी सिद्ध हो जाता था। यूगोस्लाविया का मार्शल टीटो किसी भी ऐसे गुरिल्ला सैनिक को गांव के चौराहे पर गोली मारने को तैयार था जिसने चाहे एक सेव ही क्यों न चुराया हो।

गुरिल्ला भिड़न्तों में हुए नुकसान के साथ-साथ कठोर अनुशासन गुरिल्ला सैनिकों के मनोबल और सहनशक्ति पर बहुत अधिक भारी दबाव डालता है। इसलिए राजनीतिक कमिस्सरों के लिए एक अन्य कार्य यह भी होता है कि वे उन लोगों के उत्साह और संकल्प को बनाए रखने के लिए उनके साथ नियमित और उत्साहवर्धक राजनीतिक सिद्धांत शिक्षण की बैठकें आयोजित करते रहें। मलाया के जंगल में दैनिक बैठक ठीक सायं 6 बजे शुरू हो जाती थी। लड़ाई से पहले प्रत्येक विद्रोही आगे आकर आंदोलन के लिए जान देने की अपनी तत्परता की घोषणा करता था। एक विद्रोही ने लेखक के सम्मुख यह स्वीकार किया कि जब सबने अपना भाषण समाप्त कर लिया और विद्रोहियों ने उन्हें यह बता दिया कि वे सच्चे क्रांतिकारी की भांति मरने से नहीं डरते तब ऐसा नहीं लगा कि यदि वे मारे जाएं तो कोई गंभीर बात होगी।

(4)

कुछ सफल क्रांतिकारी युद्धों को गुरिल्ला चरण से आगे जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उदाहरण के लिए क्यूबा में कैस्ट्रो की अपेक्षा कम यूनिटें बातिस्ता की सरकार को गिराने के लिए पर्याप्त तोड़-फोड़ करने में समर्थ रहीं। लेकिन

अन्य देशों में विशेष रूप में चीन और उसके बाद फ्रांस-शासित इंडोचाइना और बाद में वियतनाम में, विद्रोहियों को अपने आंदोलन को बढ़ा कर पूरे पैमाने की सैनिक भिड़ंत में परिवर्तित करना पड़ा। इस अंतिम चरण के दौरान गुरिल्ला यूनिटें सहायक संक्रियाओं में शत्रु को तंग करना चालू रख सकती हैं। लेकिन लड़ाई का पूरा दबाव परंपरागत सेनाओं पर पड़ता है जो गुरिल्लाओं में से ही भर्ती किए जाते हैं और जिन्हें आधुनिक युद्ध की सभी जटिलताओं के संबंध में प्रशिक्षण दिया जाता है। माओ ने इस सेना का निर्माण शासी प्रदेश की सुरक्षा के लिए किया था, अल्जीरियाई विद्रोही सेना का प्रशिक्षण सीमा पार ट्यूनिसिया में हुआ।

इस नवीन और विस्तृत घटनाक्रम में विदेशी सहायता के निर्णायक होने की संभावना है। शत्रु पक्ष से पूर्ण विकसित सेना के लिए आवश्यक परिष्कृत साज-सामान छीन लेने की संभावना बहुत कम है, उसे बाहरी मित्रों से प्राप्त करना आवश्यक है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब चीनी साम्यवादी चियांग के साथ सिविल युद्ध की तैयारी कर रहे थे उस समय रूसियों ने उन्हें 700,000 राइफलें, 900 हवाई जहाज, 700 टैंक, 800 विशाल गोला बारूद के अस्थायी गोदाम सहित, जापानियों से लूटे हुए इतने उपस्कर दिए जो कम-से-कम 60 डिवीजनों को सज्जित कर सकते थे। इसके साथ 1950 में साम्यवादी चीन ने वियतमिन्ह को प्रशिक्षित अनुदेशक और भारी सैनिक उपस्कर सप्लाई करना शुरू कर दिया। एक साल के अन्दर ही गियाप फ्रांसीसी सेनाओं के विरुद्ध अपना प्रथम भारी आक्रमण प्रारंभ करने के लिए तैयार था।

लड़ने के लिए पूरी सेनाएं होने पर भी विद्रोही गुरिल्ला युद्ध-पद्धति के परखे हुए युद्ध कौशल पर भरोसा करते थे जिसकी विशेषता थी अत्यधिक गतिशील सैन्य बल के साथ आक्रमण करना, घेरने की दक्ष गतिविधियां, इलाका हथियाने के प्रति रुचि न होना, आसूचना के लिए स्थानीय लोगों पर निर्भर रहना। केवल 16 दिन में ही माओ ने एक बार अपने से 10 गुनी सेना के विरुद्ध 6 लड़ाइयां लड़ीं और विजय प्राप्त की जिसके दौरान उसकी सेना ने पहाड़ों पर 200 मील का रास्ता तय किया।

विद्रोही सेनाएं इस बात का प्रयत्न करती हैं कि सरकारी सेनाएं रक्षात्मक रुख अपनाने को बाध्य हो जाएं। वे उन्हें किलों, खाइयों, बंकरों में शरण लेने के लिए मजबूर कर देती हैं जहां उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके समाप्त किया जा सके। क्योंकि लम्बा संघर्ष अधिकाधिक कठोर और दुखद होता जाता है, अतः शत्रु पक्ष

के पिछले भाग में क्षोभ पैदा होने से विद्रोहियों को अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो सकता है। यदि सरकार सेना और जनसाधारण को नियंत्रण (अनुकूल) में रखने के लिए सख्त उपाय अपनाती है तो विद्रोही और उनके हमदर्द सरकार को बदनाम करने के लिए उसे प्रचार के लिए प्रयोग कर सकते हैं।

इस अंतिम चरण में, सुस्थापित सरकार पर युद्ध के फलस्वरूप तीव्र क्लांति छा जाने की संभावना है क्योंकि उसे महसूस होता है कि वह स्पष्टतया एक न समाप्त होने वाले युद्ध में अधिकाधिक फंसता चला जा रहा है। अंत में सैनिक विजयों और पराजयों के अपेक्षाकृत राजनीतिक दबाव अधिक निर्णायक सिद्ध हो सकते हैं। जब स्वर्गीय जनरल दि गाल ने अपनी सेना को चालबाजी से पीछे हटा लिया तो फ्रांस में अल्जीरियाई संघर्ष सिविल युद्ध में परिणत हो गया। साइप्रस में ब्रिटिश सरकार ने चार वर्ष के महंगे संघर्ष के बाद घुटने टेक दिए और उस द्वीप को उसकी स्वतंत्रता प्रदान कर दी।

युद्ध-स्थल पर दबाव को कम किए बिना, विद्रोही राजनयिक अभियान के साथ-साथ बढ़ते मनोवैज्ञानिक लाभ को प्राप्त करने में लगे रहते हैं। विदेशी शक्तियों से मान्यता प्राप्त करने के लिए उनके दूत विश्व का दौरा करते हैं। क्रमशः उनका संघर्ष विश्व की दृष्टि में ध्वंसात्मक कार्यवाही न होकर स्वतंत्रता के लिए उचित संघर्ष हो सकता है। यदि शत्रु सरकार तब भी सत्ता में हो तो उस पर समझौता करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय दबाव लगातार बढ़ता जाता है। लेकिन अब तक के अधिकांश सफल क्रांतिकारी युद्धों में इस चरण तक खेल समाप्त हो जाता है। बिना कोई फायर किए माओ ने पैकिंग में तथा हो-ची-मिन्ह ने हनोई में प्रवेश कर लिया था।

(5)

विद्रोहियों की विजय किसी भी रूप में उतनी अवश्यंभावी नहीं है जितनी कि मानी जाती है। देश में परिस्थितियां सही होनी चाहिएं, गुरिल्लाओं को कोई बड़ी गलती नहीं करनी चाहिए और सरकार को पूर्वानुमानित भारी भूलें नहीं करनी चाहिएं अन्यथा युद्ध के परिणाम गुरिल्लाओं के लिए अनर्थकारी हो सकते हैं। मलाया और फिलिपीन्स की असफल क्रांतियां इसका प्रमाण हैं।

मलाया में गुरिल्ला आंदोलन जिसका अड्डा जंगल था और जो 1948 में शुरू हुआ था इन सभी तत्वों के विनाशकारी तालमेल के कारण असफल हो गया। मलाया के जंगल बीरान में और प्रायः रहने लायक नहीं हैं। लेकिन ऐसे जंगलों

को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए आश्रय स्थल के रूप में तो इस्तेमाल किया जा सकता था लेकिन वे वास्तविक गरिल्ला अड्डों के लिए बेकार थे। उस क्षेत्र में गुरिल्ला दल स्वयं चीनी वंशज थे और मलायावासी सत्ता में थे और जिनका रवैया गुरिल्लाओं के प्रति सदा शत्रुतापूर्ण रहा। विद्रोही खुले तटीय प्रदेशों के गांवों में रहने वाले ग्रामीण मलायावासियों से बिल्कुल भी सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकते थे क्योंकि ये गांव समुद्र तटस्थ क्षेत्रों में थे और अच्छी सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे तथा कुशल ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासक उन पर कड़ी निगरानी रखते थे। गुरिल्लाओं के लिए एक मात्र आशा जंगल की सीमा के साथ-साथ रह रहे चीनी उपवेशी थे, लेकिन उन्होंने अपने इस सुअवसर का भी लाभ नहीं उठाया क्योंकि उन्होंने पूर्णतः आतंक का सहारा लेकर चीनी उपवेशियों को धमकाकर सहयोग के लिए बाध्य किया था। बाद में एक सफल नवीन ग्राम नीति ने भी लोगों और गुरिल्लाओं के बीच सम्पर्क को कम करने में सरकार की मदद की। फिर भी विद्रोह को पूर्ण रूप से समाप्त करने में उन्हें 12 वर्ष लग गए और 3,50,000 व्यक्तियों का प्रयोग किया गया। 20 वीं शताब्दी के आठवें दशक के दौरान मलेशिया में सशस्त्र साम्यवाद के पुनः उभरने पर उसका होशियारी से मुकाबला किया गया और सक्षम प्रशासनिक और सामाजिक सुधार स्त्रातजी द्वारा उसे दबा दिया गया।

फिलिपीन्स में, जहां दूसरे विश्व युद्ध के बाद हुक लोगों ने गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया था, मूल परिस्थितियां विद्रोह के लिए अधिक अनुकूल थीं। लेकिन यहां गुरिल्लाओं को एक और अधिक खतरनाक बाधा-धर्म सुधारक रोमन मैगासेसे का सामना करना पड़ा जो 1950 में रक्षामंत्री और 1953 में राष्ट्रपति बना।

भ्रष्टता के लिए बदनाम सरकार में मैगासेसे ने पुलिस और सेना में ऊपर से नीचे तक परिवर्तन कर उन्हें सुव्यवस्थित किया। निष्पक्ष चुनाव का आश्वासन दिया और निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए देश भर में निगरानी के लिए नागरिक दल संगठित किए। इस प्रकार लोगों को अपनी राजनीतिक नियति में सम्मिलित करके और अपनी नेकनीयत सिद्ध करके मैगासेसे ने हुक लोगों के पैर उखाड़ दिए। सन् 1954 में हुक सरदार लुई बासक ने जंगल से निकल कर मैगासेसे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि विद्रोहियों के लिए क्रांतिकारी गुरिल्ला आन्दोलन को सफल बनाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है।

20 वीं शताब्दी के सातवें दशक के अन्त में भारत के क्रांतिकारी आंदोलन ने भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में मौजूद कई दमित असंगतियों को उभार कर सामने ला दिया था। एक असंगति प्रचलित लक्ष्यों और संवैधानिक प्रणाली के बीच है। क्रांतिकारियों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि मौजूदा प्रणाली भारतीय लोगों की आशाओं को पूरा करने में सक्षम नहीं थी। इससे पहले भी भारतीय साम्यवादी आंदोलन के कुछ वर्गों ने इसी दृष्टिकोण को प्रचारित करने का प्रयत्न किया था। लेकिन क्रांतिकारी कार्यकलाप, इस दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं थे, अतः शासक वर्ग ने इसे कोई महत्व नहीं दिया। माओवादी इस सीमा तक ही सफल हुए कि इस प्रणाली के संरक्षकों ने खतरा महसूस किया। तब तक भारतीय संवैधानिक प्रणाली की वैधता सुनिश्चित मान ली गई।

भारतीय साम्यवादी आंदोलन के अधीन संसदीय संघर्ष और क्रांतिकारी संघर्ष के बीच भी असंगति थी। यह असंगति माओवादी आंदोलन द्वारा और भी अधिक स्पष्ट हो गई। साम्यवादी क्रांतिकारियों ने न केवल भारतीय साम्यवादी पार्टी (मार्क्सवादी) के सैद्धान्तिक सूत्रों को चुनौती दी बल्कि विभिन्न परिमाण में सशस्त्र संघर्ष भी शुरू कर दिया। रणकौशल संबंधी गलतियों और बाधाओं के बावजूद, इस अनुभव ने समाजवाद के लिए शांतिपूर्ण पथ और क्रांतिकारी पथ के बीच अन्तर को सोदाहरण स्पष्ट कर दिया।

कृषि नीति और राजनीति में आमूल सुधारवादिता के क्षेत्र में माओवादी आंदोलन का प्रभाव बहुत क्षणिक था।

लेकिन इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि समाज के कुछ वर्गों में हिंसात्मक साधनों के प्रादुर्भाव को सामाजिक परिवर्तन के लिए वैध तरीका स्वीकार कर लिया गया। परम्परा के रूप में प्राप्त अहिंसा का प्रभाव दिन प्रतिदिन कम होता नजर आ रहा है। इसके कारण भारतीय राजनीति में सामूहिक सक्रियतावाद का भी समावेश हो गया है। लेकिन इस क्रांतिकारी आंदोलन का भविष्य बीसवीं शताब्दी के 9 वें दशक में उसके संगठनात्मक और सैद्धांतिक कार्यों पर निर्भर करेगा। यदि आन्दोलन को सफल बनाना है तो विभाजन के स्रोतों को खोजना होगा और उन्हें समाप्त करना होगा। भारत में क्रांतिकारी आंदोलन अपनी संगठनात्मक और नीति संबंधी कमजोरी के कारण असफल हो सकता है और समय-समय पर उसे दबाया भी जा सकता है। लेकिन क्रांतिकारी विचारधारा आने वाले वर्षों में मौजूद रहेगी।

आज अन्तर्राष्ट्रीय कारक ने क्रांतिकारी संघर्ष के भविष्य को इतना अधिक जटिल बना दिया है जितना पहले कभी नहीं था। यद्यपि विभिन्न स्वतंत्रता आंदोलनों के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि उनकी मूलभूत शक्ति उनके अपने लोग होने चाहिए। अलग-अलग मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की अलग-अलग भूमिका है। ऐसी संभावना है कि बढ़ते हुए राष्ट्रातीत विश्व में शासक वर्ग और क्रांतिकारी विदेशी सहायता प्राप्त करेंगे। लेकिन विदेशी सहायता पर आधारित सफलता बहुत समय तक नहीं टिक सकती। इसके साथ ही विश्व राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की दिशा में अग्रसर हो रहा है। इसका कारण बाहरी शक्तियों को एक दूसरे से भय या मात्र उदासीनता हो सकता है। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय स्वतंत्रता को मजबूत करने के आंदोलन का परिणाम है। यह प्रवृत्ति शासक वर्ग के साथ-साथ क्रांतिकारियों के भी अनुकूल है। इस प्रकार क्रांतिकारी गुरिल्ला युद्धपद्धति अनिवार्य रूप से संबद्ध देश के लोगों का उत्तर-दायित्व हो जाती है।

संदर्भ

क्लट बक, रिचर्ड एवं, 1966, द लांग वार, काउंटर इन्सर्जेंसी इन मलाया एंड वियतनाम, न्यूयार्क, प्रेगर

क्रोवियर ब्रियान 1960, द रैवैल-ए स्टडी आफ पोस्टवार इन्स्ट्रक्शन्स, बौसन बैकेन

ग्रिवाल, जार्ज (1963), 1963, जनरल ग्रिवाज आन गुरिल्ला वारफेयर, न्यूयार्क, प्रेगर

ओसांका, एफ० एम०, 1962 आन माडर्न गुरिल्ला वारफेयर, न्यूयार्क, फ्री प्रेस,

हैलव्रन, ओटा, 1962, पार्टिजन वारफेयर, न्यूयार्क, प्रेगर

जनोस, एन्ड्रयू० सी०, 1963 अनकन्वेन्शनल वारफेयर, फ्रंक वर्क एंड एनेलिसिज, वर्ल्ड पालिटिक्स 15 : 636-646

लारेंस, टी० ई० (1926), 1947, सेवन पिलर्स आफ विजडम गार्डन सिटी, न्यूयार्क, डबल डे

माओ-त्से-तुंग, 1954-1962, सलैक्टैड वर्क्स 5 खंड

वो-गेयेन जियाप, 1962, पीपुल्स वार पीपुल्स आर्मी, न्यूयार्क, प्रेगर

कक्कड़, ए० एन०, 1976, काउंटरिंग इन्सर्जेंसी इन मलाया 1948-1960 इंडियन जनरल आफ डिफेंस स्टडीज, इंडिया, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

कक्कड़ ए० एन०, 1976 चीन एंड साउथईस्ट एशिया, विक्रांत, नई दिल्ली, इंडिया

लैक्वैयर, वाल्टर, 1977, गुरिल्ला, लंदन वीडनफील्ड एंड निकल्सन

नासुशन, ए० एच०, 1963, फंडामेंटल्स आफ गुरिल्ला वारफेयर, लंदन

पालित, डी० के०, गुरिल्ला वारफेयर

पारेट पी० एंड शाई जे० डब्ल्यू०, 1962, गुरिल्लाज इन 1960 जू प्रिंसटन स्टडीज इन वर्ल्ड पालिटिक्स सं० 1

पावरे, डब्ल्यू० जे०, 1968, गुरिल्ला वारफेयर एंड मार्क्सिज्म, न्यूयार्क

फेयरबार्न, जे०, 1974, रैवोल्यूशनरी गुरिल्ला वारफेयर, लंदन

किसलर, आई० ई०, 1975, गुरिल्ला एंड रैवोल्यूशन; बान

जियाप, वी० एन०, 1970, द मिलेटरी आर्ट आफ पीपुल्स वार, न्यूयार्क

डैबरे, आर०, 1968, रैवोल्यूशन इन द रैवोल्यूशन, लंदन, 1973, स्ट्राटेजी फार रेवोल्यूशन, लंदन

माओ त्से तुंग, 1961, आन गुरिल्ला वारफेयर, लंदन

मैकरैन नेजै, 1966, द आर्ट आफ काउंटर-रेवोल्यूशनरी वार, लंदन

मास, आर०, 1972, अर्बन गुरिल्लाज़, लंदन

टेबर, आर०, 1965, द वार आफ द फली, न्यूयार्क

जानसन, चैलमर्स, 1973 एन्टोपी आन पीपल्स वार, बर्कले

बुल्फ, ई० आर० , 1969 पेजेंट वार्स आफ दि टुअन्टीयथ् सेंचुरी लंदन, फेबर एंड फेबर

कोहन, ए० ए०, 1964, द कम्यूनिज्म आफ माओत्से तुंग, लंदन, शिकागो प्रेस

सली, एफ०, 1968, एज आफ द गुरिल्ला, न्यूयार्क पैरेंट्स मैगजीन प्रेस

दासगुप्ता, वी०, 1974, द नैक्सेलाइट मूवमैंट इंडिया, नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स

सी० पी० ई० (एम० एल०) मैगजीन, लिबरेशन, कलकत्ता (पिछले अंक)

राम मोहन, माओ इज्म इन इंडिया, नई दिल्ली

गुबरा ची०, आन गुरिल्ला वार फेयर इन वेस्ट मलेशिया

गर्वनमेंट आफ मलेशिया, आर्म्ड कम्यूनिज्म एंड सार वाक पर सभी वाइट पेपर

आमसन, आर०, 1966 डिफीटिंग कम्यूनिस्ट इनसर्जेंसी लंदन चैटो एंड विंडस

आर्मी क्वाटर्ली एशियन सर्वे मिलिटरी रिव्यू, इंडियन जर्नल आफ डिफेंस स्टडीज (इलाहाबाद), यू एस आई जर्नल आफ इंडिया, ओ० आर० बी० एस० लिबरेशन, करेंट हिस्ट्री, इन्स्टीट्यूट आफ डिफेंस स्टडीज एंड एनेलिसिस जर्नल (नई दिल्ली), वीकिंग रिव्यू, फार ईस्टर्न इकानौमिक रिव्यू, प्रोब्लम्स आफ कम्यूनिज्म एंड चाइना क्वार्टर्ली में लेख ।

युद्ध तथा विदेश नीति

श्री पी० आर० चारी

क्विंसी राइट ने युद्ध को उसके व्यापक अर्थ में एक दूसरे से भिन्न किन्तु समान शक्ति वाले राष्ट्रों का हिंसात्मक संपर्क कहा है। संकुचित अर्थ में युद्ध को उसने ऐसी कानूनी स्थिति कहा है जिसमें दो या दो से अधिक विरोधी समूह सशस्त्र शक्ति द्वारा संघर्ष कर सकते हैं। विधिक अर्थ में 'युद्ध एक ऐसी स्थिति है या कालावधि है जिसके दौरान सरकारों के बीच हिंसात्मक कार्यों की छूट देने वाले और उसको नियमित करने वाले विशेष नियम लागू रहते हैं या फिर युद्ध नियमित हिंसा की ऐसी प्रक्रिया है जिसके आधार पर सरकारों के आपसी झगड़े निपटाए जाते हैं।' राइट वास्तविक अर्थ में युद्ध को "एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार के विरुद्ध की गई एक या कई हिंसात्मक कारवाइयां या सरकारों के बीच हिंसात्मक विवाद मानते हैं।

युद्ध अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के अन्य रूपों से भिन्न कोई पृथक सत्ता या वस्तु नहीं है। संघर्ष के विभिन्न रूपों तथा जटिलतर स्वरूप को देखते हुए युद्ध को अंतर्राष्ट्रीय हिंसा के पैमाने का अंतिम छोर माना जा सकता है। इसी पैमाने के अनुसार प्रभुसत्ता संपन्न राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से अपनी बात मनवाने के लिए दमन के, समस्त सैनिक और गैर-सैनिक साधनों का भरपूर प्रयोग करते हैं। इस प्रकार युद्ध, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति की अभिव्यक्ति है और राष्ट्रीय उद्देश्यों की व्यापक पूर्ति के लिए इसका व्यापक और तीव्र प्रयोग किया जा सकता है।

यद्यपि लिखित इतिहास से पता चलता है कि सभी युगों में युद्ध लड़े गए हैं, फिर भी दो बातें ऐसी हैं जिनसे बीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों के युद्धों और पिछले चरण के युद्धों का अंतर स्पष्ट होता है। आज पक्ष-विपक्ष द्वारा केवल एक एक परमाणु हथियार चलाने या केवल एक ही परमाणु शस्त्र के प्रयोग से व्यापक विनाश किया जा सकता है और यह विनाश लीला दूर-दूर के क्षेत्रों में भी की जा सकती है। यह सब इसलिए संभव हो सका है कि आज परमाणु हथियारों को निरंतर अधिकाधिक परिष्कृत किया जा रहा है और उनकी टेक्नालाजी में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। इसी बात को लेकर मारगैन्था के अनुसार

इतिहास में वर्णित युद्धों और आधुनिक समय के संभावित पूर्ण युद्धों में अंतर है। उनका विश्वास है कि आज के युद्ध निम्नलिखित चार कारणों से पूर्ण युद्ध बन गए हैं—(1) देश की कुछ जनसंख्या तो अपनी भावनाओं और धारणाओं का तादात्म्य अपने राष्ट्र के युद्धों के साथ कर लेती है, (2) देश के कुछ लोग युद्ध में शामिल हो जाते हैं, और (3) देश की कुछ जनसंख्या पर युद्ध का प्रभाव पड़ता है और युद्ध द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

कुछ विद्वानों का यह विश्वास है कि युद्ध मानव प्रकृति की अंतर्जात आक्रामकता का ही स्वरूप है, जिसके कारण युद्ध अनिवार्य हो जाता है। दूसरे विद्वान तर्क देते हैं कि प्राचीन एवं आधुनिक उन्नत संस्कृति में मानव के स्वीकार्य सामाजिक आचरण के अनुसार युद्ध वर्जित है। अतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि युद्ध सामाजिक आविष्कार है क्योंकि अंतर्वैयक्तिक हिंसा का चरम रूप और वर्ग द्वारा स्वीकृत सामूहिक हिंसा—दोनों बिल्कुल अलग-अलग चीजें हैं। इस समय मनोवैज्ञानिकों और नृविज्ञानियों का यह दृढ़ विचार है कि युद्ध को एकपक्षीय रूप में मानव प्रकृति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। युद्ध उन राज्यों के बीच हिंसा की अभिव्यक्ति है जिनकी राजनीतिक इकाइयां हैं और जिनका संबंध प्रादेशिक सीमाओं, राष्ट्रीय अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गौरव को बनाए रखने आदि से है। ये गूढ़ मूल्य ऐसे हैं जिनका महत्व संघर्ष के अन्तर्वैयक्तिक कारणों से भी बढ़ कर है।

आधुनिक समय में युद्धों के कारण विश्व में प्रमुख राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं और आज युद्धों को "एक ऐसे साधन के रूप में माना जा रहा है जिनके बल पर राष्ट्रीय राजनीति की महान घटनाएं हुई हैं और उन्हें बनाए रखा गया है।" युद्धों के कारण नई राजनीतिक संरचनाएं उत्पन्न हुई हैं। नेपोलियन—युद्धों के बाद की संवैधानिक सरकारें इसका उदाहरण हैं। उन्होंने सुस्थापित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को परिरक्षित रखने में अपनी भूमिका निभाई है—यथा उन्होंने शक्ति संतुलन बनाए रखा जो बहुत कुछ शांति का आधार था। सारांश यह है कि युद्ध अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाए रख सकते हैं और उनमें गड़बड़ी भी पैदा कर सकते हैं।

युद्धों को उस स्थिति में न्यायोचित माना गया है जब वे अन्यायपूर्ण आक्रमण से निर्दोष पक्ष की सुरक्षा, गलत तरीके से छीने गए अधिकारों को फिर से दिलाने अथवा शालीन मानव-जीवन के लिए आवश्यक व्यवस्था की पुनःस्थापना के लिए लड़े गए हों। अतएव, राष्ट्रों ने न्यायोचित ठहराए जाने वाले रक्षात्मक युद्धों में

और अनुचित समझे जाने वाले आक्रामक युद्धों में भेद करने का प्रयत्न किया है। रक्षात्मक युद्ध, आक्रमण के विरुद्ध जवाबी कार्रवाई है जबकि आक्रामक युद्ध, अवसर का तुरन्त लाभ उठाने का द्योतक है। आधुनिक समय में यह अंतर अस्पष्ट हो गया है क्योंकि सामरिक कारणों से किए गए आक्रामक युद्ध को भी रक्षात्मक प्रयोजनों के लिए उचित ठहराया गया है। पूर्वक्रमिक आक्रमण के स्पष्टीकरण में यही तर्क दिया जाता है। इसका ज्वलंत उदाहरण तीसरे अरब इजराइली युद्ध से पूर्व, 1967 में अरब पड़ोसियों पर इजराइल का आक्रमण था। सैनिक तर्क के अनुसार पूर्वक्रमिक कार्रवाई आक्रमण रोकने के लिए आवश्यक है और इसी कारण यह रक्षात्मक कार्रवाई है।

इस विषय में और अधिक लिखने से पूर्व यह विचार ठीक होगा कि अंतर्राष्ट्रीय विधि के ढांचे में युद्धों को किस रूप में लिया जाता है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रमुख कार्य सशस्त्र संघर्षों को मानवीय रूप देना है, जिसकी भर्त्सना रूढ़िगत समाज करते हैं। इसके साथ ही उतनी ही स्पष्ट यह कठिनाई है कि ऐसी कोई अंतर्राष्ट्रीय नियमावली उपलब्ध नहीं है जो थोड़ी बहुत निश्चितता या अंतिमता के साथ राज्यों के पारस्परिक संबंधों पर लागू हो सके।

इन सीमाओं में, अंतर्राष्ट्रीय विधि तो न सही, किंतु कुछ अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांत ऐसे है जिन्हें मान्यता दी जा सकती है। प्रथम, धर्म, नीतिशास्त्र और दर्शन से लिए गए कुछ ऐसे नियम हैं जिनमें उन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनमें युद्ध करना विधिमान्य होता है। साथ ही इन नियमों में उन व्यवहारों का भी वर्णन है जो युद्ध के दौरान मित्र और शत्रु दोनों के ही प्रति नहीं किए जाने चाहिएं। व्यवहार में, न्यायोचित युद्ध की शासकों ने उपेक्षा की है, वे युद्ध शुरू करने के पक्ष में अपने राज्य संबंधी कारणों का स्पष्टतया उल्लेख करते हैं। युद्धों में अनुमत्य अथवा अननुमत्य प्रथागत व्यवहारों को संहिताबद्ध करने के प्रयास अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने किए हैं। ऐसे प्रयासों का उल्लेख 1899 और 1907 के हेग कन्वेंशन और 1929 तथा 1949 के जेनेवा कन्वेंशन में मिलता है। जहरीली गैस का प्रयोग जेनेवा नयाचार 1925 द्वारा निषिद्ध कर दिया गया था।

जहां तक परमाणु हथियारों का संबंध है, संयुक्त राष्ट्र महासभा के परमाणु हथियारों के निषेध से संबंधित 1961 के संकल्प में यह कहा गया है कि इस प्रकार के हथियारों का प्रयोग "संयुक्त राष्ट्र संघ की भावना, नियमों और उद्देश्यों के विपरीत है, अतएव यह अधिकार पत्र का प्रत्यक्ष उल्लंघन है।" यह तो मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के संकल्पों की विधिक शक्ति के संबंध में आपत्ति उठाई जा

सकती है। इसके साथ एक कठिनाई भी है कि यह स्पष्ट नहीं है कि युद्ध के परम्परागत नियमों का उल्लंघन करने वाले दोषी राज्यों को क्या दंड दिया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय दोषी राज्यों के विरुद्ध दंडविधान कर सकता है। फिर, दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति पर एक अंतर्राष्ट्रीय सैनिक अधिकरण की स्थापना की गई थी जिसका कार्य "मानवता के प्रति अपराधों" के दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध न्यायनिर्णय करना था। इनमें से कोई भी कार्रवाई पूरी तरह से संतोषजनक नहीं है किन्तु एक केंद्रीय अंतर्राष्ट्रीय सरकार न होने की स्थिति में यही सब कुछ संभव हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि युद्ध राज्य की नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रों के बीच लड़े जाते हैं। ये उद्देश्य प्रशंसनीय हैं या निन्दनीय—इस बात से कोई संबंध नहीं है। यहां यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि युद्ध राज्यों की विदेश नीति का एक साधन है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हत्या अथवा गंभीर चोट पहुंचाने वाली अन्तर्वैयक्तिक हिंसा का भी कोई न कोई उद्देश्य होता है। सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जिस युद्ध में नागरिकों को बलिदान करने पड़ते हैं, वह इसका औचित्य सिद्ध करे। यह काम तब तक कठिन होता है जब तक कि युद्ध को इस रूप में न प्रस्तुत किया जाए कि यह राष्ट्र के सर्वोच्च राष्ट्रीय हितों में काम आने वाला है। इसके अतिरिक्त, विश्व समुदाय को, जो साधारणतया अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में हिंसा को घृणा की दृष्टि से देखता है, इस बात का पुनः आश्वासन देना पड़ता है कि युद्ध अपरिहार्य और अनिवार्य है।

युद्ध अथवा अधिक व्यापक रूप में शक्ति प्रयोग की भूमिका अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण है और अधिक संगत रूप में कहें तो शक्ति प्रयोग की धमकी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आक्रामकता को रोकने और आत्मरक्षा के प्रयोजनों के लिए सैनिक क्षमताएं बढ़ाई जाती हैं। ये सैनिक क्षमताएं अन्य राज्यों के प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रभावित करने के लिए भी विकसित की जाती हैं। राज्य की सुनिश्चित रूप से ही ऐसी बहुत-सी विशेषताएं होती हैं जिनके माध्यम से शक्ति का प्रदर्शन किया जा सकता है यथा—आर्थिक सहायता देना या समाप्त कर देना, अपनी विचारधारा को देश से बाहर ले जाने की क्षमता, प्रौद्योगिकी सहायता का एक देश के स्थान पर दूसरे देश को देना या उसे रोक लेना आदि। किन्तु शक्ति प्रयोग की धमकी राजनयिक शस्त्रागार में अवशिष्ट शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत है।

शक्ति प्रयोग की धमकी मनोवैज्ञानिक स्तर पर कार्य करती है, "यह होने वाले नुकसान—आगे होने वाले और अधिक नुकसानों की धमकी है जो किसी को झुका अथवा उससे अपनी बात मनवा सकती है। यह गुप्त हिंसा है जो किसी के विकल्प को प्रभावित कर सकती है—हिंसा जिसे रोका जा सकता है या प्रयुक्त किया जा सकता है—या फिर जैसे कि हिंसा के आक्रांत राष्ट्र का विश्वास है इसे रोका या प्रयुक्त किया जा सकता है। संभावित पीड़ा की धमकी से किसी के उद्देश्यों को बनाने का प्रयास किया जाता है जबकि पाशविक बल व्यक्ति की शक्ति पर ही काबू पा लेने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में शक्ति प्रयोग के परिणाम से होने वाले नुकसान की प्रत्याशा ही है जिससे एक राष्ट्र धमकी देने वाले राष्ट्र के हितों को सहायता देने के लिए एक प्रकार के वरीय व्यवहार को अपनाने या फिर उसे दूर रहने के लिए राजी हो जाता है और यही प्रत्याशा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति प्रयोग की धमकियों को विदेश नीति का एक समर्थ साधन बनाती है।

यही कारण है कि राज्य अपनी सशस्त्र फौजों की सैनिक तैयारी पर अधिक जोर देते हैं। इससे राज्यों को या तो स्वयं शक्ति प्रयोग करने या फिर दूसरों द्वारा शक्ति प्रयोग को रोकने की क्षमता का पता चलता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि राज्य के सशस्त्र सैनिकों की संख्या, उनकी गुणवत्ता और राज्य के मनोबल से राज्य की सैनिक तैयारी का पता चलता है। कतिपय राष्ट्रों ने जानबूझ कर अपनी सैनिक शक्ति को कम करने का प्रयत्न किया है। इतिहास ऐसे देशों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें अपनी सैनिक क्षमताओं की ओर ध्यान न देने के कारण पराजय का मुंह देखना पड़ा या जिनसे प्रतिष्ठा को धक्का लगा। अतएव, सैनिक टेक्नालाजी के अद्यतन आविष्कारों का लाभ उठाते हुए सशस्त्र सेनाओं को आधुनिक रूप देने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस आधुनिकीकरण के नाम पर पुराने तरीके से सशस्त्र सेनाओं को अपेक्षाकृत अधिक सही निशाने वाले और पहले से कहीं अधिक मारक शस्त्रों से लगातार सज्जित किया जा रहा है। परंपरागत सैनिक-शक्ति में साथ-साथ कटौती हो सकती है, इस राष्ट्रीय बोध पर परमाणु हथियारों का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है। महत्वपूर्ण बात यह है कि युद्ध के लिए चीन, सोवियत रूस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के पास विश्व में विशालतम सशस्त्र सेनाएं हैं।

सैनिक तैयारी के साथ-साथ राज्य अन्य राज्यों में राजनीतिक धारणाओं और व्यवहार को प्रभावित करने के लिए अपने सैन्य बल का प्रदर्शन करना आवश्यक समझते हैं। दूसरे शब्दों में, चूंकि सैन्यबल राष्ट्र की शक्ति का मापदंड है, इसलिए

दूसरे देशों को प्रभावित करने के लिए इसका प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है। अतः राष्ट्र की सैनिक तैयारी और सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सैनिक परेडें, युद्धाभ्यास, आंशिक तथा पूर्ण लामबन्दी और हाल में परमाणु परीक्षण भी किए गए हैं। सभी देशों में सैन्य शक्ति प्रदर्शन के लिए नौसेना एक सफल माध्यम है। इसके मूल में यह तथ्य है कि नौ सेनाएं उन समुद्रों में भी तैनात की जा सकती हैं जो अंतर्राष्ट्रीय संचार माध्यम हैं। इस तरह नौ सेनाओं को यह लाभ भी होता है कि वे समुद्र में इधर-उधर आसानी से विचरण कर सकती हैं, स्पष्ट रूप से गोचर होती हैं और उनकी उपस्थिति व्यापक होती है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, युद्ध अथवा शक्ति प्रयोग के अलावा, बल प्रयोग की धमकी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक निश्चित प्रयोजन सिद्ध करती है। अत्यधिक खर्चीले आधुनिक युद्धों और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अनुचित हिंसा को जितना निंदनिय माना गया है, उसे देखते हुए शक्ति प्रयोग की धमकी वास्तविक युद्धो या वास्तविक बल प्रयोग की अपेक्षा लोकप्रिय होती जा रही है।

नितोज्ञों के उपदेशों के बावजूद राज्यों द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अपनाए गए साधनों को शासन-काल में परंरपागत रूप से उचित ठहराया गया है। अंतर्राष्ट्रीय और व्यक्तिगत नैतिकता के बीच विरोधाभासी अंतर इस बात से प्रकट होता है कि राज्यों द्वारा अनैतिक साधनों के उपयोग को समझाया जा सकता है यहां तक कि उन्हें राष्ट्रीय उद्देश्यों, जो कि सर्वोच्च माने जाते हैं, की पूर्ति के लिए आवश्यक बता कर उचित भी सिद्ध किया जा सकता है। इस तरह की दलील कुछ सीमा तक दंड से मुक्ति के लिए दी जा सकती है लेकिन कोई व्यक्ति अपने अनैतिक कार्यों के परिणामों से नहीं बच सकता। विभिन्न युद्धों के राजनीति वैज्ञानिकों को पुस्तकों से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण इस बात को सिद्ध कर देंगे—

कौटिल्य—"जो भी राजा दूसरे राजा से कमजोर होगा वह उसके साथ मित्रता करेगा, जो अधिक शक्तिशाली होगा वह युद्ध करेगा, जो यह सोचता है 'कोई शत्रु मुझे नुकसान नहीं पहुंचा सकता है और न ही में इतना शक्तिशाली हूं कि अपने शत्रुओं को नष्ट कर सकूं' वह तटस्थता का पालन करेगा, जिसके पास आवश्यक साधन होंगे वह अपने शत्रुओं पर आक्रमण करेगा, "जिसके पास रक्षा करने के लिए पर्याप्त शक्ति नहीं है वह दूसरे से संरक्षण प्राप्त करेगा, जो यह सोचता है कि किसी परिणाम की प्राप्ति के लिए सहायता की आवश्यकता है वह एक के साथ मित्रता करेगा और दूसरे के साथ युद्ध छेड़ देगा।"

मेकावली—"लड़ाई के दो तरीके हैं—एक कानून के द्वारा दूसरे शक्ति के द्वारा—पहला तरीका मनुष्य अपनाते हैं दूसरा जानवरों का है, लेकिन क्योंकि पहला तरीका अक्सर पर्याप्त नहीं होता इसलिए व्यक्ति को दूसरे का सहारा लेना पड़ता है। एक बुद्धिमान राजा को इस पर उस समय विश्वास नहीं रखना चाहिए जब ऐसा करना उसके हितों के विरुद्ध हो और जब वे कारण जिनकी वजह से वह इससे बंधा हुआ था अब उपस्थित न हों—न ही कभी ऐसा हुआ कि कोई राजकुमार अपने वायदे को पूरा न कर सकने के लिए कोई उचित बहाना देना चाहता हो और उसे कोई तर्कसंगत आधार न मिला हो। इसलिए शासक को ऐसा होना चाहिए जो हवा के रुख का देखते हुए और भाग्य के परिवर्तनों के अनुसार अपने को ढाल सके और यदि संभव हो तो भलाई से पीछे न हटे लेकिन यदि बाध्य होना पड़े तो बुराई भी कर सके।"

ट्राटस्की—"किसी भी साधन को केवल उसके साध्य के द्वारा ही उचित सिद्ध किया जा सकता है लेकिन अपने स्थान पर साध्य के औचित्य को भी सिद्ध करने की आवश्यकता है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, साध्य का औचित्य तभी सिद्ध किया जा सकता है जब वह प्रकृति पर मानव के अधिकार को बढ़ाने में सहायता देता है और जब वह मनुष्य के अधिकार को समाप्त करने में सहायक होता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद साधन और साध्य में किसी द्वैतवाद को नहीं मानता। साध्य ऐतिहासिक घटनाओं से स्वतः उद्भूत होता है। जैविक रूप से साधन साध्य से गौण माने जाते हैं। आसन्न साध्य अगले साध्य के लिए साधन बन जाता है।"

युद्ध और विदेश-नीति के बीच संबंध या अधिक सामान्य रूप से शक्ति प्रयोग और राष्ट्रीय उद्देश्यों के बीच अन्तःक्रिया की बहुत स्पष्ट व्याख्या कार्ल वान क्लाजविट्ज़ की पुस्तकों में उपलब्ध है। अपनी महान कृति "ऑन वार" में क्लाजविट्ज़ ने असंदिग्ध रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सैनिक शक्ति को राष्ट्रीय नीति से गौण माना जाना चाहिए। राजनैतिक प्रधानता का सिद्धान्त अनिवार्य था क्योंकि सैनिक शक्ति से कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता बशर्ते कि उसका राजनैतिक प्रयोग न किया जाए। क्लाजविट्ज की महान कृति से लिए गए निम्नलिखित दो उद्धरणों से यह स्पष्ट है :—

"किसी भी समुदाय या पूरे राष्ट्र और विशेष रूप से सभ्य राष्ट्रों के युद्ध हमेशा किसी राजनीतिक परिस्थिति से शुरु होते हैं और राजनैतिक उद्देश्य के लिए लड़े जाते हैं। इसलिए यह राजनीतिक कार्य है बशर्ते कि हम यह

दिखा सकें कि युद्ध की जड़ें राजनीतिक उद्देश्य में निहित हैं। तब यह स्वाभाविक ही है कि वह मूल उद्देश्य जिसकी वजह से युद्ध शुरु हुआ, उसके संचालन में भी प्रथम और प्रमुख विचारणीय विषय बना रहेगा। इसलिए नीति युद्ध की पूरी कार्यवाही के साथ गुंथी रहती है और उसे युद्ध को लगातार प्रभावित करना चाहिए जहां तक उसके द्वारा स्वतंत्र की गई ताकतों का स्वरूप अनुमति दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध मात्र राजनीतिक कार्य नहीं है बल्कि एक वास्तविक राजनीतिक साधन, राजनीतिक व्यापार का अनुवर्तन और अन्य साधनों द्वारा उसे कार्यान्वित करते रहना भी है। राजनीतिक विचार उद्देश्य है, युद्ध साधन है और हमारी संकल्पना में साधन में साध्य सदा ही समाहित होना चाहिए।"

"युद्ध सरकारों और राष्ट्रों के राजनीतिक संबंधों के कारण शुरु होता है, लेकिन सामान्य रूप से ऐसा माना जाता है कि युद्ध के द्वारा इस प्रकार का संबंध टूट जाता है और एकदम भिन्न रूप की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जो कि सिवाय अपने और किसी भी कानून के अधीन नहीं होतीं। इसके विपरीत हमारा विचार है कि युद्ध अन्य साधनों के मिश्रण के साथ राजनीतिक संबंध को बनाए रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संक्षेप में, युद्ध-कला अपने परम रूप में नीति ही है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक ऐसी नीति है जिसके अनुसार लिखापढ़ी के स्थान पर लड़ाइयां लड़ी जाती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी बड़े सैनिक उद्यम या योजना को विशुद्ध सैनिक निर्णय और फैसलों के आधार पर छोड़ देना एक ऐसी विशेषता है जिसकी अनुमति नहीं दी जा सकती है और जो हानिकारक भी है, वास्तव में युद्ध की योजना पर व्यावसायिक सैनिकों से परामर्श करना अविवेकपूर्ण कार्य है। वे विशुद्ध सैनिक दृष्टिकोण से यह राय दे सकते हैं कि मंत्रिमंडल को क्या करना चाहिए—युद्ध, नीति का साधन है। इसलिए यह जरुरी है कि अपना एक स्वरूप होना चाहिए वह उसी तराजू में तौला जाना चाहिए। अतः अपने विशिष्ट लक्षणों सहित युद्ध का संचालन स्वयं नीति ही है जो कलम के स्थान पर तलवार उठाती है लेकिन सिर्फ इसी कारण से वह अपने नियमों के अनुसार सोचना बंद नहीं कर देती है।

क्लाजविट्ज के लेखन की विशेषता युद्ध स्त्रातजी और विदेश नीति के आपसी संबंध—वास्तव में आपसी बंधन--की उसकी सूक्ष्म अनुभूति में निहित है। सैनिक कार्यवाही पर राजनीतिक उद्देश्य के प्रभुत्व के संबंध में उसका

आग्रह उसके इस विश्वास को बल प्रदान करता है कि नीति को सक्रिया पर नियंत्रण करना चाहिए, इसका उलटा नहीं होना चाहिए जैसा कि अक्सर होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि क्लाजविट्ज की इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि उसने युद्ध को एक अमूर्त आदर्श के रूप में स्थापित किया जहां उग्रतम हिंसा को उच्च सिद्धान्त के रूप में प्रशंस्य माना जाता है। उदाहरण के लिए उसने एक स्थान पर लिखा है कि "एक युद्धरत की सबसे खराब स्थिति वह मानी जा सकती है जब उसके सब हथियार ले लिए जाएं। इसलिए यदि किसी सेना को अधीनता स्वीकार करने की स्थिति में लाना हो तो या तो उसे निश्चित रूप से हथियार रहित कर दिया जाए या उसे किसी ऐसी स्थिति में रखा जाए कि उसे इसका खतरा हो। इससे यह स्पष्ट है कि हमेशा ही युद्ध का उद्देश्य शत्रु को पूर्णत : हथियार रहित करना या नष्ट-भ्रष्ट करना होना चाहिए।" इसके अतिरिक्त "केवल बड़ी और व्यापक लड़ाइयों के ही बड़े परिणाम हो सकते हैं। और ऐसा कोई जनरल नहीं हुआ जिसने बिना रक्त-पात के विजय प्राप्त की हों" और अन्य बातें समान होने पर हमारा जितना अधिक उद्देश्य शत्रु की शक्ति को नष्ट करना होगा उतनी अधिक हमारी अपनी सैन्य शक्ति बरबाद होनी चाहिए जैसी अहंकारपूर्ण परम्परागत उक्तियों के प्रतिपादन से ऐसा विश्वास होता है कि क्लाजविट्ज ने सैनिक-वाद के नग्न रूप का प्रतिपादन किया। क्लाजविट्स के सिद्धांतों, जिनका यूरोप की सैनिक विचारधारा पर बहुत प्रभाव था, के प्रयोग से प्रथम विश्वयुद्ध में बिना किसी सफलता के हताहतों की संख्या बहुत अधिक थी। उस समय जनरलों ने नवप्रवर्तित सामरिकी के स्थान पर लड़ाइयों के द्वारा विजय के सपने देखे थे।

लेकिन क्लाजविट्ज के पक्षधर यह कहते हैं कि शायद उसने 20वीं शताब्दी में शस्त्र टैक्नालाजी के क्षेत्र में हुए अत्यधिक सुधार का पूर्वानुमान नहीं किया होगा। इसने आधुनिक युद्ध की विनाशकारी शक्ति को काफी बढ़ा दिया था जिसका क्लाजविट्ज को अंदाजा नहीं होगा क्योंकि उसने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए नेपोलियन के युद्धों को ही देखा था। क्वाजविट्ज को इस कारण भी भुगतना पड़ा क्योंकि उसकी अनेक पुस्तकों को अक्सर रण कौशल के विशेष सिद्धान्त के संदर्भ और चयनशीलता के बिना उद्धरित किया जाता रहा। इसके अतिरिक्त 1930 में क्लाजविट्ज की अचानक मृत्यु के कारण 'आन वार' नामक पुस्तक पूरी नहीं हो सकी। परिणामस्वरूप उसके पक्षधर ऐसा मानते है कि यदि क्लाजविट्ज

को अपनी पुस्तकों को संशोधित करने का अवसर मिलता तो वह अपने विचारों को सीमित या स्पष्ट कर सकता था।

लेकिन इस विवाद में हमें नहीं पड़ना चाहिए। यहां विचाराधीन विषय के लिए यह अधिक संगत है कि हम क्लाजविट्ज़ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का मूल्यांकन करें कि युद्ध अन्य साधनों द्वारा नीति को चालू रखना ही है। आज विश्व के कम से कम पांच देशों के पास परमाणु हथियार उपलब्ध होने की स्थिति में इस अभ्युक्ति को विशेष रूप से संदिग्ध माना जा सकता है। परमाणु हथियारों की अत्यधिक विनाशकारी शक्ति और परमाणु युद्ध में रत देशों के आपसी अवश्यंभावी संहार को ध्यान में रखते हुए मनुष्य के इन पूर्ववर्ती विश्वासों पर प्रश्न चिह्न लग जाता है कि शक्ति प्रयोग या शक्ति प्रयोग की धमकी परमाणु रंगमंच पर नीति के उपकरण हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में क्या परमाणु हथियार युद्ध को असंभव नहीं तो दुःसंभाव्य बनाते हैं? इसलिए क्या यह प्रस्थापना कि युद्ध अन्य साधनों द्वारा राज्य की नीति को चालू रखना है, परमाणविक संदर्भ में अनावश्यक है? इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए उन सिद्धांतों पर चर्चा करना जरुरी है जो परमाणु रणनीति का समर्थन करते है।

शुरु में ही इस विचार को समाप्त करना जरूरी है कि केवल परमाणु हथियार ही आयुधों का अधिक विनाशकारी रूप हैं। युद्ध के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम नहीं है जब युद्ध क्षेत्र में या सिविलियन जनसंख्या पर हुई विनाश लीला, हिरोशिमा और नागासकी पर गिराए गए परमाणु बम से हुए विनाश के बराबर है। परमाणु और परंपरागत शस्त्रों के बीच अन्तर को इस प्रकार वर्णित किया गया है। "परमाणु हथियार अन्ततः कितने व्यक्तियों को मार सकते हैं, महत्व इस बात का नहीं है बल्कि इस बात का है कि यह विनाश कितनी तेजी से किया जा सकता है। इनका अन्तर केन्द्रीय निर्णय युद्ध को राजनीतिक प्रक्रियाओं से अलग कर देने में और कम्प्यूटर कार्यक्रम, जिसके कारण एक बार युद्ध शुरू हो जाने पर उसे मानव के हाथों से छीन लेने का खतरा पैदा हो गया है—में निहित है। परमाणु हथियारों ने विजय प्राप्त करने से पहले शत्रु का भयंकर विनाश करना संभव कर दिया है। परमाणु हथियार न केवल युद्ध जीतने से पहले शत्रु को नुकसान पहुंचा सकते हैं और शायद इतने निर्णयात्मक ढंग से नुकसान पहुंचा सकते है कि सैनिक मुठभेड़ को सैद्धांतिक बना दे अपितु व्यापक रूप से यह माना गया है कि बड़े

युद्धों में ये इतना ही कर सकते हैं। परमाणु हथियार गुणात्मक दृष्टि से भिन्न होते हैं। परिणामस्वरूप परमाणु हथियारों के प्रचलन से युद्ध-पद्धति में एक युगारंभ हुआ।

सैद्धान्तिक रूप से परमाणु हथियार भयोपरति के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उचित माने गए हैं। सबसे सरल रूप में व्याख्या करने पर परमाणविक भयोपरति का सिद्धान्त इस तर्क पर आधारित है कि एक देश द्वारा परमाणु हथियारों से आक्रमण करना, बचाव करने वाले देश द्वारा प्रतिशोध को बुलावा देना है। जवाबी हमले के भय के कारण सावधानी बरतनी पड़ती है और सुनिश्चित विनाश का विश्वास आक्रमण को रोकता है। दूसरे शब्दों में आवासीय केन्द्र और उद्योग बंधक है और वे परमाणविक प्रतिबंदियों पर परमाणु युद्ध शुरु करने से रोक लगाते हैं।

भयोपरति की संकल्पना नई नहीं है। उदाहरण के लिए प्रादेशिक सुरक्षा व्यवस्था वह पूर्णतया मान्यता प्राप्त व्यवस्था है जिसके द्वारा संधि करने वाले राज्यों की प्रादेशिक प्रभुसत्ता की रक्षा पूरे ब्लाक द्वारा प्रतिकार किए जाने की निवारक धमकी से की जाती है। परमाणविक भयोपरति परंपरागत भयोपरति के रूपों से दो प्रकार से भिन्न है। सर्व प्रथम इसका कोई विश्वास नहीं है कि परमाणु-आक्रमण के विरुद्ध कोई प्रभावी सुरक्षा संभव है। अतीत में हुए प्रौद्योगिकी विकासों ने विभिन्न निश्चित कालावधियों में रक्षात्मक या आक्रामक शस्त्रास्त्रों को बढ़ावा दिया। लेकिन परमाणु हथियारों के आगमन से यह स्थिति पूर्णतः बदल गई क्योंकि न्यूक्लीय मिसाइलों के विरुद्ध किसी दोषरहित सुरक्षा की कल्पना करना भी कठिन है। संगत समस्याएं प्रौद्योगिकीय होने के साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक भी हैं। उड़ान के लिए बहुत कम समय की आवश्यकता होने के कारण किसी भी सुरक्षात्मक प्रणाली में, जो मार्ग में शत्रु के मिसाइल का पता लगाती है, इस बात की गुंजाइश नहीं होती कि वह उसे नष्ट करने के लिए मानवीय सोच-विचार और निर्णय करने का समय दे। पर्याप्त अंतर्निर्मित सूक्ष्मग्राहिता से युक्त कोई भी प्रणाली, जो किसी वास्तविक आक्रमण के प्रति तुरंत सक्रिय हो जाती है, इतनी सूक्ष्मग्राही तो अवश्य होती है कि असत्य खतरों या शत्रु द्वारा जानबूझ कर किए गए छल से भी संवेदित हो जाए। यह छल, तकनीकी दृष्टि से संभव है और भयोपरति की स्थितियों में युद्ध का खतरा उत्पन्न कर देता है।

दूसरे, परमाणविक और परंपरागत भयोपरति के बीच अन्तर के संबंध में इस प्रकार के आयुधों की व्यावहारिक उपयोगिता के मूल्यांकन की आवश्यकता है। यदि पक्के तौर पर नहीं तो इस बात की पूरी–पूरी संभावना है कि संघर्ष में परंपरागत शस्त्र उपयोगी होंगे। दूसरी और परमाणु हथियार उपयोग के लिए नहीं बल्कि भयोपरति के लिए हैं और उनका उद्देश्य संघर्ष की स्थिति में शत्रुपक्ष द्वारा परमाणु हथियारों के प्रयोग को रोकना है। इस अर्थ में परमाणु हथियार संभाव्य और अवशिष्ट शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो परंपरागत शस्त्रास्त्रों की तुलना में अधिक समवेक्षक रूप से भयोपरति के माध्यम से सुरक्षा के उद्देश्यों को पूरा करते हैं।

परमाणु–भयोपरति की दोहरी विशेषता अर्थात् परमाणु आक्रमण के विरुद्ध प्रभावी सुरक्षा का न होना और इन्हें मुख्यतः अवशिष्ट शक्ति के रूप में माना जाना एक प्रमुख विरोधाभास को उभारते हैं। यदि शत्रु उत्तेजित करने वाली कार्यवाही करे तो उसे ताप–परमाणु प्रतिकार की धमकी देकर परमाणु भयोपरति कार्य करता है और इसी में विरोधाभास निहित है। मौजूदा नीति यही होने के कारण इस पर बल देना न ईमानदारी है न ही उचित कि "शांति का कोई विकल्प नहीं है।" "तार्किक दृष्टि से इस प्रकार के सूत्र का अर्थ है आत्मसमर्पण। यदि युद्ध 'असंभव' है तब कोई भी युद्ध के साथ संभावित आक्रमण की धमकी कैसे दे सकता है? अतः युद्ध कौशल सिद्धान्त में अगला विषय यह होना चाहिए कि यदि परमाणु भयोपरति को प्रभावी बनाता है तो परमाणु आक्रमण संभव होना चाहिए। यह विश्वसनीयता दो स्तर पर होनी चाहिए। प्रथम, शत्रुपक्षों के संबध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए और यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि अचानक पहले हमले से होने वाली क्षति को पूरा करने के बाद विनाशकारी प्रत्याक्रमण के लिए तकनीकी योग्यता हमेशा ही उपलब्ध होगी। दूसरे शब्दों में विपक्षी को इस बात से अवगत करा देना चाहिए कि उसका परमाणु–आक्रमण, जवाबी हमला करने वाली सैन्य शक्ति, जो कि प्रतिकार के लिए बची रहेगी, का कोई महत्वपूर्ण अंश नष्ट नहीं कर सकेगा। दूसरे शत्रु पक्ष को यह समझ लेना चाहिए कि बचाव पक्ष के पास जवाबी हमले के प्रत्याक्रमण के लिए राजनीतिक इच्छा शक्ति और निश्चय है चाहे पहले हमले से कितना ही विनाश क्यों न हुआ हो या आगे परमाणु आक्रमण या प्रत्याक्रमण होने की संभावना हो।

पूर्वोल्लिखित दलील परमाणु भयोपरति के पश्चिमी प्रतिमान पर आधारित है। लेकिन फिर भी ऐसे बहुत से निराशावादी हैं जो यह मानते हैं कि परमाणु युद्ध अब भी संभव है और चार प्रकार के युद्ध मान्य हैं (1) अविचारित युद्ध, (2) मिथ्या अनुमान के परिणामस्वरुप छेड़ा गया युद्ध, (3) सुविचारित युद्ध और (4) उत्प्रेरक युद्ध। परमाणु हथियार प्रणालियों की नवीनता के कारण इस बात की और अधिक संभावना है कि परमाणु युद्ध किसी आकस्मिक ढंग से शुरु हो जाए। उदाहरण के लिए युद्ध संबंधी साहित्य में राष्ट्रीय नेतृत्व के मनोवैज्ञानिक दबाव के वशीभूत होकर परमाणवीय संकट में पड़ने और किसी प्रकार के विवेकहीन आचरण करने, जिससे कि परमाणु युद्ध आरम्भ हो सकता है, के खतरों के बारे में काफी लिखा गया है।

यह स्पष्ट हो जाएगा कि परमाणु हथियार मुख्यतः भयोपरतीय आक्रमण के उद्देश्य को पूरा करता है। लेकिन भयोपरति मूलतः नकारात्मक संकल्पना है। क्या परमाणु हथियार शक्तियों के विदेशी नीति के हितों को बढ़ाने के किसी सकारात्मक उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं? ऐसा समझा जाता है कि सुरक्षा के अतिरिक्त परमाणु हथियार इन देशों को गौरव प्रदान करते हैं। शायद यह कोई संयोग नहीं है कि सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्य परमाणु शस्त्र सम्पन्न शक्तियां भी हैं। यह भी दलील दी जाती है कि संयुक्त राज्य अमेरिका को 20 वीं शताब्दी के छठे दशक के अंत तक जो स्त्रातेजिक श्रेष्ठता प्राप्त थी और उसका ऐसे संकटों की उत्पत्ति, उसे बनाए रखने तथा उसके उपशमन में महत्वपूर्ण और असंदिग्ध प्रभाव था जैसा कि ईरान में (1946), बर्लिन पर (1948–1949) और बर्लिन पर ही (1958–62) में या क्यूबा पर (1962) में, कोरियाई युद्ध (1952), ताइवान जल डमरुमध्य संकट (1955–56) और कुमायु संकट (1958) के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका चीन के विरुद्ध परमाणविक धमकी देता रहा। इस बात के प्रमाण हैं कि उसारी सीमा झड़पों के दौरान (1969) में रुस ने भी चीन के विरुद्ध एक प्रकार का परमाणविक भय बनाए रखा। परमाणु हथियार सम्पन्न शक्तियों द्वारा शक्ति प्रयोग को धमकी के इन सभी उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए परमाणु हथियार वस्तुतः परमाणु युद्ध में प्रयुक्त न किए जाने के बावजूद अवपीड़क कूटनीति में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

ऊपर दी गई दलील के बावजूद अनेक विद्वानों की यह राय है कि विदेश नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए परमाणु हथियारों का उपयोग नहीं किया जा सकता । चूंकि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा परमाणु हथियारों के उपयोग कार्य पर बदनामी की जाती है, अतः ऐसे हथियारों से सम्पन्न राष्ट्र वास्तव में उनका उपयोग करने से कतराएंगे चाहे उन्हें कितना ही उत्तेजित क्यों न किया जाए । अतः उनके उपयोग न करने की स्थिति "नैतिक भयोपरति" के रूप में मान्य है, क्योंकि इस संबंध में विश्व के सभी राष्ट्रों की राय मुखर और सुस्पष्ट है ।

मोटे तौर पर यह दलील भी दी जाती है कि राजनैतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन के रूप में युद्ध और शक्ति का प्रयोग अब पुराना पड़ता जा रहा है । "यह राष्ट्रीय स्तर पर बड़े पैमाने के शक्ति प्रयोग के लिए आवश्यक सामाजिक संगठन और" आधुनिक हथियारों की टैक्नोलाजी के कारण हुआ है । शक्ति प्रयोग के अप्रचलन में सहायक विभिन्न कारकों का उल्लेख और उनकी क्रमवार चर्चा की जा रही है :—

(क) परमाणु हथियारों के प्रचलन ने परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों या उनके मित्र राष्ट्रों के बीच युद्ध की संभावनाओं को कम कर दिया है जब कि परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध परमाणविक धमकियों में कमी के द्वारा यह तर्क पुराना पड़ चुका है । इसके साथ ही भूतकाल में जितने अवसरों पर ऐसी धमकियां वास्तव में दी गई हैं उनकी संख्या के कारण इसमें विश्वास नहीं किया जा सकता । काफी पहले 1973 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अरब-इज़रायल झगड़ों के दौरान अरबों की सहायता के लिए सैनिकों को विमान द्वारा ले जाने से रूस को भयोपरत करने के लिए परमाणु युद्ध की चेतावनी दी थी ।

(ख) विश्व शक्तियों की दिध्रुवीय संरचना और संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रुस के मध्य सामरिक तुल्यता से उनकी विरोधी महा-शक्तियों के प्रभाव-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने में बाधा पड़ती है । यह अभिकथन केवल आंशिक रूप से सत्य है । महा-शक्तियां एक दूसरे के महत्वपूर्ण हितों को मान्यता देती हैं और विषमता की स्थितियों में सीधे मुकाबले का जोखिम नहीं उठाना चाहती हैं । इस प्रकार परमाणु युद्ध के मय ने संयुक्त राज्य को पूर्वी यूरोप में हस्तक्षेप करने से और रूस को पश्चिमी यूरोप को धमकी देने से रोक लिया । लेकिन यह काफी स्पष्ट हो जाएगा कि महा-शक्तियों का संबंध

जिनमें सहयोग और प्रतियोगिता दोनों के तत्व मौजूद हैं, विकासशील देशों में प्रतिस्पर्धा की स्थिति को उजागर करता है। मध्य-पूर्व, दक्षिण–पूर्वी एशिया और विशेष रूप से अफ्रीका में महाशक्तियां एक दूसरे से टकराती हैं। यह भी व्यापक रूप से मान्य है कि महाशक्तियां दक्षिणी अफ्रीका, हार्न आफ अफ्रीका, और जैसा कि हाल की घटनाएं प्रमाणित करती हैं, दक्षिण और दक्षिण–पूर्वी एशिया में परोक्षी युद्ध लड़ रही हैं। यह प्रतिस्पर्धा संघर्ष बढ़ जाने के स्पष्ट खतरों के बावजूद बनी हुई है।

(ग) वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप की असफलता का ज्वलंत उदाहरण शक्ति की प्रभावहीनता को दर्शाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। गुरिल्लाओं के साथ भिड़न्तों के दौरान हस्तक्षेप करने वाली शक्ति को स्थानीय लोगों के हृदय और मन को जीतना वस्तुतः असंभव प्रतीत होता है क्योंकि उनकी स्वाभाविक सहानुभूति राष्ट्रवादी सेनाओं के साथ होती हैं। इसके द्वारा मौजूदा समय में हस्तक्षेप या विजय का सैनिक, राजनीतिक और नैतिक मूल्य बढ़ गया है।

इसके साथ ही इस ढंग से विजित या नियंत्रित क्षेत्रों का पारंपरिक महत्व एकदम कम हो गया है। दूसरे की भूमि पर कब्जा करने के महत्व में कमी को स्पष्ट करने के लिए आर्थिक तक प्रस्तुत किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के प्रबंध के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को सबसे अधिक प्रभावी तरीका माना गया है, अतः राष्ट्र विभिन्नप्रकार की कच्ची सामग्री या औद्योगिक सामग्री का उत्पादन परस्पर विनिमय के लिए करते हैं। यह औपनिवेशिक कब्जे के महत्व को कम कर देता है जिसे कि राजनीतिक शब्दों में कब्जे में बनाए रखना एक प्रकार से महंगा है। यह भी अनुभव किया गया है कि "विदेशी जमीन और लोगों पर जबरदस्ती कब्जा सैनिक दृष्टि से कम महत्व का है क्योंकि एक तो भविष्य में जिस प्रकार के युद्ध होने की संभावना है उसमें मानव शक्ति, यदि अनिश्चित नहीं तो गौण होगी और दूसरे क्योंकि आधुनिक टैक्नालाजी और विशेषरूप से सैनिक टैक्नालाजी में कुछ प्रकार के युद्धों के लिए विदेशी अड्डों का महत्व कम हो गया है हालांकि पूरा समाप्त नहीं हुआ है।"

काफी हद तक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पश्चिमी देशों के लिए अत्यावश्यक आयात के रूप में तेल के बढ़ते हुए महत्व के कारण ऐसा अनुभव होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कई बार धमकियां दी हैं कि

एक और तेल व्यापार अवरोध के लागू किए जाने का प्रतिरोध, आक्रमण द्वारा और खाड़ी के तेल क्षेत्रों पर कब्जा करके किया जाएगा। मूल विषय से न हटते हुए संक्षेप में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि तब से पश्चिमी देशों द्वारा यह नीति अपनाई गई कि खाड़ी के देशों को पश्चिमी राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक प्रणाली में सुलझा लिया जाए। खाड़ी के देशों को सैनिक और औद्योगिक वस्तुएं निर्यात करके इस उद्देश्य को विशेष रूप से पूरा कर लिया गया जिसके कारण पैट्रो डालर बैंक-जमा, व्यापार निवेश, वास्तविक संपदा खरीद आदि के माध्यम से पुनः पश्चिमी आर्थिक प्रणाली में वापस आ जाते हैं। इसलिए, वस्तुतः खाड़ी के देश पश्चिमी ब्लाक में सहयोजित किए जा रहे हैं जिसके कारण क्षेत्र संबंधी महत्वाकांक्षाएं अनावश्यक हो गई हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि "सैनिक कार्यवाही के अप्रचलन के सिद्धान्त की मुख्य कमी इसके कारण नहीं है कि युद्ध की उपयोगिता कम हो गई है बल्कि इसका कारण यह है कि यह सिद्धांत यौद्धिक जैसी सैनिक शक्ति की व्यापक और विविध भूमिका का मूल्यांकन करने में असफल रहा है। कई प्रकार से यह भूमिका गत वर्षों की तुलना में, जब युद्ध कम खतरनाक था, अधिक व्यापक हो गई है। अभूतपूर्व विस्तार निर्णयात्मकता और मौजूदा सेनाओं और विकासमान सेनाओं के मनोवैज्ञानिक प्रभाव ने यौद्धिक जैसी सैनिक शक्ति की उपयोगिता को बहुत बढ़ा दिया है। इस प्रकार यद्ध जैसी स्थिति के अधीन राष्ट्रीय संकल्प और शक्ति के परीक्षण के लिए संघर्ष और संकट अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख रूप बन गए है। युद्ध जैसी स्थिति और युद्ध के कगार पर अवपीड़न की कला, कभी भी इतनी उत्कृष्ट रूप से विकसित नहीं हुई या जानबूझ कर लागू नहीं की गई। उत्पीड़न की कूटनीति के इन अन्य साधनों के प्रति अब हमें ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उत्पीड़न की कूटनीति से हमारा अभिप्राय विदेशी साधन के रूप में बल का प्रयोग करना है जो समझाने-बुझाने के अन्य रूपों से भिन्न है।

सीमित युद्ध :— यह संभव है कि युद्ध निश्चित उद्देश्यों के लिए लड़े जाएं जिसका अर्थ है वे झगड़े जो या तो भौगोलिक युद्ध क्षेत्र या इस्तेमाल किए जाने वाले शस्त्रों के संदर्भ में सीमित हों। 1954-56 का क्रीमियन युद्ध और 1904-05 का रूस-जापान युद्ध इसके उदाहरण हैं, जहां प्रमुख विरोधी शक्तियों ने उन क्षेत्रों में युद्ध लड़ा जहां उनके लिए सीमित सैन्य बल लाना ही संभव था हालांकि कुछ पुस्तकों में विभिन्न प्रकार के सीमित परमाणु युद्धों की चर्चा

की गई है। परन्तु संघर्ष क्षेत्र बढ़ नहीं जाएगा और इस्तेमाल किए जाने वाले शस्त्रों को नियंत्रण में रखा जा सकेगा—इसकी संभावना पर विचार करने में हमेशा ही कठिनाई रही है।

सीमित युद्ध में बल-प्रयोग का उद्देश्य उसके स्तर को धीरे धीरे बदलना है और संघर्ष को सामान्य युद्ध पर बढ़ाने के स्थान पर समझौते के आधार पर शांति से राजनैतिक उद्देश्य पूरा करना है। राजनीतिक कार्य के रूप में सीमित युद्ध कोई सैनिक समाधान प्रस्तुत नहीं करता। विवश होकर राजनीतिक नेताओं को उस रूपरेखा की व्याख्या करनी पड़ी जिसके अन्तर्गत सेना को अपनी कार्यवाही की योजना बनानी पड़े। यदि विरोधी पक्ष को यह महसूस होने लगता कि उसके महत्वपूर्ण हित खतरे में हैं तो उसके पूरे युद्ध पर उतर आने की पूरी संभावना रहती है। अतः चुनौती उन्हीं स्तरों पर होनी चाहिए जहां इस प्रकार की जानकारी की संभावना न हो। सीमित युद्ध की नीति के लिए तीन शर्तें आवश्यक समझी जाती हैं यथा "संपूर्ण युद्ध की धमकी के अतिरिक्त दबाव डालने की क्षमता, ऐसा वातावरण बनाए रखने की क्षमता जिसमें यह महसूस न हो कि प्रत्येक विवाद में अस्तित्व खतरे में है और राष्ट्रीय अस्तित्व खतरे में है या नहीं—ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर जनमत पर नियंत्रण बनाए रखने की क्षमता" जबकि सीमित परंपरागत युद्ध की स्थिति में पहली शर्त ही लागू होती है लेकिन सीमित परमाणु युद्ध में तीनो शर्तें सक्रिय रहती है।

छापामार युद्ध:—इसे अनियमित युद्ध भी कहा जाता है और इस प्रकार के संघर्ष 20वीं शताब्दी में बहुत तेजी से बढ़े हैं। छापामार युद्ध तकनीक में अपने से बड़ी शक्तियों का सामना होने पर नुकसान को कम करने के लिए पीछे हट कर युद्ध से बचने का प्रयत्न किया जाता है। बहरहाल युद्ध में शत्रु-सेनाओं को लगातार तंग किया जाता है। हालांकि छापामार युद्ध को परंपरागत रूप से कमजोर और बचाव सेनाओं का हथियार माना जाता है लेकिन अब इसने आक्रामक रूप भी प्राप्त कर लिया है। वास्तव में ऐसा माना जाता है कि शक्ति प्राप्त करने के लिए इस प्रकार का युद्ध आवश्यक है; अंतिम बिजय तो परंपरागत सैन्य बल द्वारा प्राप्त होती है। जैसा कि ग्वेवारा का कथन है कि छापामार युद्ध एक ऐसा चरण है जो स्वयं संपूर्ण विजय के लिए अवसर प्रदान नहीं करता है। यह युद्ध–पद्धति के प्रारंभिक चरणों में से एक है और यह तब तक विकसित होती रहेगी

जब तक कि छापामार सेना अपने क्रमिक विकास में नियमित सेना की विशेषताएं प्राप्त नहीं कर लेती। उस समय वह शत्रु पर अंतिम प्रहार करने और विजय प्राप्त करने के लिए सक्षम हो जाएगी।"

आमतौर पर असंतुष्ट वर्ग की विद्रोही कार्रवाइयां किसी राज्य की सुस्थापित राजनीतिक सत्ता के लिए एक चुनौती होती हैं। असंतुष्ट वर्ग को प्रायः विदेशी समर्थन प्राप्त होता है क्योंकि बाहरी शक्तियों को राजनीतिक या सैनिक साधनों द्वारा इस प्रकार के समर्थन के माध्यम से हस्तक्षेप करने के अवसर मिलते हैं। हस्तक्षेप करने वाली शक्तियों के साथ सीधे मुकाबले का खतरा हमेशा ही बना रहता है लेकिन निश्चित रूप से कम-खर्चीले साहसिक कार्य द्वारा राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए खतरा उठाया जाता है। परिणाम-स्वरूप विदेशी नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए छापामार कार्यवाही में सहायता देने को तरजीह दी जाती है जैसा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में चीनियों द्वारा विद्रोही वर्गों को या रूस द्वारा अफ्रीका में ऐसी गतिविधियों को सहायता दिए जाने वाले विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट है।

ध्वंसक कार्य—छापामार गतिविधियों को बाहरी सहायता और ध्वंसक कार्यवाही में अंतर किया जा सकता है हालांकि यह अन्तर बहुत सूक्ष्म हो सकता है। ध्वंसक कार्यों में एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के आंतरिक मामलों में सैन्य बल द्वारा प्रच्छन्न हस्तक्षेप किया जाता है। इसका उद्देश्य व्यवस्था भंग राज्य पर हस्तक्षेप करने वाले राज्य का राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करना होता है। एक स्तर पर ध्वंसक कार्यवाही राज्यों के बीच स्वाभाविक संबंधों में यथा—आवधिक पत्रिकाओं, अध्यापकों और राजनीतिज्ञों के आदान-प्रदान में बाधा उत्पन्न कर सकती है। दूसरे स्तर पर ध्वंसक कार्यों में सीमा पर हमले, सिविल प्रदर्शनों को समर्थन देना और असंतुष्ट तत्वों द्वारा राज्य के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष करना शामिल है।

तीन प्रकार के मामले मान्य हैं—जो ध्वंसक कार्यों का क्षेत्र निर्धारण करते हैं। प्रथम, सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली देश अपनी विदेशी नीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ध्वंसक कार्यवाही का भी उपयोग कर सकता है। इस प्रकार वे महाशक्तियां जो, विकासशील देशों को सहायता प्रदान करती हैं, समय-समय पर असंतुष्ट वर्गों को सत्ता हथियाने के लिए मदद देती हैं। दूसरा, कोई राष्ट्र सैनिक दृष्टि से मजबूत हो सकता है लेकिन फिर भी ध्वंसक कार्यों की दृष्टि से कम क्षमता वाला है। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि मुक्त

समाज को अपने ही संभ्रांत वर्गों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया के कारण इस प्रकार के ध्वंसक कार्य करना अधिक कठिन प्रतीत होता है। तीसरे प्रकार के वे मामले हैं जहां राष्ट्र यदि शक्ति के परंपरागत पैमाने से मापे जाएं तो कमजोर हो सकते हैं लेकिन ध्वंसक कार्यों के लिए उनमें विशेष क्षमता होती है। ऐसे राष्ट्रों का आकर्षण आमतौर पर उनकी विचारधारा होती है जिसके समर्थन अन्य देशों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। क्यूबा इस प्रकार के राष्ट्र का उत्कृष्ट उदाहरण है।

ऐसे अनेक राज्यों के, जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं और जिन्हें अभी अपनी आंतरिक संसक्ति तथा प्रशासनिक परंपराएं विकसित करनी हैं, अंतर्राष्ट्रीय मंच पर आ जाने के कारण ध्वंसक कार्यों के लिए उपयुक्त वातावरण बन गया है। इन कारणों से ऐसे देशों में ध्वंसक कार्य किए जा सकते हैं। इन देशों की परिस्थितियां ऐसी हैं जो बाहरी शक्तियों को अपने क्षेत्रीय या विश्वव्यापी विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु ध्वंसक कार्यों के लिए प्रेरित करती हैं। वास्तव में ध्वंसक कार्य राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कूटनीति भंडार में एक कम खर्चीला और कम खतरनाक कार्य है।

क्या आज के समय में सैन्यबल का प्रयोग समाप्त हो गया है —इस प्रश्न पर पुनः विचार करने पर यह तथ्य कि युद्ध, सीमित युद्ध, छापामार युद्ध और ध्वंसक कार्य अभी भी चालू हैं, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सैन्य बल की सतत संगतता को सिद्ध करता है।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 1945 के बाद यूरोप में इतने पैमाने पर शक्ति का प्रयोग नहीं हुआ है जितना कि दो विश्व-युद्धों में हुआ था। और न ही महाशक्तियां आपस में लड़ी हैं। लेकिन उनके प्रतिस्पर्धी संबंधों ने विश्व के अन्य भागों में संघर्षों को बढ़ावा दिया है।

विकासशील देशों में महाशक्तियों द्वारा हस्तक्षेप शायद संभव न होता बशर्ते कि वहां संघर्षात्मक स्थितियां मौजूद न होतीं। ऐसी स्थितियों के कई कारण हैं। उपनिवेशों को समाप्त करने के कारण भी उस समय की औपनिवेशिक शक्तियों के साथ संघर्ष हुआ है यथा वियतनाम से पहले ऐसा संघर्ष इन्डोनेशिया में हुआ था। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक अवधि के दौरान मन में जो विद्वेष छिपा था वह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उभर कर सामने आ गया। इथियोपिया और सोमालिया के बीच संघर्ष का उल्लेख

आंशिक रूप से इसी रूप में किया जा सकता हैं। छापामार आंदोलन यथा नागा बलूची विद्रोह और बर्मा के कई विप्लव उपराष्ट्रवादी प्रादेशिकता की शक्ति को दर्शाते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों के बीच ऐतिहासिक विद्वेष भी एक कारण रहा है जैसा कि ईरानी-अरब तनावों से स्पष्ट है। जातीय प्रतिस्पर्धाओं, विवादास्पद सरहदों, प्रादेशिक प्रभावों के लिए प्रतिस्पर्धा और इसी प्रकार के अन्य कारणों से ये तनाव बढ़ जाते हैं। विकासशील देशों में संघर्ष के विषय में यदि यह कहा जाए कि ये संघर्ष इतर–प्रादेशिक प्रतिस्पर्धाओं, अंतः प्रादेशिक प्रतिस्पर्धाओं और इन शक्तियों के विषम वर्गों की परस्पर क्रियाओं के कारण बढ़ते हैं तो यह विकासशील देशों में संघर्ष के कारणों का उचित मूल्यांकन होगा।

यदि युद्ध नहीं तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रयोग ही राष्ट्र की विदेशी नीति का एक साधन बना हुआ है। शक्ति प्रयोग की धमकी भी राष्ट्रों की कूटनीति का एक प्रभावशाली शस्त्र बना हुआ है। इसलिए यह संभव है कि राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में शक्ति प्रयोग का उपयोग होता रहेगा।

युद्ध तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि

— आर० वी० सिंह

सुसंगठित समाजों के उद्भव एवं विकास के उपरांत चाहे वे जनजातियों के रूप में हों या नगर-राज्यों, राष्ट्रों अथवा साम्राज्यों के रूप में, उनके मध्य पारस्परिक युद्ध होते रहे हैं। युद्ध उन अनेकानेक साधनों में अंतिम अस्त्र है, जिनके द्वारा इन संगठित समुदायों के बीच हुए संघर्षों का निपटारा किया जाता रहा है। पूर्वजों ने पारस्परिक प्रेम और सद्भाव बनाए रखने का पाठ पढ़ाया था लेकिन उसका अभाव आज मानव स्वभाव का एक अभिन्न अंग बन चुका है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्रत्येक में मान्यताएं समय-समय पर बदलती रही हैं। आदिकालीन समाज में सामुदायिक अखंडता एवं सुरक्षा को क्षति पहुंचाने वाली परिस्थितियों के दमन हेतु एवं प्रथागत प्रतिक्रिया के रूप में युद्ध को मान्यता दी गई। पुरातन काल में युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक न्यायसंगत अस्त्र माना गया। मध्यकालीन समाज में न्याय संपोषण के लिए युद्ध को एक अपरिहार्य साधन माना गया। आधुनिक समाज के प्रथम चरण में युद्ध का उपयोग प्रभुतासंपन्न शासकों के मध्य व्याप्त कलह के निराकरण की न्यायसंगत प्रक्रिया के रूप में किया गया। प्रथम विश्व युद्ध से पहले प्रभुतासंपन्न राष्ट्रों के सहअस्तित्व के लिए युद्ध अनिवार्य समझा गया तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय विधि में उल्लिखित सामान्य कन्वेंशनों के आधार पर युद्ध को राष्ट्र व्यवहार के एक अवैध विधान के रूप में माना गया है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी लक्ष्य को किसी भी तरह से प्राप्त करने के लिए अतीत काल से ही युद्ध होते रहे हैं। वर्तमान काल में जब कि युद्ध संसार में अस्तित्व को ही समाप्त कर सकता है, युद्ध की समस्या और अधिक जटिल बन गई है। अत्यंत भय एवं विनाश तथा अपरिमित आर्थिक दबाव के कारण एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अभाव में युद्ध एक स्थानिक व्याधि, एक अंतर्राष्ट्रीय अभिशाप और संभवतः पेशाचिक वृत्ति की चरम अभिव्यक्ति बन गया है, जिसे व्यापक रूप से नियंत्रित करने में मानव संस्कृति असफल रही है। आज मानव जाति इस बात के लिए विशेष रूप से चिन्तित है कि क्या सामाजिक जीवन

से युद्ध को हटाया जा सकता है और क्या चिरस्थायी शांति स्थापित की जा सकती है, अथवा क्या युद्ध के बादल हम सब के ऊपर छाए रहेंगे तथा क्या हमारे भविष्य की आशंका के साथ-साथ वर्तमान परिस्थितियों में पृथ्वी पर विद्यमान जीवन का अस्तित्व समाप्त होने का भय बना रहेगा ?

यद्यपि हमारी विचारधारा एवं भावना सदैव युद्ध के प्रतिकूल रही है, फिर भी इस ऐतिहासिक तथ्य को असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि युद्ध मानव जीवन की एक सामान्य दशा है । अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गत 5500 वर्षों के दौरान प्रति वर्ष तीन युद्ध के औसत से मानव जाति ने 14500 युद्ध किए हैं । विश्व की वर्तमान जनसंख्या से अधिक लगभग चालीस अरब व्यक्तियों का संहार हुआ । ऐसी मान्यता है कि मानव की 185 पीढ़ियों से मात्र दस पीढ़ियां युद्ध से अछूती रहीं हैं । बीसवीं शताब्दी में युद्ध समाप्त नहीं हुए बल्कि यदि सही बात कही जाए तो उनके अनुपात में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । दो विश्व युद्धों के भयंकर परिणाम तथा परमाणविक विध्वंस की सम्भावनाओं के उपरांत भी इतिहास के अन्य सामरिक कालों की भांति, 1945 के बाद निरंतर विभिन्न प्रकार के सीमित युद्ध होते रहे हैं । वर्तमान अनुभव भी इस भ्रांति को दूर कर देते हैं कि अंततोगत्वा सद्भाव बढ़ेगा और परस्पर विवादों के निराकरण हेतु मानव शक्ति का प्रयोग करना छोड़ देगा । विचार एवं क्रिया में कोई सामंजस्य नहीं हैं, देखना है कि भविष्य में क्या होता है ।

युद्ध वातावरण को समाप्त करने का प्रयत्न वर्तमान काल की सबसे बड़ी विशेषता है । सबसे पहली बात तो यह है कि ताप नाभिकीय निवारक की छाया डेमक्लस की तलवार की भांति मानव सभ्यता पर लटक रही है । आज यह बात नहीं रह गई है कि युद्ध और शांति में किसी का भी चयन कर लिया जाए । युद्ध के वरण से राष्ट्र का ही विध्वंस हो सकता है । दूसरे किसी भी युद्ध में अपरिमित खर्च होगा और युद्ध समग्र युद्ध होगा, क्योंकि युद्ध का प्रभाव युद्धरत राष्ट्र की जनसंख्या के एक बड़े भाग तथा उसके विभिन्न साधनों पर पड़ता है । तीसरे युद्ध के स्वभावतः एवं वर्तमान स्थिति में राष्ट्र-व्यवहार का एक अवैध कार्य जैसे जैसे युद्ध संबंधी विधिक जानकारी बढ़ती जाएगी वैसे वैसे राष्ट्र संभवतः युद्ध से दूर रहना चाहेगें । चौथे मनोवैज्ञानिक निश्चितता मानव मस्तिष्क की वैचारिक प्रवृत्ति है, जो चिरस्थायी शांति प्राप्त करने का प्रयत्न करती है । मानव स्वभाव से बुरा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत उसके मन में उत्तमता की प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा रहती है । इन सभी कारणों तथा विश्व जनमत से यह बात स्पष्ट

होती है कि विभिन्न राष्ट्र स्वाभाविक रूप से एक दूसरे के हितों का समर्थन क्यों करते हैं। इस संदर्भ में युद्ध समाप्ति के विधिक प्रयत्नों का अध्ययन प्रासंगिक होगा।

युद्ध समाप्ति के विधिक प्रयत्न

प्राचीन काल में युद्ध समाप्त तो नहीं किया जा सका लेकिन फिर भी युद्ध के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाए जाने के अनेकानेक संकेत प्राप्त होते हैं। भारत में धर्मयुद्ध की अवधारणा, चीन में युद्ध का एक वैध उपकरण के रूप में प्रयोग, बैबीलोनिया में स्वैच्छिक तथा अनिवार्य युद्ध में प्रचलित स्पष्ट अंतर, यूनान में वैध तथा न्यायपूर्ण कारण के लिए युद्ध तथा रोम साम्राज्य के विधि-सम्मत युद्ध, आदि इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन काल में युद्ध में अविवेक-पूर्ण नरसंहार को रोकने के लिए यथेष्ट प्रतिबंध लगाए गए थे। चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में विधिसम्मत युद्ध के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण रखने वाले तथा राजनैतिक एवं विधिक पक्ष के प्रति झुकाव के कारण युद्ध को जवाबी एवं निवारक रूप में प्राथमिकता देने वाले दो वर्गों का विकास हुआ। एक निश्चित एवं अपरिहार्य सीमा तक नरसंहार तथा विध्वंस किया जा सकता था।

1500 ई० से लेकर वेस्टफेलिया की संधि (1648) तक के समय के दौरान प्रभुतासंपन्न राष्ट्रों तथा शक्ति संतुलन की राजनीतिक प्रणाली का विकास हुआ। राजनीतिक, आर्थिक तथा औपनिवेशिक समस्याओं को लेकर इस काल में प्रभावशाली राजनीतिक इकाइयों के मध्य व्याप्त परस्पर संघर्ष ने इस में कियावेलियन अवधारणा कि 'आवश्यक युद्ध न्यायपूर्ण है' को जन्म दिया। इस काल में संभाव्यवाद का यह सिद्धांत पूर्ण रूप से प्रवृत रहा कि दोनों पक्षों की यह मान्यता है कि उनका युद्ध न्यायोचित है।

सन् 1648 ई० से लेकर 1815 ई० के मध्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्षवाद, संभाव्यवाद तथा शक्ति संतुलन युद्ध का आधार रहा। अकारण युद्ध करने की परंपरा समाप्त हो गई और अब अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में यह नितांत आवश्यक था कि युद्ध प्राकृतिक नियमों एवं नैतिकता के आधार पर न्याय संगत है। यह सिद्धांत बन गया था कि जब तक किसी पक्ष को घोर अनुताप न हो और उसकी क्षतिपूर्ति के लिए कतई मना न किया जाए तब तक युद्ध शुरू नहीं किया जा सकता था, फिर भी तात्कालीन कमियों का लाभ उठा कर प्रतिप्राप्ति एवं प्रतिरक्षा के लिए युद्ध किया जा सकता था।

1815 ई० से 1914 ई० के बीच विवादों के शांतिपूर्ण हल पर अधिक बल दिया गया तथा युद्ध करने के अधिकार को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न प्रारंभ हुए। पेरिस की संधि (1856 ई०) के माध्यम से इस तथ्य का समर्थन किया गया कि नैतिक या नीति के आधारों पर अथवा क्षतिपूर्ति हेतु न्यायसंगत साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग अनुचित है। युद्ध के फलस्वरूप हुए क्षेत्रीय परिवर्तनों को सामूहिक स्वीकृति द्वारा मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। पेरिस शांति सम्मेलन (1878 ई०) के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विवादों के नियमन हेतु एक कुशल कार्यप्रणाली की आवश्यकता पर जोर दिया गया। हेम कन्वेंशन (1899 ई०) में विवादों के शांतिपूर्ण समाधान तथा राष्ट्रों की युद्ध न करने की इच्छा को व्यक्त किया गया। हेग सम्मेलन (1907) में शांतिपूर्ण समाधान की उपयुक्त पद्धतियों तथा ऋण-संविदा हेतु युद्ध के अधिकार को प्रतिवाधित करने वाले नियमों का प्रतिपादन किया गया। प्रायन विवाचन संधि (1913) द्वारा यह अनिवार्य घोषित कर दिया गया कि संविधा से संबंध पक्ष स्थायी अंतर्राष्ट्रीय जांच आयोग के समक्ष अपने विवाद प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा युद्ध के संचालन का नियमन किया गया, फिर भी राष्ट्र युद्ध नीति का प्रयोग साधन के रूप में कर सकते थे। विपरीत अर्थ में इसका अभिप्राय यह था कि प्रत्यपकार आदि के लिए युद्ध को सीमित किया जाए। सिद्धांततः अंतर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध, प्रत्यपकार एक युक्ति मात्र था और इसका उद्देश्य उस राष्ट्र को विधि के अनुरूप करना तथा उसके अवैध आचरण द्वारा उत्पन्न क्षति की समुचित प्रतिपूर्ति करना था। प्रायः सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग राष्ट्र की सीमाओं में स्थित नागरिकों के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा के सीमित उद्देश्य से किया गया, फिर भी विधिवेत्ताओं ने स्वतंत्र राष्ट्र के राजनीतिक मामलों में बल प्रयोग द्वारा हस्तक्षेप की निंदा उसे अवैध करार दे कर की। व्यवहार रूप में शक्ति के प्रयोग पर आधारित इन प्रतिबंधों की प्रायः अवहेलना की गई।

प्रथम विश्वयुद्ध ने इस तथ्य को सुस्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रों को युद्ध करने के विषय में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। प्रथम विश्वयुद्ध में राष्ट्रों को प्रश्रय देने की नीति असफल रही तथा दुनिया के अनेक इलाके नष्ट हो गए। युद्ध को न्याय संगत ठहराए जाने के साथ साथ युद्ध अपराध की एक नई लहर दौड़ पड़ी। भविष्य में इस प्रकार की नृशंसता को रोकने के लिए यह वांछनीय समझा गया कि ऐसा अनुशासन कायम किया जाए जिसके अनुसार दंड

दिया जा सके । इस प्रकार उत्तरवर्ती काल में, युद्ध के अधिकार की समाप्ति तथा विजय करने के अधिकार को अमान्य ठहराने की दिशा में अनेकानेक प्रयत्न किए गए जो असफल रहे ।

प्रायः सभी को इस बात पर विश्वास हो गया कि प्रथम विश्वयुद्ध मात्र संयोगवश घटित हुआ था, क्योंकि यदि राष्ट्रों ने अपनी समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए एक संगोष्ठी का आयोजन किया होता तो उनके भ्रम दूर हो जाते तथा विश्व को युद्ध की विभीषिका से बचाया जा सकता था । राष्ट्र संघ की प्रसंविदा, एक इस प्रकार की संगोष्ठी का आयोजन करने के लिए तैयार की गई थी । अनुच्छेद 12 के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों ने इस बात पर अपनी इच्छा व्यक्त की कि यदि उनके मध्य कोई विलगाव उत्पन्न करने वाला विवाद उत्पन्न होता है, तो वे उस मामले को मध्यस्थ के समक्ष या परिषद् द्वारा जांच हेतु प्रस्तुत करेंगे तथा मध्यस्थ के परिनिर्णय अथवा न्यायिक निर्णय या परिषद की रिपोर्ट के उपरांत किसी भी स्थिति में तीन माह तक युद्ध नहीं करेंगे । ऐसा विश्वास किया गया कि तीन माह की इस शांति अवधि के दौरान अप्रत्याशित युद्ध स्थिति पैदा नहीं होगी । अनुच्छेद 11 के अनुसार युद्ध को विधिक दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा गया तथा अनुच्छेद 16 के माध्यम से अपराधियों को दंड देने की व्यवस्था की गई । अनुच्छेद 10 के अनुसार सभी राष्ट्रों की क्षेत्रीय अखंडता, सम्मान तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की गारंटी दी गई । अनुच्छेद 15 के अधीन विधिसम्मत एवं विधिविरुद्ध के अंतर को स्पष्ट किया गया । राष्ट्र संघ ने अनेक अवसरों पर युद्ध की भर्त्सना करते हुए प्रस्ताव पारित किए तथा युद्ध की निंदा की । इस प्रसंविदा के माध्यम से यद्यपि युद्ध पूर्णरूप से समाप्त तो न हो सका, फिर भी उसे कुछ सीमा तक नियंत्रित किया गया ।

जैनेवा संधि (1924) के अनुसार युद्ध को अवैध घोषित किया गया । इस प्रलेख के अनुसार आपस में युद्ध न करने की गारंटी दी गई तथा विवादों के शांतिपूर्ण हल पर बल दिया गया । लोकाना संधि (1925) के अनुच्छेद 2 तथा 3 के अनुसार समान निवेश करने पर बल दिया गया । 1925 तथा 1927 में हुई राष्ट्र संघ की महासभा के प्रस्ताव के अनुसार सदस्य राष्ट्रों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे सभी प्रकार के युद्धों को समाप्त करें तथा विवादों का शांतिपूर्ण हल निकालें । अमेरीकी राज्यों के छठे अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन (1928) के अनुसार युद्ध को मानव जाति के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध घोषित करते हुए शांतिवाद का समर्थन किया गया तथा राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध के प्रयोग की भर्त्सना की गई ।

इस बृहत् पृष्ठभूमि में किसोग-ब्रियान संधि या पेरिस की संधि या युद्ध के परित्याग हेतु व्यापक संधि का संपन्न होना कोई अप्रत्याशित घटना नहीं थी। 63 राष्ट्रों द्वारा समर्थित एवं आज भी लागू इस संधि के अनुच्छेद 1 के अनुसार राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग स्पष्ट रूप से वर्जित है। इस संधि के प्रमुख पक्ष अपनी अपनी जनता के नाम पर विधिवत् घोषणा करते हैं कि वे विवादों के समाधान हेतु युद्ध करने की निंदा करते हैं, तथा आपस में राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग करते हैं। अनुच्छेद 2 के अंतर्गत हस्ताक्षर करने वाले पक्ष इस बात पर भी सहमत हुए कि उनके मध्य उत्पन्न सभी प्रकार के वाद-विवादों का निपटान केवल शांतिपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए। इस संधि के अनुसार इस तर्क का भी खंडन किया गया कि आत्मरक्षा के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग किया जाए। यह प्रलेख अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के आभासी साधनों को व्यावहारिक बनाता है। विधिकता इस संधि का सबसे प्रभावशाली पक्ष है जिसके माध्यम से युद्ध का परित्याग किया जाता है। यह संधि स्टिमसन-मत का आधार थी। सैन्य अभियोगों से संबद्ध लंदन सम्मेलन एवं न्यूरबर्ग और टोकियो अभियोगों का न्यायिक आधार भी यही संधि थी। युद्ध विधिसम्मत नहीं है—इस संबंध में बाद में किए गए प्रयत्नों में इस संधि ने वस्तुतः एक महत्व-पूर्ण भूमिका निभाई है।

उत्तरवर्ती काल में चाको घोषणा (1932) के अनुसार बलात सम्मेलन को वैध मानने से इन्कार कर दिया गया। अनाक्रमण एवं सराधन की युद्ध विरोधी संधि (1933) के अनुसार युद्ध को अवैध घोषित किया गया (अनुच्छेद 1) और शांतिपूर्ण समझौते पर बल दिया गया (अनुच्छेद 2) तथा अपालन की स्थिति में शांति स्थापना के प्रयत्नों का उल्लेख किया गया था। बुहनोस एरीज में संपन्न शान्ति अनुरक्षण हेतु अंतरा अमेरिकी सम्मेलन (1936) तथा लिमा में सम्पन्न अमरीकी राज्यों के सातवें अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन (1938) एवं (1925–1939) के मध्य आयोजित अनेक द्विपक्षीय संधियों के माध्यम से इस दिशा में अनेकानेक प्रयत्न किए गए।

यदि 1928 से 1939 के मध्य की विधि विषयक सामग्री तथा राजनयिक पत्राचार का अवलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि लगभग सभी तत्कालीन सरकारें आत्मरक्षा के अतिरिक्त शक्ति के प्रयोग की अवैधता स्वीकार करती थीं। वास्तव में, बहुत से राष्ट्र अनेक अवसरों पर शक्ति के प्रयोग के संबंध में वचनबद्ध हो चुके थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने पर अनेक राष्ट्रों ने जर्मनी

तथा जापान के युद्ध को अवैध घोषित किया। सन् 1942 में जर्मनी तथा उसके सहयोगियों के विरुद्ध युद्ध अनेक राष्ट्रों ने जो युद्ध किया था उसे उन्होंने सामूहिक रक्षा के लिए और आक्रमण रोकने तथा व्यवस्था कायम करने के लिए युद्ध बताया। इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र की घोषणा (1 जनवरी 1942) की गई। अनेकानेक परस्पर संबद्ध अनुबंधों के अनुसार युद्ध के विरुद्ध इस आंदोलन को कार्यान्वित किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के परवर्ती चरण में आवश्यकतावश अनेक तटस्थ राष्ट्र धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र में सम्मिलित हो गए।

सन् 1922—1945 ई० के मध्य राष्ट्रों ने इस प्रथागत नियम का समुचित पालन किया कि राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में शक्ति का प्रयोग आत्मरक्षा के सिवाय अवैध है। इस नियम का उल्लंघन करने वाले कुछ राष्ट्रों ने यह कहा कि तथ्यों के आधार पर कोई अतिक्रमण नहीं हुआ है। कुछ अवसरों पर अनेक आक्रमणों के विषय में विधिक रूप से क्षमा-याचना भी की गई।

इन वर्षों के दौरान सिद्धांत रूप में, संधि के पालन स्वरूप या शक्ति के प्रयोग की प्रतिक्रिया के रूप में सामान्यतः अवैध शक्ति-प्रयोग की भर्त्सना की गई। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार युद्ध का अधिकार दिया गया है फिर भी उसका प्रयोग नहीं किया गया।

इन विधिक रुकावटों के होते हुए भी द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया जो हिंसा का एक अद्वितीय उदाहरण था। यूरोप के प्रमुख युद्ध अपराधियों के अभियोजन तथा दंड हेतु मास्को प्रख्यापन (30 अक्टूबर, 1943) के उपरांत 8 अगस्त, 1946 को लंदन में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस तथा अमेरिका ने एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए। इसी वर्ष 20 नवंबर से युद्ध अपराधियों के अभियोजन हेतु स्थापित अंतर्राष्ट्रीय सैन्य न्यायाधिकरण ने अपनी कार्यवाही आरंभ कर दी। न्यूरम्बर्ग के इस अंतर्राष्ट्रीय सैन्य न्यायाधिकरण के अनुच्छेद 6 में शांति के विरुद्ध अपराध की एक तीन हिस्से वाली परिभाषा दी गई है जो इस प्रकार है—युद्ध का आयोजन, तैयारी, उपक्रमण तथा युद्ध का संचालन, या अंतर्राष्ट्रीय संधियों, समझौतों या आश्वासनों के विरुद्ध युद्ध, या पूर्वोक्त निष्पत्ति हेतु किसी योजना में भाग लेना या दुरभिसंधि करना। जापानी युद्ध अपराधियों की टोकियो-स्थित अदालत में उपर्युक्त परिभाषा लागू की गई। इन अदालतों में शांति के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों पर अभियोग लगाया गया तथा उन्हे दंड दिया गया। टोकियों के अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य न्यायाधिकरण ने यह विचार व्यक्त किया कि युद्ध, तर्क एवं

सार्वभौमिक सद्असद विवेक की दृष्टि में सदैव एक अपराध रहा है, और है। व्यक्ति तथा राष्ट्र---दोनों ही इसके लिए आपराधिक रूप से उत्तरदायी ठहराए जा सकते हैं। न्यूरम्बर्ग के न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि युद्ध का उपक्रमण मात्र एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध नहीं वरन् यह एक सबसे बड़ा अंतर्राष्ट्रीय अपराध है। इसी कारण हेग कन्वेंशनों, बसाई की संधि, 1925 का लोकानों समझौता, तथा प्रमुख रूप से 1928 की पेरिस-संधि द्वारा निर्दिष्ट अंतर्राष्ट्रीय विधि को लागू किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रों के विधि के इतिहास में यह सबसे पहला प्रयत्न था। अंतर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने का परिणाम यह हुआ कि भविष्य में शांति भंग करने वालों पर रोक लगी और इससे विश्व में चिरस्थायी शांति स्थापित करने की पूरी संभावनाएं बनीं। यदि विश्व में इस धारणा का प्रसार हो जाए कि युद्ध सम्मान प्रदान करने के स्थान पर कैदियों के कटघरे में खड़ा कर देता है तो अधिक शांति स्थापित हो सकती है। इसके कारण शांति के एक सामान्य सिद्धांत की पुष्टि हुई कि आक्रामक युद्ध करने वाला व्यक्ति एक अपराधी है। इस आदर्श को स्वीकार करने के उपरांत ही शांति स्थापित की जा सकती है और विधि के अनुसार चला जा सकता है।

शांति हेतु संघर्ष, न्याय एवं विधि का संघर्ष है। यह एक चिरस्थायी संघर्ष है। वृद्धि योग्य सक्षम सक्रिय संस्थाओं की संख्या बढ़ा कर विधि एवं न्याय को विकसित तथा व्यावहारिक बनाया जा सकता है। मास्को-घोषणा (1943) के उपरांत 24 अक्तूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। परम्परागत मानक राज्यों के व्यवहार और विशेष रूप से किलोग ब्रियान्ड सन्धि पर आधारित हैं। राष्ट्रसघ के घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 2 (धारा-4) के अनुसार आत्मरक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है तथा शक्तिप्रयोग का भय दिखाया जा सकता है। अनुच्छेद 2 की भाषा इस प्रकार है, समस्त सदस्य अपने अंतर्राष्ट्रीय संबधों में किसी दूसरे राष्ट्र की क्षेत्रीय अखंडता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। अनुच्छेद-2 (धारा 4) का पालन करना होगा---इस सबंध में धारा-3 में यह कहा गया है कि सदस्य अपने विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करें। इसके अतिरिक्त घोषणा-पत्र के अध्याय 6 और विशेष रूप से अनुच्छेद-33 में भी यही बात कही गई है। चूंकि संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक सदस्य राज्य हैं अतः यह संभव है कि अनुच्छेद 2 के सिद्धांत के आधार पर सामान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि बनाई जाए। अनुच्छेद-2 तथा सामान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि में केवल तकनीकी अंतर है।

तथापि यदि अनुच्छेद-2 (4) इस वाक्य या किसी अन्य रूप, जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य के अनुरूप हो; के साथ पढ़ा जाता है तो वह क्षेत्रीय अखंडता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग एवं भय को प्रतिषिद्ध करने के उद्देश्य से परे चला जाता है। अनुच्छेद-1 में संघ के उद्देश्य दिए गए हैं। उनका उल्लेख इतना व्यापक रूप में किया गया है कि यदि एक क्षण के लिए यह मान लें कि अब तक प्रतिषिद्ध न किया जाए, प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के प्रयोग का अधिकार रखता है, तब इस तथ्य का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन होगा कि क्षेत्रीय अखंडता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध एक विशिष्ट शक्ति का प्रयोग जो स्पष्टत: निर्दिष्ट नहीं है, कब इस अतिरिक्त अभिनिषेधन के द्वारा अनेक बार किया जा सके। यदि प्रथम दो उद्देश्यों—आंतरिक शांति एवं सुरक्षा की स्थापना एवं समान अधिकारों तथा जनता की आत्मदृढ़ता के सिद्धांतों पर आधारित राष्ट्रों के मध्य संबंधों के विकास को लिया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुच्छेद 2 (4) में उल्लिखित नियम कितना प्रभावी है। राष्ट्र द्वारा अपनी सीमाओं से बाहर किसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग, आंतरिक सुरक्षा एव शांति तथा राष्ट्रों के मध्य परस्पर मैत्रीपूर्ण संबंधों के सामान्य उद्देश्य के अनुरूप सिद्ध होगा।

संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र में राष्ट्रों द्वारा शक्ति के प्रयोग पर कोई स्पष्ट बात नहीं कही गई है फिर भी उसके अनुसार शक्ति का प्रयोग व्यापक रूप से निषिद्ध है। साथ ही उसमें यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि किसी भी राष्ट्र से शक्ति के प्रयोग की आशा नहीं की जाती है। अनुच्छेद-51 में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि कोई सदस्य राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र पर सशस्त्र आक्रमण करता है तो आक्रांत राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकार होगा। युद्ध उसी स्थिति में किया जाना चाहिए जब वह अत्यंत आवश्यक एवं अपरिहार्य हो तथा शक्ति का उतना ही प्रयोग किया जाना चाहिए जितनी कि क्षति हुई है। अनुच्छेद-51 के अन्तर्गत की गई कार्यवाही की जानकारी परिषद् को होनी चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के अनुरक्षण का प्रमुख उत्तरदायित्व संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् पर है। अत: घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 39 के अंतर्गत उसे यह अधिकार दिया गया है कि वह इस बात का पता लगाए कि शांति का खतरा कहां है और किसने आक्रमण किया है और उसके विषय में अपनी सिफारिश प्रस्तुत करे अथवा अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के पुन:स्थापन हेतु अपनाई जाने

वाली युक्तियों पर निर्णय ले। एक बार कृतसंकल्प होने के बाद, संयुक्त राष्ट्र-संघ सुनिश्चित उपायों को अपना सकता है। राष्ट्र, सुरक्षा परिषद् या महासभा के प्रस्ताव के अनुसार प्राधिकार मिल जाने पर शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। अनुच्छेद-25 में यह कहा गया है कि सभी सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य होंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा-पत्र के अनुसार निम्नलिखित केवल दो स्थितियों में दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग की अनुमति है 1—व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के लिए या 2—एक सक्षम अतर्राष्ट्रीय अंग के निर्णय का पालन करने के लिए। परन्तु संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र के अनुच्छेद-39 के अनुसार आक्रामक युद्ध को स्पष्टतया अवैध घोषित किया गया है।

सुरक्षा के किसी बृहत अंतर्राष्ट्रीय संघ का मूलभूत उद्देश्य आक्रमण का निषेध तथा अवैध शक्ति-प्रयोग का विरोध एवं दमन करना है। इतिहास ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि संबंधित विशिष्ट राष्ट्र अपनी नीतियों के अनुसार आक्रमण तथा 'आत्मरक्षा' की परिभाषा देंगे। कौन राष्ट्र आक्रामक है, इसका एक निष्पक्ष निर्णय परम आवश्यक है। ऊपर से देखने में ऐसा मालूम पड़ता है कि युद्ध प्रारंभ करना सरल है किन्तु उसका उन्मूलन करना और उसी की परिभाषा देना कठिन है। अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद, संयुक्त राष्ट्र संघ के विधि शास्त्रियों की एक समिति 13 अप्रैल, 1974 को आक्रमण की परिभाषा देने पर सहमत हुई। इस प्रलेख में आक्रमण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखंडता या राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध सशस्त्र सेना, या किसी अन्य ऐसे माध्यम का प्रयोग जो संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा-पत्र के अनुरूप न हों"। इस परिभाषा को कुछ प्रतिबंधों के साथ कतिपय राष्ट्रों ने स्वीकार किया परन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में इसे विधिक रूप से अपनाया जाए इसके लिए सभी राष्ट्रों की स्वीकृति आवश्यक है। आक्रमण शब्द का निहितार्थ सीमा का विस्तार करना है तथा इसके और भी अनेक अर्थ हैं। इस शब्द की संक्षिप्त एवं विस्तृत परिभाषा को स्वीकार करने के लिए राज्यों की अभिवृत्ति निश्चित नहीं है। उपर्युक्त दोनों कारणों से यह कहना अत्यन्त कठिन होगा कि 'आक्रमण' शब्द की पूर्ण परिभाषा देने में कितना और समय लगेगा। यदि सर्वसम्मति से "आक्रमण" शब्द की परिभाषा निश्चित कर दी जाए तो वह समाज के हाथ में एक ऐसा हथियार होगा जिसके द्वारा एक शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण किया जा सकेगा और भय के स्थान पर विवेक का प्रतिस्थापन संभव हो सकेगा।

विधि की स्थिति तथा वर्तमान काल में अनेक राज्यों के व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि राष्ट्रीय नीति के सिद्धांत तथा राष्ट्रीय हित, प्रायः अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार बने हैं। जहां अंतर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धांत पर्याप्त रूप से स्पष्ट हैं वहां यह बात शक्ति के प्रयोग के संबंध में भी सत्य सिद्ध होती है। लोगों द्वारा कर्तव्यपूर्वक जीवन बिताने के लिए संघर्ष कम करने की समस्या कभी समाप्त नहीं होगी। यह पर्याप्त नहीं है कि हम केवल पहले की तरह विधि का समर्थन करते रहें। हमें उसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों में तथा अपने राष्ट्रीय जीवन में अपनाना चाहिए। विश्व राजनीति तथा विदेश नीति का विस्तृत विश्लेषण विधि के मूल्य को कम नहीं कर सकता क्योंकि उसका एक वास्तविक महत्व है तथा एक उत्तम व्यवस्था के लिए उसकी आवश्यकता है।

विज्ञान एवं जनसंख्या की वृद्धि वर्तमान काल की प्रमुख विशेषताएं हैं। विज्ञान सभ्यता के चरमोत्कर्ष का द्योतक है। लेकिन साथ-ही वह उसकी उत्तर-जीविका को संकट में डाल देता है। 1977 में अस्त्र-शस्त्र का खर्च लगभग 300 अरब अमेरिकी डालर तक पहुंच चुका था और भविष्य के 5–8 वर्षों में इसके दुगने होने की आशा है। अंतरिक्ष अनुसंधान के लिए परमाणु हथियारों की दौड़ कभी खत्म नहीं होगी-ऐसा प्रतीत होता है। हमें इस पर विचार करना चाहिए कि हम इस प्रकार कब तक चल सकते हैं। पिछले तीन वर्षों में हुए व्यापक परिवर्तन को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आगामी 15 वर्षों में और भी महान परिवर्तन होंगे। परमाणु युद्ध के भय को दूर करने के लिए एक सुदृढ़ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था आज भी आवश्यक है। प्रारंभ होने के पहले ही युद्ध समाप्त हो जाना चाहिए। आज शक्ति के प्रयोग के लिए प्रतिबंध एवं विवेक की आवश्यकता है जिनके माध्यम से हम सुचारू अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

वास्तविक शक्ति, संस्था तथा मनोवृत्ति को परिवर्तित कर सकती है और सार्वजनिक जीवन के स्वरूप को सुधार सकती है। यह शक्ति एक प्रकार से सहायता शक्ति है जिसमें क्रोध, भय अथवा घृणा का समावेश नहीं होता है और जो हानि नहीं पहुंचाती है। यह शक्ति अहिंसक एवं मानवीय हैं। हमें अपनी नवीन स्थिति को पहचानना होगा तथा अपनी पुरानी मनोवृत्ति से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। हमें निर्भीकतापूर्वक एवं प्रभावशाली ढंग से कार्य करना चाहिए। साम्यवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, सर्वसत्तावाद, प्रजातंत्र, उपनिवेशवाद, आर्थिक शोषण, शक्ति संतुलन, वैमनस्य उपशमन आदि अनेक विवादास्पद विचारों के आवेश में राजनीतिक, निरर्थक विषयों पर निरंतर समझौता या

झगड़ा करते रहते हैं। इसी मध्य उनके चारों ओर मतभेद बढ़ते हैं। तनाव, भय तथा अविश्वास उत्पन्न होता है। विश्व शक्तियों को चाहिए कि वे उदारता का दृष्टिकोण अपनाएं, प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान प्रदान करें तथा प्रेम, आदर एवं सम्मानपूर्वक एक साथ रहने का प्रयत्न करें। हमें न्याय तथा जीवन के प्रति आदरभाव जगाना चाहिए।

समस्त राष्ट्रों को चाहिए कि वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति के प्रयोग के संदर्भ में एक विश्व-संधि कराने के लिए विभिन्न उपाय करें। राज्यों के मध्य विवादास्पद समस्याओं के समाधान के लिए शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए —यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जून, 1977 में सम्पन्न भारत-सोवियत संघ संधि के माध्यम से दोनों राष्ट्रों ने यह घोषित किया कि स्थायी शांति, अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं राष्ट्रों के मध्य परस्पर सहयोग के आधार पर ही राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सबंधों का विकास संभव है। राष्ट्रों के आपसी संबंधों में शक्ति के प्रयोग का परित्याग, दूसरे की प्रभुसत्ता के प्रति सम्मान, राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, सीमाओं का अतिक्रमण न करने, समानता एवं परस्पर लाभ तथा आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में सहयोग के सैद्धांतिक आधार पर, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का विकास होना चाहिए।

परन्तु सही बात यह है कि युद्ध एक परम्परा बन गई है अतः युद्ध उन्मूलन के सर्वाधिक दृढ़ प्रयत्न सदैव निष्फल रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सबंधों में कुछ सीमा तक युद्ध-निषेध का पालन किया जा सकता है परन्तु उसे पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि युद्ध मानव मस्तिष्क में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान रहता है तथा समस्त राज्यों के ऊपर नियम बनाने के लिए कोई एक विधायी निकाय नहीं है जो इन नियमों का वास्तविक रूप से पालन करा सके। युद्ध की विधि कहां प्रदान करने के लिए किसी परिभाषा या विधि का निर्माण प्रभावहीन होगा। आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना विधि सम्मत नहीं बनाया जा सकता। सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार के प्रयोग करने का अर्थ है कि महा शक्तियां युद्ध को बंद करने या न करने का अधिकार रखती हैं। अतः युद्ध का पूर्णरूपेण निरोध संभव नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले तो राष्ट्रों के सभी संबंध शक्ति नीति पर आधारित हैं और दूसरे शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों को दंड नहीं दिया जा सकता। फिर भी परमाणु हथियारों के इस युग में, विधि के प्रति निष्ठा तथा युद्ध पर नियंत्रण की आवश्यकता पहले से अधिक अनिवार्य बन चुकी है। यह प्रश्न मात्र विधि या नैतिकता का ही नहीं, अपितु मानवता एवं उसकी सभ्यता के विभिन्न स्वरूपों को जीवित रखने का है।

अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा युद्ध का नियमन

किसी आधुनिक राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत दो या दो से अधिक नागरिकों के बीच संघर्ष, अवैध तथा राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध माना जाता है। उपर्युक्त तथ्य से प्रभावित होकर तथा राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध अधिकार के उन्मूलन के कारण, अनेक व्यक्ति युद्ध तथा विधि को असंगत मानते हैं। परन्तु यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं। परिणामतः उनसे उच्च और कोई केंद्रीय सत्ता नहीं है, जो अंतर्राष्ट्रीय विधि का पालन करा सके। साथ-ही-साथ आत्मरक्षा हेतु युद्ध के अधिकार के रहते हुए कम-से-कम वर्तमान परिस्थितियों में युद्ध का सदैव परिहार नहीं किया जा सकता है। तथापि अंतर्राष्ट्रीय विधि में युद्ध पर प्रतिबंध लगाने वाले उपबंध दिए हैं और अनेक अधिनियम दिए गए हैं, जिनके माध्यम से, युद्धरत राष्ट्र परम्परागत रूप से अथवा विशेष कारणों से युद्ध आरम्भ होने की दशा में उनका पालन करने के लिए सहमत हुए हैं। तदनुसार, यद्यपि युद्ध प्रारंभ होने पर युद्धरत राष्ट्रों के मध्य शांतिपूर्ण संबध समाप्त हो जाते हैं, फिर भी कुछ ऐसे विधिक आबंधन तथा कर्तव्य होते हैं जिनका पालन उन्हें करना होता है। अतः युद्ध अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप नहीं है ।

युद्ध दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि दूसरे पक्ष को पराजित किया जाए और विजेता द्वारा उस पर शांति स्थापित करने की मनचाही शर्तें थोपी जाएं। जब राज्य युद्ध में झोंक दिए जाते हैं या वे राजनीतिक कारणवश जानबूझ कर युद्ध करते हैं, तब युद्ध द्वारा कोई विधिसम्मत, आत्मरक्षा का कार्य संपन्न नहीं होता और युद्ध के सामान्य नियम दोनों परिस्थितियों में लागू होते हैं, चाहे युद्ध विधिक मतभेद के कारण प्रारंभ हुए हों अथवा राजनीतिक मतभेद के कारण ।

युद्ध के वर्तमान नियमों एवं परम्पराओं का संचालन मुख्यतः परंपरागत एवं सामयिक नियमों द्वारा होता है। युद्ध के नियम द्विमुखी सिद्धांतों पर आधारित हैं—युद्ध का भय कम करने की आवश्यकता तथा हिंसा की स्थिति को रोकना। युद्ध के नियम अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा स्थापित प्रतिबंधों में सन्निहित हैं, जिनके अन्तर्गत शत्रु को पराजित करने हेतु आवश्यक शक्ति प्रयोग तथा सशस्त्र संघर्ष की स्थिति में व्यक्तियों के प्रति व्यवहार के सिद्धांतों का पालन किया जाता है। इस प्रकार के नियमों के अभाव में युद्ध की बर्बरता तथा नृशंसता की कोई सीमा

नहीं होती। इन नियमों का प्रमुख उद्देश्य युद्ध के 'खेल' को संचालित करने वाली संहिता प्रदान करना नहीं, अपितु मानवीय आधारों पर व्यक्तियों की क्षति को प्रतिबंधित करना तथा एक ऐसे क्षेत्र का परिसीमन करना है, जिसके अंतर्गत सशस्त्र संघर्ष की बर्बरता अनुज्ञेय हो। यह सत्य है कि इन नियमों का व्यापक रूप से प्रायः उल्लंघन हुआ है, फिर भी इन नियमों के बिना युद्ध तथा युद्ध की सामान्य नृशंसता पूर्ण रूप से अनियंत्रित रहती।

व्यवहार रूप में विभिन्न राष्ट्रों की सैन्य नियमावली में युद्धस्थल में उपस्थित सेनानायक के लिए निर्दिष्ट युद्ध के अनुदेश शामिल होते हैं। युद्ध के नियम मात्र राष्ट्रों के लिए ही बाध्यकारी नहीं, वरन् वे सशस्त्र सेना के सदस्यों सहित सभी व्यक्तियों पर, राज्याध्यक्षों पर, मंत्रियों तथा अधिकारियों पर भी लागू होते हैं। किसी संधि या अंतर्राष्ट्रीय विधि के परम्परागत नियम को छोड़ कर युद्ध के नियमों का उल्लंघन करना सैन्य आवश्यकताओं के अनुसार उचित नहीं है।

युद्ध के नियमों का बहुधा उल्लंघन होता है, किन्तु अंतर्राष्ट्रीय विधि में इनका पालन कराने वाली कुछ अनुज्ञप्तियां भी हैं। प्रथमतः सबसे उपयोगी विधि प्रत्यपकार की है, यद्यपि यह अतिपूर्ति का मात्र अपरिष्कृत एवं निरंकुश स्वरूप है। युद्ध के नियमों की द्वितीय अनुज्ञप्ति, युद्ध के पूर्व व पश्चात् युद्ध अपराधियों को दिया जाने वाला दंड है। तृतीय अनुज्ञप्ति क्षतिपूर्ति की है। 1907 के चतुर्थ हेम सम्मेलन के तीसरे अनुच्छेद में यह स्पष्ट किया गया कि यदि कोई युद्धलिप्त राष्ट्र ऐसे नियमों का उल्लंघन करता है तो उस राष्ट्र को अपनी सेना द्वारा किए गए सब कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जाएगा और उससे क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्यपकार लिया जाएगा। इस अनुच्छेद के अनुसार शांतिसंधि के समय उससे प्रत्यपकार की राशि वसूल की जा सकती है।

युद्ध के नियम उतने ही प्राचीन हैं जितना कि युद्ध, परंतु युद्ध के नियमों का सुचारू रूप से विकास मुख्यत मध्यकाल में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व युद्ध के नियम मुख्यतः परम्परागत थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अनेक राष्ट्रों ने युद्ध के नियमों को विभिन्न संधियों, समझौतों और घोषणाओं द्वारा स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया। इस संदर्भ में विभिन्न प्रकार के युद्धों से संबद्ध निम्नलिखित नियमों, संधियों तथा घोषणाओं का उल्लेख प्रासंगिक होगा।

स्थलयुद्ध के नियम :—वर्तमान काल में स्थल-युद्ध के नियमों का विवेचन सर्वप्रथम फ्रांसिस लीवर ने अमेरीकी गृह-युद्ध के समय किया था और अमेरीकी सरकार ने 1983 में इन नियमों को युद्ध-स्थल में संयुक्त राज्य की सरकार के

लिए अनुदेश के नाम से प्रकाशित किया । इन नियमों को आवश्यक संशोधनों के साथ अन्य राज्यों द्वारा 1899 में तथा 1907 के 'हेग सम्मेलन' में अंगीकार किया गया ।

हेग सम्मेलन (1907) में युद्धरत राष्ट्रों के इस विवाद को स्पष्ट किया गया कि कौन से व्यक्ति विधिसम्मत सैनिक माने जाएंगे । इसके अनुसार नियमित सेनाओं के अतिरिक्त छापामार दलों तथा स्वयंसेवक दलों और नागरिक दलों को भी विधिसम्मत सैनिक की कोटि में रखा गया है, परन्तु इसके लिए निम्न-लिखित बातों का होना नितांत आवश्यक है—वे किसी अधिकारी के अधीन हों, वे दूर से पहचाने जा सकने वाले विशिष्ट चिह्नों की धारणा करें, वे प्रत्यक्ष रूप से शस्त्र धारण करें तथा युद्ध के समय युद्ध के नियमों तथा परम्पराओं का पालन करें । इस सम्मेलन के द्वारा इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो गया कि शत्रु के सैनिकों की हिंसा उसी सीमा तक वैध है, जिससे कि शत्रु को पराभूत किया जा सके । इस दृष्टिकोण से शत्रु को जान से मारा जा सकता है, घायल किया जा सकता है तथा बंदी बनाया जा सकता है । बीमार, घायल, बंदी तथा आत्म-समर्पण करने वाले सैनिकों का न तो वध किया जा सकता है और न उनको घायल किया जा सकता है । हेग नियमों के अनुच्छेद 23 के अनुसार विष, अनावश्यक हानि पहुंचाने वाले पदार्थ, जलता द्रव आदि डालने वाले हथियारों तथा प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग वर्जित है । अनुच्छेद 23 में सैनिक को धोखे से न मारने की व्यवस्था है । प्रथम हेम कन्वेशन (1899) में दमदम के कारखाने द्वारा निर्मित गोलियों पर तथा श्वासरोधी या हानिकारक गैसों के प्रयोग को भी निषद्ध कर दिया गया । विषैली गैसों तथा विषैले पदार्थों के उपयोग पर लगाए गए प्रतिबंध की पुनरावृत्ति, बसाई संधि के अनुच्छेद 171 तथा 1919 की अन्य संधियों में और 1922 की वाशिंग्टन संधि में हुई । सेना को रसद सामग्री पहुंचाने वाले व्यक्तियों तथा संवाददाताओं आदि का वध नहीं किया जा सकता । उन्हें मात्र बंदी बनाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त 1949 में संपन्न, युद्धबंधियों के संबंध में जनेवा कन्वेशन में भी स्थल-युद्ध के नियमों का प्रतिपादन किया गया । इस कन्वेशन के अनुच्छेद 4 के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलनों की नियंत्रित सेनाओं को भी सैनिकों की कोटि में रख दिया गया । युद्ध बंदियों के लिए जनेवा कन्वेशन (1949) के माध्यम से युद्ध बंदियों के साथ व्यवहार के अनेकानेक नियम बनाए गए । जनेवा कन्वेंशन (1949) के अनुच्छेद 28 के अनुसार घायलों की चिकित्सा में रत चिकित्सकों, सैनिक अस्पतालों के कर्मचारियों तथा पादरियों को युद्धबंदी नहीं बनाया जा सकता ।

जनेवा कन्वेंशन में युद्ध बंदियों की संधि के अतिरिक्त युद्ध में घायल तथा बीमार सैनिकों हेतु जनेवा कन्वेशन (1948) द्वारा युद्धरत राष्ट्रों के लिए, युद्ध में बीमार तथा घायल व्यक्तियों की प्राणरक्षा तथा उचित चिकित्सा आदि की सुविधा प्रदान करना अनिवार्य बना दिया गया। अनुच्छेद 12–16 के अन्तर्गत सेनानायकों के लिए यह आवश्यक घोषित किया गया कि वे प्रत्येक मुठमेड़ के उपरांत रणक्षेत्र का निरीक्षण करें तथा घायलों और मृतकों को एकत्र करके उन्हें लूटपाट तथा दुर्व्यवहार आदि से संरक्षण प्रदान करें।

रणक्षेत्र में मृत-व्यक्तियों के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय विधि में यह व्यवस्था है कि मृतकों के शवों को किसी प्रकार से न तो विकृत किया जाए और न ही उनके साथ कोई दुर्व्यवहार किया जाए। 1949 के जैनेवा कन्वेशन के अनुच्छेद 15 के अनुसार, प्रत्येक मुठमेड़ के पश्चात् मृतकों की खोज और साथ-ही-साथ उनके शवों को विकृत होने से बचाने के लिए, उनको उचित रीति से दफनाना या जलाना आवश्यक बना दिया गया।

समुद्री युद्ध संबंधी नियम :—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व समुद्री-युद्ध संबंधी अनेक परम्परागत नियम व्यवहार रूप में लाए गए। उन्नीसवीं शताब्दी में क्रीमिया युद्ध के उपरांत पेरिस-घोषणा (1856) के माध्यम से समुद्री युद्ध संबंधी अनेक नियम बनाए गए। इनके अनुसार युद्धरत राष्ट्र, शत्रु के वैयक्तिक माल एवं जहाज का अपहरण कर सकता था, परंतु तटस्थ देश के माल तथा जहाज का अपहरण वर्जित घोषित किया गया। इस घोषणा के द्वारा यद्यपि शत्रु के जहाज को छीनने की अनुमति प्रदान की गई, फिर भी उस पर लदे तटस्थ राष्ट्र के माल को वापस करना अनिवार्य बना दिया गया। इसी प्रकार तटस्थ देश के जलपोतों पर लदे शत्रु के माल को हड़पने की अनुमति तो प्रदान की गई परंतु इन जलपोतों को तटस्थ देशों को वापस करना पड़ता था। पेरिस घोषणा के द्वारा नाकाबंदी को बाध्यकारी बनाने के लिए, उसके प्रभावकारी होने पर बल दिया गया।

1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन में निम्नलिखित विषयों पर कन्वेंशन तैयार किए गए—युद्ध प्रारंभ होने पर शत्रु के व्यापारिक जहाज संबंधी छठा कन्वेशन, व्यापारी जहाजों को युद्धपोतों में परिवर्तित करने से संबंधित सातवां कन्वेशन, स्वचालित समुद्री सुरगों से संबंधित आठवां कन्वेशन, नौ सेना द्वारा बमवर्षा विषयक नवा कन्वेशन तथा समुद्रीय युद्ध में प्रग्रहण के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबंध विषयक दसवां कन्वेंशन है।

इन कन्वेंशनों के अनुसार चिकित्सक जलयानों पर होने वाले आक्रमणों तथा धार्मिक, वैज्ञानिक एवं परोपकारी कार्यों में लगे जलपोतों के अवरोध या विध्वंस या विनाश को अवैध घोषित किया गया। युद्ध-बंदियों के विनिमय के कार्य में व्यस्त जलपोतों पर भी शत्रु द्वारा आक्रमण वर्जित कर दिया गया। हेग कन्वेंशन के अनुसार मछली पकड़ने वाली तथा स्थानीय व्यापारी नौकाओं का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जा सकता। 1907 के छठे कन्वेंशन के द्वारा, युद्ध प्रारंभ होने पर बंदरगाहों में विद्यमान अथवा युद्ध के पूर्व बंदरगाह से चले हुए तथा युद्ध की सूचना से अनभिज्ञ व्यापारी जहाजों को शत्रु के आक्रमण से आंशिक छुटकारा दिया गया। व्यापारी जहाज को आत्मरक्षा का अधिकार प्रदान किया गया। ग्यारहवें हेग कन्वेशन के अनुच्छेद 1 के अनुसार युद्धरत राष्ट्रों अथवा तटस्थ राष्ट्रों की प्रशासकीय अथवा गैर-प्रशासकीय डाक नहीं खोली जाएगी। 1907 के ग्यारहवें हेग कन्वेंशन के अनुच्छेद 1 के द्वारा, समुद्री तट पर स्थित असुरक्षित नगरों, बंदरगाहों, कस्बों, निवासगृहों आदि पर गोली जारी करना वर्जित कर दिया गया। मात्र सैनिक महत्व के स्थानों पर गोलाबारी के अधिकार को वैध माना गया। 1907 के सातवें हेग कन्वेंशन में सुरंगों के संबंध में अनेक नियम बनाए गए। एक घंटे के अंदर हानि रहित न होने वाली स्वचालित तथा स्पर्श से विस्फोटित होने वाली सुरंगों का बिछाना अवैध घोषित किया गया। लंगरवाली तथा इस अवधि में हानि रहित न होने वाली सुरंगों के प्रयोग को भी निषिद्ध कर दिया गया। युद्धरत राष्ट्रों द्वारा इन सुरंगों अथवा स्पर्श-विस्फोटकों के विषय में यथासंभव अन्य राष्ट्रों को सूचना देना अनिवार्य घोषित किया गया।

शत्रु-सेना रत तटस्थ जलपोत से संबद्ध 1909 की लंदन घोषणा के अनुसार, लड़ाई में भाग लेने वाले, शत्रु की आज्ञा का पालन करने वाले, शत्रु कार्य में अनन्य रूप से व्यस्त तथा पूर्ण रूप से शत्रु की सेना के विनिमय अथवा लाभ पहुंचाने में कार्यरत, तटस्थ जलपोतों को पकड़ा तथा नष्ट किया जा सकता है।

1922 के वाशिंग्टन कन्वेंशन के अनुसार पनडुब्बियों द्वारा व्यापारी जहाजों को डुबाना अवैध घोषित किया गया। 1930 में लंदन की नाविक संधि ने पनडुब्बियों के लिए, समुद्र तट पर चलने वाले जहाजों के नियम लागू किए। 1936 के लंदन पनडुब्बी कच्चे मसौदे के द्वारा व्यापारी जहाजों पर पनडुब्बियों के आक्रमण को निषिद्ध करार दिया गया।

घायल, अस्वस्थ तथा समुद्री सशस्त्र सेना के नष्ट या ध्वस्त जलयान के संबंध में 1949 के जेनेवा कन्वेंशन के द्वारा समुद्री युद्ध में घायल नौ सैनिकों,

अस्वस्थ व्यक्तियों तथा जलपोत के नष्ट हो जाने की दशा में, उस पर सवार व्यक्तियों और नाविकों के प्रति व्यवहार संबंधी नियम बनाए गए।

हवाई युद्ध के नियमः—वर्तमान काल में प्रलयंकर परमाणु बमों, स्पुतनिकों, राकेटों, शक्तिशाली एवं शीघ्रगामी वायुयानों तथा अंत महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के विलक्षण विकास से हवाई युद्ध के महत्व में असाधारण वृद्धि हुई है। वायुयानों के प्रयोग से व्यापक जन-हानि एवं प्रलयंकर विध्वंस की संभावनाएं हैं। हवाई युद्ध की विभीषिका के नियंत्रण हेतु समय-समय पर संपन्न संधियों एवं कन्वेंशनों के माध्यम से अनेक नियम बनाए गए।

रूस के सम्राट जार की प्रेरणा से आयोजित ब्रूसेल्स कन्वेंशन (1874) में आरक्षित नगरों, ग्रामों, कस्बों पर बमवर्षा करना वर्जित कर दिया गया। धर्म, कला और विज्ञान संबंधी भवनों तथा चिकित्सालयों को मात्र सैनिक प्रयोजनों के लिए बमवर्षा का लक्ष्य बनाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। सार्वजनिक इस्तेमाल के भवनों तथा चिकित्सालयों आदि पर बमवर्षा को निषिद्ध कर दिया गया।

1889 के प्रथम हेग कन्वेंशन के माध्यम से असैनिक जनता तथा संपत्ति पर की जाने वाली बमवर्षा को निषिद्ध कर दिया गया। इसके अतिरिक्त युद्ध-क्षेत्र से दूर स्थित नगरों तथा ग्रामों पर भी बमवर्षा निषिद्ध कर दी गई। युद्ध मात्र सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही अनुज्ञेय था। इस कन्वेंशन द्वारा इस नियम की भी पुष्टि की गई कि हवाई युद्ध द्वारा हानि तथा क्षति, समुद्री युद्ध द्वारा हानि तथा क्षति से अधिक नहीं होनी चाहिए।

वाशिंग्टन कन्वेंशन (1922) में हवाई युद्ध के अनेक नए नियमों पर विचार हुआ। व्यक्तिगत वायुयानों का शस्त्रों से लैस करना वर्जित कर दिया गया। असैनिक जनता को संत्रस्त करने या असैनिक संपत्ति को नष्ट करने अथवा असैनिक जनता को हानि पहुंचाने वाली बमवर्षा को निषिद्ध कर दिया। हवाई बमवर्षा को तभी वैध माना गया, जब वह सैनिक अड्डों, संचार के साधनों, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों को लक्ष्य बना कर की गई हो। स्थल सेनाओं के अति निकट स्थानों के अतिरिक्त अन्य नगरों, कस्बों तथा भवनों पर की जाने वाली बमवर्षा को निषिद् कर दिया गया। सार्वजनिक पूजा, उपासना, स्मारकों, कला, धर्म तथा परोपकार के कार्य के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले भवनों, शरणार्थियों के लिए बने चिकित्सालयों पर बमवर्षा करना अवैध माना

गया । इस महत्वपूर्ण नियम का भी समर्थन किया गया कि हवाई युद्ध में स्थल-युद्ध के नियमों को लागू किया जाएगा और साथ ही इस बात की भी व्यवस्था की गई कि उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करने वाला राष्ट्र क्षतिपूर्ति करने के लिए उत्तरदायी होगा ।

1925 में जैनेवा के प्रोतोकोल द्वारा हवाई युद्ध में विषैली गैसों तथा जीवाणुओं के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया ।

1932 में निरस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग ने युद्ध की विभीषिका का नियंत्रण करने के लिए अनेक नियम बनाए और यह निर्णय लिया गया कि असैनिक जनता पर हवाई आक्रमण पूर्णरूपेण अवैध है ।

सांस्कृतिक संपत्ति की सुरक्षा हेतु अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन (1954) द्वारा युद्ध काल में सांस्कृतिक संपत्ति तथा उससे संबंधित भवनों पर बमवर्षा न करने पर बल दिया गया ।

असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा के निषेध से संबद्ध मौलिक सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने में प्रमुख रूप से तीन मुख्य कठिनाइयां हैं । पहले तो वर्तमान युद्ध के क्षेत्र एवं स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों के कारण युद्ध के समग्र होने की आशंका व्याप्त रहती है और इस स्थिति में सैनिक तथा असैनिक जनता में अंतर स्पष्ट करना अत्यंत कठिन हो जाता है । दूसरे वैध रूप से हवाई बमवर्षा के योग्य सैनिक लक्ष्यों का निर्धारण, अब बहुत ही असंभव हो गया है । तीसरे तकनीकी रूप से इस तथ्य का निर्धारण अत्यन्त कठिन है कि किस सीमा तक हवाई बम बर्षा के प्रभावों को सैनिक लक्ष्यों तक ही सीमित रखा जाए । इन वर्तमान समस्याओं की उपस्थिति में भी, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार असैनिक जनता पर प्रत्यक्ष रूप से जानबूझ कर की जाने वाली बमवर्षा अवैध है ।

परमाणु हथियारों के प्रयोग की वैधता :—परमाणु बमों को मानवीयता और अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रमुख शत्रु माना गया है । इनके प्रयोग से युद्ध के दो मौलिक सिद्धांतों की पूर्ण रूप से अवहेलना होती है । युद्ध में अनावश्यक हिंसा का प्रयोग निषिद्ध है तथा सैनिक और असैनिक जनता में भेद रखते हुए केवल सैनिक शक्ति का विध्वंस वैध माना जाता है । परमाणु बम सैनिक तथा असैनिक जनता में कोई भेद नहीं करता है और विनाश तथा विध्वंस की ऐसी तांडव लीला करता है, जिससे असंख्य व्यक्ति काल कवलित हो जाते हैं तथा इसके विस्फोट से निकले रेडियो सक्रिय धूल से एक ऐसे विषैले पदार्थ का जन्म होता है, जिससे

अनेक असाध्य रोगों की उत्पत्ति होती है। अतः प्रश्न यह उठता है कि परमाणु बमों का प्रयोग वैध है अथवा नहीं ?

हेग नियमों के अनुच्छेद 33(क) के अनुसार युद्ध में विषाक्त पदार्थों का प्रयोग वर्जित है। 1925 में संपन्न जैनेवा प्रोतोकोल के अनुसार सभी विषैले पदार्थों, गैसों तथा उसके समान सभी द्रव्य सामग्री तथा साधनों के प्रयोग को निषिद्ध करार दिया गया है। हेग नियमों के अनुच्छेद 2(घ) के अनुसार ऐसे सभी शस्त्रों का प्रयोग वर्जित है, जिनसे आवश्यकता से अधिक क्षति पहुंचती हो तथा सैन्ट पीटर्सबर्ग घोषणा (1868) के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि अपंग लोगों के कष्ट में वृद्धि करने वाले तथा व्यापक रूप से जन और संपत्ति को हानि पहुंचाने वाले शस्त्रों का प्रयोग न किया जाए। 1948 के नर-संहार सम्मेलन द्वारा नर-संहार को प्रत्येक दशा में चाहे युद्ध हो या शांति, एक अपराध माना गया। परन्तु इस सम्मेलन का महत्व मात्र प्रत्यक्ष्यकारी है, क्योंकि यह केवल 52 राष्ट्रों द्वारा समर्थित है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महा सभा के प्रस्तावों (1960-61) के माध्यम से समस्त राष्ट्रों से परमाणु हथियारों के प्रसार पर प्रतिबंध लगाने के लिए आग्रह किया गया। युद्ध के लिए परमाणु हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के प्रस्तावों के द्वारा परमाणु तथा तापनाभकीय अस्त्रों के प्रयोग को संयुक्त राष्ट्र संघ के उदेश्यों के विरुद्ध माना गया तथा इस तथ्य की घोषणा की गई कि परमाणु हथियारों का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय विधि तथा मानवता के नियमों के विरुद्ध है, क्योंकि इसका प्रयोग केवल शत्रु के विरुद्ध ही नहीं, वरन् समस्त मानव जाति के विरुद्ध है। परन्तु परमाणु हथियारों को निषिद्ध करने वाले महासभा के इस प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से किसी ऐसी बात पर जोर नहीं दिया गया, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि परमाणु हथियारों का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध है। 1963 में परमाणु परीक्षण-निषध संधि द्वारा परमाणु परीक्षण पर रोक लगाई गई, फिर भी भूमिगत परीक्षण को निषिद्ध नहीं किया गया। इस संधि के माध्यम से भी परमाणु हथियारों के प्रयोग पर कोई स्पष्ट प्रतिबंध न लगाया जा सका। 1968 में परमाणु शस्त्र प्रसार निरोधक संधि के द्वारा, परमाणु शक्तिसंपन्न राष्ट्रों ने, परमाणु हथियारों के प्रसार को निषिद्ध करने की दिशा में अपनी सहमति व्यक्त की तथा परमाणु हथियारों से रहित राष्ट्रों ने इन शस्त्रों का क्रय अथवा उत्पादन न करने के पक्ष में अपना मत दिया। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस ने 19 जून, 1968 को, सुरक्षा परिषद् में परमाणु शक्तिहीन राष्ट्र के विरुद्ध, किसी परमाणु आक्रमण की स्थिति में, सुरक्षा परिषद् की तात्कालिक कार्यवाही पर जोर दिया।

तथापि, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय विधि में स्पष्ट रूप से यह घोषणा नहीं की गई है कि युद्ध के उपकरण के रूप में परमाणु हथियारों का प्रयोग वर्जित है। प्रत्येक प्रभुतासंपन्न राष्ट्र परमाणु हथियारों का निर्माण करने के लिए स्वतंत्र हैं। भविष्य में उत्पन्न प्रत्यपकार की आवश्यकता को इस प्रकार के परमाणु हथियारों के निर्माण का बहाना बनाया जा सकता है। परम्परागत अंतर्राष्ट्रीय विधि आत्मरक्षा हेतु परमाणु हथियारों के प्रयोग का समर्थन करता है। युद्ध की आवश्यताओं के अनुसार परमाणु हथियारों का प्रयोग किया जा सकता है और उसे युद्ध में आवश्यकता के सिद्धांत पर न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। यह भी संभव है कि परमाणु हथियारों के निर्णायक प्रहार से युद्ध का अंत हो जाए।

उपर्युक्त तर्कों के होते हुए भी परमाणु हथियारों का प्रयोग तथा निर्माण सर्वथा अनुचित एवं असंगत हैं। एक राष्ट्र द्वारा परमाणु हथियारों के निर्माण का अर्थ परमाणु शस्त्र रहित राष्ट्रों का अवपीड़न होगा जो कि जैनेवा कन्वेंशन के अनुच्छेद 31 तथा 32 के अनुसार वर्जित है। सेन्ट पीटर्सबर्ग घोषणा (1868) ब्रूसेल्स कन्वेंशन (1874) हेग कन्वेंशन (1899) तथा जैनेवा कन्वेंशन (1921, 1949) आदि के अनुसार विषाक्त शस्त्रों, गैसों आदि का प्रयोग वर्जित है। इन शस्त्रों का प्रयोग प्रतिकार के लिए भी नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रतिकार का क्षति के समानुपाती होना आवश्यक है। परिणामतः, राष्ट्र परमाणु हथियारों के सर्वप्रथम प्रयोग के अधिकार से वंचित रहेंगे। युद्ध की आवश्यकताओं तथा आवश्यकताओं के सिद्धांत के आधार पर परमाणु हथियारों के प्रयोग को न्यायसंगत सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके द्वारा जन तथा संपत्ति की व्यापक हानि होती है, और विषाक्त विकिरण से अत्यंत क्षति पहुंचती है।

विभिन्न कन्वेंशनों, प्रोतोकोलों, घोषणाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों एवं परम्पराओं के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु हथियारों के प्रयोग एवं निर्माण के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियम वर्तमान परिस्थितियों में अपर्याप्त हैं। इस प्रकार के विध्वसंकारी शस्त्रों के प्रयोग एवं उत्पादन के नियंत्रण के लिए व्यापक नियमों की आवश्यकता है। न्याय तथा मानवता का तर्क अब व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। सुस्पष्ट एवं असंदिग्ध विधिक नियमों के माध्यम से राष्ट्रों द्वारा, परमाणु हथियारों के निर्माण एवं प्रयोग पर नियंत्रण किया जा सकता है।

विभिन्न नियमों का प्रमुख लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति स्थापित करना है। निवारण पर आधारित शक्ति-संतुलन की अवधारणा विश्व शांति

एवं सुरक्षा हेतु उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिलता है। निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब सभी राष्ट्र इसको अपनाकर भी सुरक्षित रह सकें। विभिन्न राष्ट्रों द्वारा सुरक्षा का विश्वास युद्ध को पूर्णतया अवैध घोषित करके, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में इसके अस्तित्व को समाप्त कर देने पर ही संभव है। इस स्थिति में शस्त्रीकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी और निरस्त्रीकरण को पूर्णतया सभी राष्ट्र अपना लेंगे। अतः विश्व के सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से एक संधि द्वारा युद्ध को पूर्णतया अवैध घोषित कर समाप्त कर देना चाहिए। तभी विश्व शांति एवं सुरक्षा संभव है। इतिहास के किसी-न-किसी मोड़ पर मनुष्य को विवेक तथा शक्ति के बीच चयन करना होगा, अन्यथा कोई भी चयन का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

संदर्भ

1. ब्राउनली, आई०-इंटरनेशनल ला एंड द यूज आफ फोर्स बाई स्टेट्स।
2. ब्रिआन वीन-प्राबलम्स आफ वार एंड पीस।
3. फ्राइडमैन, डब्लू०-द चेंजिंग स्ट्रक्चर आफ इंटरनेशनल ला।
4. गुडस्पीड, एस० एस०—द नेचर एंड फंक्शन आफ इंटरनेशनल आरगेनाइजेशन।
5. ग्रेग, डी डब्लू०—इंटरनेशनल ला।
6. जेसप-ए मार्डन ला आफ नेशन्स।
7. लिसिटजिन, ओ० जे०—इंटरनेशनल ला टूडे एंड टुमारो।
8. ओपेनहेम, एल०—इंटरनेशनल ला, वाल्यूम-टू।
9. पामर, एन डी० एंड परकिन्स, एच० सी०—इंटरनेशनल रिलेशन्स।
10. रेमन्ड ऐरो-पीस एंड वार : ए थियरी आफ इंटरनेशनल रिलेशन्स।
11. स्टार्क, जे० जी०—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल ला।
12. राइट, क्विन्सी—ए स्टडी आफ वार।
13. राइट, क्विन्सी—हिस्ट्री आफ द कान्सेप्ट आफ वार।
14. आइकल, एफ० सी०—एवरी वार मस्ट एन्ड।

जरनल्स

1. अमेरिकन जरनल आफ इंटरनेशनल ला–जुलाई, 1972 ।
2. फारेन अफेयर्स-अक्तूबर 1970, जुलाई 1971, अक्तूबर 1978 ।
3. स्ट्रेटिजिक डाइजेस्ट–अगस्त 1972, मार्च 1974, अगस्त, 1977 ।
4. मिलिट्री रिव्यू–अक्तूबर, 1966 ।

वैमनस्य उपशमन*

-- मेजर ए० एस० सजवान

परमाणु-विध्वंस का दु:स्वप्न अब विश्व को उतना पीड़ित नहीं करता जितना पहले करता था। दो महाशक्तियों-रूस और अमरीका-के बीच हो रही लगातार बातचीत और आपसी संबंधों में परिवर्तन, शांति की दिशा में एक सही कदम है जिसके परिणामस्वरूप तनाव में कमी और शीत युद्ध का वातावरण समाप्त हो गया है ।

वेबस्टर की तीसरी न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी में वैमनस्य उपशमन की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-"पारस्परिक तनातनी तथा राजनीतिक तनावों को कम करना या दूर करना, विशेषकर राष्ट्रों के बीच" । जैसा कि सामान्यत: होता है कोश में दी गई परिभाषा से शब्द पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाता है, वैमनस्य उपशमन के संदर्भ में भी हमें अमूर्त आभास होता है जो कि राजनयों की परंपरागत भाषा में उपयोगी हो सकता है। लेकिन यह भी कभी-कभी विभिन्न पार्टियों की आलंकारिक भाषा और व्याकरण में परस्परव्यापी लेकिन भिन्नभिन्न अर्थों में उपयोगी होता है। यह विभिन्नता पार्टियों के भिन्न-भिन्न परिसरों, उद्देश्यों और आकांक्षाओं के कारण उत्पन्न होती है ।

वैमनस्य उपशमन के अर्थ को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत करना उपयोगी होगा :—

इनमें सबसे पहला है "स्थिर अन्तर्राज्य प्रणाली" जिसका संतुलित शेष अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए निर्देश सामग्री का काम करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आमूल परिवर्तित विश्व की राजनीतिक संरचना की कल्पना की अपेक्षा राष्ट्र / राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि के परम हित अधिक महत्वपूर्ण है। वैमनस्य उपशमन का अर्थ

*वैमनस्य उपशमन, भयोपरति और युद्ध की संकल्पना पूरे इतिहास के दौरान बदलती रही है। आज भी (1980) के वैमनस्य उपशमन का जो वातावरण निक्सन की यात्राओं, साल्ट की संधियों द्वारा तैयार किया गया था, उसे अफ्रीका और मध्य पूर्व में रूस के लगातार बढ़ते हस्तक्षेप और युद्धों तथा आयुध खर्चों ने खतरे में डाल दिया है।

परस्पर-निर्भरता के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से मान्यता देना है। समसामयिक परिस्थितियों में रूस और अमेरिका के बीच सुरक्षा और घरेलू समृद्धि में संतुलन बनाए रखना संभव है। अतः वैमनस्य उपशमन आपसी हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि को खतरा प्रस्तुत करने वाले अस्थिर, अप्रत्याशित और अनियंत्रणीय घटनाक्रम को रोकने के लिए स्पष्ट अपील है। वैमनस्य उपशमन का यह भी अर्थ है कि धीरे धीरे ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जाएं जिनसे ऐसे संबंधों की परस्पर उपयोगिता को सिद्ध किया जा सके।

दूसरा शीर्षक, जिसके अंतर्गत वैमनस्य उपशमन की कल्पना को वर्गीकृत किया जा सकता है, वह है 'संधि की प्रस्तावना के रूप या संधि की दिशा में एक कदम।' इस प्रकार देखने से वैमनस्य उपशमन अमेरिका और रूस के आपसी हितों और उद्देश्यों को पूरा करने की दिशा में इतिहास की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है जो राष्ट्रीय उत्तर-जीविता में हितों का तार्किक बहिर्वेशन या औद्योगिक समाज की कार्य संबंधी आवश्यकताओं द्वारा निर्मित इसी प्रकार के आदेशों द्वारा प्रेरित है।

वैमनस्य उपशमन की प्रक्रिया जो सातवें दशक के मध्य से धीरे-धीरे विकसित होनी शुरू हुई, उसके अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली पर पहले से ही दूरगामी प्रभाव पड़ चुके हैं। अभी हाल में वैमनस्य उपशमन की अधिकांश अभिव्यक्तियों में उसके दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। सहयोगात्मक और प्रतियोगी और ये दोनों परस्पर इतने घुले-मिले हैं कि संबंधों का एक जटिल रूप प्रस्तुत करते हैं। यदि इसे सैद्धांतिक रूप में समझ लिया जाए तो यह एक ऐसा साधन सिद्ध होगा जिसके अपनाए जाने पर इस विश्व को वैमनस्य उपशमन के प्रतिकूल परिणामों का सामना नहीं करना पड़ेगा और उसे विश्व के लिए उपयोगी बनाया जा सकेगा।

महाशक्तियों के सहयोगात्मक-प्रतियोगी व्यवहार को चार वर्गों में बांटा जा सकता है जो हालांकि परस्पर व्यापी तो हो सकते हैं और जो एक दूसरे से संबद्ध हैं लेकिन फिर भी ये अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। ये वर्ग हैं : शस्त्र नियंत्रण व्यवस्था, संकटकालीन व्यवस्था, समग्र अंतर्राष्ट्रीय यथास्थिति बनाए रखना, और आर्थिक व्यवस्था।

शस्त्र-नियंत्रण व्यवस्था :—20 वीं शताब्दी के आठवें दशक में रूसी-अमेरिकी वैमनस्य उपशमन के मूल में शस्त्र-नियंत्रण है। यह बनाने और बिगाड़ने वाला वह घटक है जिसकी भूमिका प्रत्येक अन्य बातचीत में सर्वप्रधान होती है। वैमनस्य उपशमन, व्यापार विज्ञान, स्वास्थ्य और संस्कृति विनिमय के क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के समझौतों का विश्वास दिला सकता है। लेकिन उसकी संपूर्ण व्यवहार्यता इस बात पर निर्भर करती है कि सर्वप्रथम घातक और महंगी शस्त्रों की उस दौड़ पर पाबंदी या रोक लगाई जाए जिसने इन दोनों देशों को सौदेबाजी के धरातल पर ला खड़ा किया है। (स्टीवेल 1975 पृ० 14) मूलरूप में वैमनस्य उपशमन का अपना विशेष स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि इन दोनों महाशक्तियों द्वारा निर्मित शस्त्रास्त्रों की कोटि पर टेक्नालाजी का कितना प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में इनका दुरभिसंधिपूर्ण व्यवहार सबसे अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में शस्त्र-नियंत्रण उन्हें अविरत संकट की स्थिति में बनाए रखता है। इस क्षेत्र में ये दोनों एक दूसरे के साथ जो व्यवस्था बना सकते हैं, उस पर ही राष्ट्रीय उत्तरजीविता अनवरत और प्रत्यक्ष रूप से टिकी होती है ।

महाशक्तियों ने अपने वैमनस्य उपशमन व्यवहार के अन्य सभी पहलुओं की अपेक्षा शस्त्र नियंत्रण व्यवस्था के संबंध में अधिक स्पष्ट से सहयोग किया है ताकि निर्णायक असमाहार्य संघर्ष को रोका जा सके। इस प्रकार 1972 की शस्त्र संधियों में उन्होंने अपने ही निम्नलिखित मानदंड निर्धारित किए थे जिनके अनुसार उनको आंका जाएगा। (i) दोनों देश इसे सुनिश्चित करें कि संधि वार्ताएं चलती रहेंगी, और (ii) एक अधिक स्थायी शस्त्र-नियंत्रण प्रणाली खोजी जाए जो बराबरी की गारंटी दे सके। संधि वार्ताओं ने 'रूस-अमेरिकी बातचीत की गति बनाए रखी।' इसके अतिरिक्त ऐसे समझौते भी किए गए हैं जिनके अनुसार बातचीत का क्षेत्र विस्तृत हुआ और दोनों पक्षों ने एक दूसरे की सामर्थ्य और इरादों को अधिक अच्छी तरह समझा जिससे मिथ्यानुमान के युद्ध प्रारंभ होने की संभावना कम हो गई।

लेकिन उनके सहयोग के स्वरूप को आसानी से सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता। वास्तव में सहयोग और प्रतियोगिता यहां बहुत सूक्ष्म रूप से मिली हुई हैं। हालांकि बड़ी शक्तियां, एकदम सीधे-सादे रूप में सहयोग कर सकती हैं, लेकिन केवल कमजोर राष्ट्रों की कीमत पर। उन्हें अधिक प्रभावी और एक दूसरे के साथ अधिक सुरक्षात्मक रूप से प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए

भी सहयोग करना पड़ता है, क्योंकि सहयोग के विकल्प निर्णायक रूप से भयानक हो सकते है । शस्त्र-नियंत्रण के इतिहास से कोई भी यह सोच सकता है कि महा-शक्तियों के बीच सहयोग की मात्रा दिनों दिन बढ़ी है, उत्तरोत्तर अधिक बड़े क्षेत्रों में समझौते किए गए हैं और प्रगति के इस इतिहास के चालू रहने की संभावना है क्योंकि महाशक्तियां अधिकाधिक उन खतरों को समझ रही हैं जिनका उन्हें सामना करना पड़ सकता है ।

यह सब सच हो सकता है लेकिन इसके अतिरिक्त इसके पीछे अधिकाधिक सूक्ष्म प्रकार की प्रतियोगिता की भावना भी है । वास्तव में, यह कहना अतिश-योक्ति नहीं है कि यदि प्रतियोगिता की धार इतनी तीक्ष्ण या इतनी सूक्ष्म न होती तो सहयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि न होती । इस अर्थ में प्रतियोगिता की तीव्र निहित भावना ने सहयोग को 'बनाए' रखा है । अतः शस्त्र-नियंत्रण को दुरभिसंधिपूर्ण व्यवहार के रूप में सबसे अच्छे ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है । वास्तव में शस्त्र नियंत्रण से महाशक्तियों के वैमनस्य उपशमन के व्यवहार के विशेष स्वरूप की स्पष्ट झलक मिलती है ।

संकट नियंत्रण

वैमनस्य उपशमन के संबंध में शस्त्र नियंत्रण के एकदम बाद संकट नियंत्रण की बारी आती है । ऐसे संकट में बड़ी शक्तियां समय समय पर विविध सामंजस्य स्थापित कर लेती हैं जिसमें उनके दुरभिसंधिपूर्ण व्यवहार का संकेत मिलता है । विदेशी नीति के संबंध में तो वे स्थिति को और अधिक बिगड़ने से रोकने के लिए लगभग पूर्ण समझौते से लेकर उसके निवारण के लिए अपूर्ण समझौते तक कर लेते हैं और उन्हें लागू कर देते हैं । जब 1972 में मास्को में उनकी बातचीत हुई तब 1970 में युद्ध के कगार तक पहुंचा जार्डन-सीरिया संकट उक्त दोनों बड़ी शक्तियों के नेताओं के दिमाग में ताजा था । उनके अनौपचारिक समझौतों में यह कहा गया कि 'दोनों पक्ष सुरक्षा परिषद् के संकल्प 242 के अनुसार मध्यपूर्व में शांतिपूर्ण समझौते के लिए अपने सहयोग की पुनः पुष्टि करते हैं ।" विज्ञप्ति में आगे यह भी कहा गया कि "इस प्रकार का समझौता मध्यपूर्व में स्थिति को सामान्य बनाने के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा और उसके अनुसार विशेषतः उस क्षेत्र को सैनिक कार्रवाई से मुक्त करने के उपायों पर विचार किया जा सकेगा ।"

'सामान्यीकरण' रूसियों का प्रिय शब्द है जो बर्लिन संकट के दौरान उभरा और इसका अभिप्राय है समझौते के लिए रूसी शर्तों को स्वीकार करना । जिस बातचीत के फलस्वरूप समझौता हुआ, उसको स्पष्ट करते हुए किसिंजर ने

कहा कि मध्य पूर्व की घोषणा उस क्षेत्र के लिए है जहां मतभेद बनाए रखने के स्थान पर अधिक सहयोग की संभावनाएं थीं । दोनों पक्षों ने शांतिपूर्ण समझौते की दिशा में बढ़ने को तरजीह दी । संयुक्त राज्य अमरीका ने यह अवश्य चाहा कि रूस तीन आधारभूत नियमों का पालन करे : पहला; रूस अपने अरब मित्रों पर यह प्रभाव डालने का प्रयत्न करेगा कि वे एक अन्य मध्य पूर्व युद्ध न शुरू करें, दूसरा; यदि एक और युद्ध के खतरे की संभावना होगी तो उसके शुरू होने से पूर्व रूसी सरकार अमेरिका सरकार को उसकी सूचना देगी, और तीसरा; यदि युद्ध शुरू हो जाता है तो रूस उसे सीमित रखने और समाप्त करने में संयुक्त राज्य अमरीका के साथ सहयोग करेगा ।

लेकिन यह स्पष्ट है कि संकट की स्थितियों में महाशक्तियों ने भी निहित रूप से बड़ी सावधानी पूर्वक भाग लिया और हमेशा नहीं तो कभी-कभी एक दूसरे के साथ उन्होंने ऐसा सहयोग भी किया जिससे उन दोनों को लाभ हुआ । उन्होने अपने सहयोगात्मक व्यवहार को प्रचार के उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जिसके समर्थन के लिए वैमनस्य उपशमन के प्रचलित अर्थ का सहारा लिया गया । ऐसा संभव है कि किसी विशेष संकट में सहयोग वास्तविक हो; और यह भी संभव है कि किसी अन्य संकट में ऐसा सहयोग उनके व्यवहार के अधिक विस्तृत आयाम का एक भाग हो । इसलिए, कोई भी यह कह सकता है कि वैमनस्य उपशमन शब्द न तो मात्र सहयोगात्मक व्यवहार (संकट की स्थितियों में भी) का द्योतक है और न ही प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार का । यह दोनों के सूक्ष्म मिश्रण का द्योतक है जिसे सुविधा के लिए हमने दुरभिसंधिपूर्ण व्यवहार का नाम दे दिया है ।

समग्र अन्तर्राष्ट्रीय यथास्थिति बनाए रखना :— समग्र यथास्थिति बनाए रखना वैमनस्य उपशमन व्यवहार का तीसरा वर्ग है । इससे संकट नियंत्रण व्यवस्था से इस अर्थ में आसानी से अलग किया जा सकता है कि इस व्यवस्था में राजनीतिक तनाव और संघर्ष के किसी भी क्षेत्र में बल प्रयोग नहीं किया जाता । लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इस प्रकार की समस्याएं महाशक्तियों के हितों और गतिविधियों को सदैव प्रभावित करती रहती हैं—विशेष रूपसे प्रत्याशित तनाव और राजनीतिक संघर्ष के सभी क्षेत्रों में ।

अत: यथास्थिति बनाए रखने में महाशक्तियां एक दूसरे को ठेलने और उकसाने, खींचने और दबाव डालने, चालबाजी करने और विस्थापित करने की बहुत अधिक कोशिश करती रहती हैं । लेकिन कुछ ऐसी सीमाएं हैं जिसे वे

पार करना नहीं चाहेंगी। आमतौर पर इस प्रकार की व्यवस्था बहुत खतरनाक होती है और इसके लिए अत्यधिक राजनयिक कौशल की आवश्यकता होती है। इसके लिए दूरदृष्टि और कल्पनाशील राजमर्मज्ञता की भी आवश्यकता होती है, लेकिन फिर भी महाशक्तियां समग्र यथास्थितियों को बनाए रखने के प्रयत्न में परिस्थितियों का लाभ अपने लिए उठाने की भी इच्छुक रहती हैं जिसके लिए वे दूसरी महाशक्ति को खुले आम चुनौती देती हैं या उस महाशक्ति को चुनौती देने के लिए अवसर या वैध कारण प्रदान करती हैं। एक दूसरे पर हावी होने के अपने प्रयत्नों में महाशक्तियां अंतर्राष्ट्रीय समाज के कमजोर वर्ग पर अपने कार्यों के परिणामों के संबंध में आंशिक रूप से या पूर्णतः इच्छुक हों —यह बहुत सीमा तक परिस्थितियों, दूरदृष्टि और उसकी राजमर्मज्ञता की कल्पनापरक पहुंच पर निर्भर करता है ।

आर्थिक व्यवस्था :— वैमनस्य उपशमन का अर्थतंत्र निरपवाद नहीं था। व्यापार और अन्य प्रकार का आर्थिक आदान-प्रदान 1920 से ही हर वैमनस्य उपशमन का भाग रहा था। इसके अतिरिक्त रूस ने सैन्य शक्ति की दृष्टि से अमेरिका के बराबर आने या उससे आगे निकलने के लिए चाहे जो कदम उठाए हों, लेकिन अर्थशास्त्र में वह अमेरिका से बहुत पीछे था। यही ठोस कारण था कि रूसो-अमेरिकी संबंध सामान्य बन रहे थे (स्टेविल 1975, पृष्ठ 35)।

इसके अतिरिक्त महाशक्तियों ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने नागरिकों और उनके दीर्घकालीन भविष्य के हितों के लिए आपसी आर्थिक सहयोग की महती आवश्यकता पर विचार करना शुरू कर दिया है। दोनों महाशक्तियों ने शायद आपसी आर्थिक और अन्य संबंधों की अत्यधिक लाभदायकता को अनुभव कर लिया है। उदाहरण के लिए यू० एस० के प्राधिकारियों ने संभवतः यह अनुभव कर लिया है कि रूस अपने देश में अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के कच्चे माल को यू० एस० के उद्योगों के लिए दे सकता है। अपने लिए सोवियत रूस ने अपने अपेक्षाकृत कम विकसित उद्योगों के विकास के लिए यू० एस० की औद्योगिक टेक्नालाजी से मदद लेने से हुए अत्यधिक लाभ का अनुभव कर लिया है। इससे भी ज्यादा सोवियत रूस के लिए यू० एस० ही ऐसा एक मात्र राष्ट्र है जिसके पास खाद्यान्न की काफी मात्रा फालतू है।

इस प्रकार के सहयोग के अतिरिक्त इनमें एक प्रकार की आर्थिक स्पर्धा है। सोवियत संघ अमेरिका के यूरोपीय मित्र राष्ट्रों के साथ राजनीतिक और आर्थिक संबंध इसलिए स्थापित करता है ताकि वह वहां अमेरिका की पश्चिमी

राजनीतिक गहरी घुसपैठ का प्रभावपूर्ण ढंग से मुकाबला कर सके। अन्ततः हालांकि महाशक्तियों के बीच विकासशील क्षेत्रों को दी जाने वाली सहायता में स्पर्धा आजकल काफी कम हो गई है लेकिन उस कारण से वह समाप्त नहीं हो गई है। वास्तव में जब भी कोई एक पार्टी सहायता देती दिखाई पड़ती है और दूसरी पार्टी उसे स्वतः वापस लेती प्रतीत होती है तो यह व्यवहार स्पर्धात्मक आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है।

इसे संक्षिप्त समीक्षा से वैमनस्य उपशमन के स्वरूप और कार्यप्रणाली के संबंध में तीन निष्कर्ष सामने आते हैं। पहला, वैमनस्य उपशमन का विकासक्रम सीधी रेखा में न होकर उतार-चढ़ाव वाला है। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मूल भावों में से एक है। अतः उसे निश्चित मापदंडों के स्थान पर चल कसौटी पर परखना चाहिए। वैमनस्य उपशमन ख्रुश्चैव की अधीनता में 1972 में या 1969 में या 1954 में शुरू नहीं हुआ था। यह सोवियत रूस के इतिहास की लगभग पूरी अवधि के दौरान मौजूद था। आधी शताब्दी से अधिक से अमेरिकी रूसी वैमनस्य उपशमन प्रक्रिया में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। ऐसे उतार-चढ़ाव कम-से कम पांच बार और यदि मौजूद चक्र को दोनों चरणों को अलग-अलग गिना जाए तो छह बार आए हैं जो इस प्रकार हैं; लेनिन वैमनस्य उपशमन, 1920; स्टालिन वैमनस्य उपशमन, 1935; डेविल का वैमनस्य उपशमन, 1941; ख्रुश्चैव का वैमनस्य उपशमन, 1954; ब्रेजनेव का वैमनस्य उपशमन, 1968—चरण एक; और ब्रेजनेव वैमनस्य उपशमन, 1972—चरण दो।

दूसरा, वैमनस्य उपशमन 'संघर्ष का संस्थापन' है। उसका स्थानापन्न नहीं है। वैमनस्य उपशमन न तो सौहार्द है और न ही उसका आरंभ। वैमनस्य उपशमन वह छूट है जो संघर्ष को कम खतरनाक स्तर पर जारी रखने की अनुमति देती है जबकि सौहार्द संघर्ष की समाप्ति और पूर्ण मैत्री तथा सहसंबंध की ओर बढ़ना है।

तीसरे, वैमनस्य उपशमन बातचीत की प्रक्रिया बन गया है। यह सौदेबाजी के बढ़ते हुए क्षेत्र के लिए वातावरण संबंधी ढांचा है जिसमें पश्चिम से रूस में आर्थिक, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी संबंधी साधनों का अंतरण सदैव शामिल है।

भयोपरति

-- मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ

भयोपरति संक्रिया दो व्यक्तियों अथवा दो समूहों में एक प्रकार का संबंध ही है और यह उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानव जाति । एक बालक अपने पिता की पुस्तकें इस डर से नहीं फाड़ता कि उसे अपने पिता की मार का भय होता है । एक कार चालक, सिपाही द्वारा चालान के भय से अपनी गाड़ी को गलत स्थान पर खड़ी नहीं करता । यदि पिता ने पुत्र को थप्पड़ की धमकी दी है तो उसमें स्पष्ट रूप से भयोपरति भय छिपा हुआ है । इसके अतिरिक्त गाड़ी चालक को दुर्घटना का भी भय बना रहता है, चाहे वह नियमों की कितनी भी उपेक्षा करे । इसी कारण वह चौराहे की 'लाल'–'हरी' बत्तियों का ध्यान सर्वदा रखता है । दूसरे शब्दों में सामाजिक जीवन में एक व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में इसलिए भयभीत होता है कि अमुक कार्य के परिणाम भयंकर होंगे; अथवा उसे वैधानिक दण्ड का भय रहता है या वह इसलिए भयभीत होता है कि किसी अन्य पुरुष ने उसे कोई काम करने अथवा न करने की धमकी दी है ।[1]

दो राजनीतिक इकाइयों के बीच, जिनमें से प्रत्येक प्रभुता-सम्पन्न एवं शस्त्रास्त्र से सुसज्जित है, स्पष्ट धमकी के अभाव में भी, भयोपरति तंत्र चलता रहता है । निश्चय ही आज के युग में यदि स्विट्जरलैण्ड पर आक्रमण हो तो वह अपनी रक्षा नहीं कर पाएगा । छोटे बंगला देश को भी सैन्य बल की आवश्यकता है । छोटा बड़ा कोई भी राज्य, आज बिना सैन्य बल के जीवित नहीं रह सकता । किसी भी राष्ट्र के आक्रमण को विफल कर देने की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि इस राष्ट्र की सरकार ने कैसे भौतिक साधन एकत्रित किये हैं और दूसरे देशों के नेताओं की दृष्टि में वहां की जनता के साहस एवं एकता का क्या मूल्य है ?

15—172 एम०आफ०एच०आर०००डेव्ह०(एन०डी०)/87

एक तटस्थ राज्य भयोपरति पर निर्भर होता है । वह अपनी प्रेच्छा दूसरे राज्यों पर थोपना नहीं चाहता । वह केवल यही चाहता है कि उसे शांतिपूर्वक रहने दिया जाए । भयोपरति की क्षमता रक्षा और आक्रमण शक्ति के मध्य की स्थिति है । उसे सही अर्थ में रक्षात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो राज्य दूसरे को भयभीत करता है, वह उसके सुदूर भौगोलिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप कर सकता है । उसे पूर्ण रूप से आक्रामक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह दूसरे राष्ट्र के आक्रमण को रोकने का प्रयास है, न कि उसको उत्तेजित करने का। भयोपरति शक्ति विशुद्ध रक्षात्मक उस समय हो जाती है, जब एक राज्य संभावित आक्रमण को रोकने का मात्र प्रयास करता है । केवल रक्षात्मक युद्ध प्रक्रिया के दृष्टिकोण से निर्मित होने वाला सैन्य बल रक्षात्मक राजनयिकता से मिलता-जुलता है । ऐसी राजनयिकता की सम्भावना इस पर निर्भर है कि तटस्थ राज्य की सैन्य क्षमता कितनी है तथा इसके विपरीत आक्रामक को उस राज्य पर विजय से क्या लाभ होने की आशा है ?

भूतकाल में भयोपरति के साधन, तटस्थ राष्ट्र के लिए रक्षात्मक होते थे । मैजीनाट लाइन के कारण जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने तथा बेनजिंग को अपने अधिकार में करने से नहीं हिचका। रेमण्ड ऐसन का कथन है कि एक महाशक्ति, अधिकांश में अपने मित्र राष्ट्र पर विपक्षी द्वारा आक्रमण रोकने के लिए एक ऐसा सैन्यबल रखना वांछनीय समझती है जो आक्रमण करने में समर्थ हो । एक रक्षात्मक राजनयिकता (अर्थात् वह राजनयिकता जो यथास्थिति बनाये रखना चाहती है) का यह अर्थ नहीं है कि सेना को रक्षात्मक कार्यवाही तक ही सीमित कर दिया जाए।[2]

सन् 1938 में फ्रांस ने भय प्रदर्शित करके हिटलर को चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने से रोकना चाहा। किन्तु उसने इस भय के बावजूद भी चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर ही लिया । फ्रांस और ब्रिटेन लाचार होकर अपने वायदे को भूल बैठे। 1939 में ग्रेटब्रिटेन और पोलैंड ने परस्पर सहायता की संधि की थी । इसके द्वारा वे हिटलर को भयभीत करना चाहते थे । इंग्लैंड ने अपने वचन को पूरा किया । उस समय पोलैंड से संधि के कारण इंग्लैंड के पास दो ही

विकल्प रह गये थे । जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण करने की दशा में या तो वह अपयश का भागी बने या युद्ध करे । अंत में इंग्लैंड ने युद्ध को ही चुना ।

परमाणु युग में भयोपरति प्रक्रिया का जितना गहन अध्ययन हुआ है इतना संभवतः पहले कभी नहीं हुआ था । हिटलर इससे भलीभांति परिचित हो चुका था कि इंग्लैंड और फ्रांस दोनों ही की यह उत्कट अभिलाषा थी कि वे द्वितीय महायुद्ध से बचें क्योंकि यह स्पष्ट था कि विजयी होने पर भी युद्ध फ्रांस को दुर्बल बना देगा तथा अंग्रेजी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाएगा । मात्र धमकी देना क्रिया की तुलना में कम विश्वसनीय है । यह बात धमकी देने वालों के हितों के विपरीत ही पड़ती है । फिर भी 1939 में धमकी का कार्यान्वयन न तो निरर्थक ही था और न ही असंभव, क्योंकि जर्मनी के सम्मुख घुटने टेक देने की अपेक्षा इंग्लैंड और फ्रांस दोनों के लिए युद्ध करना ही अधिक भयंकर था । इसका सीधा अर्थ होता हिटलर के साम्राज्य का विस्तार । यह युद्ध व्ययशील तो था किंतु भयंकर नहीं । इसमें यह भी संभावना थी कि एक न एक पक्ष विजयी अवश्य होगा । लंदन और पेरिस के नेता बिना युद्ध के शांति के पक्ष में थे । वे जानते थे कि युद्ध में विजय के बाद भी परिस्थिति युद्धकाल से भी अधिक गंभीर हो जाएगी । साथ ही, वे इससे भी अनभिज्ञ न थे कि शांति भीख मांगकर प्राप्त नहीं की जा सकती और युद्ध आत्मसमर्पण करके नहीं टाला जा सकता । हिटलर के प्रति सैन्य प्रतिरोध न करने का परिणाम सर्वनाश होगा । हिटलर को धमकी में विश्वास न होने के भी कारण थे । किन्तु फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने अपनी धमकी को विवेकपूर्ण ढंग से क्रियान्वित किया । आज परिस्थिति क्या होगी जबकि हमारे पास परमाणु बम और ताप नाभिकीय शस्त्र हों, जो आज विश्व में बढ़ते जा रहे हैं । वे केवल महाशक्तियों की ही धरोहर नहीं रह गये हैं । उनकी तकनीक अन्य छोटे, मंझौले और बड़े राज्यों में तीव्र गति से फैलती जा रही है और उनका निर्माण भी । आज इनके निर्माण से विश्व अपने को असुरक्षित पा रहा है । आईंस्टाइन ने यह सोचा था कि सम्भवतः इन परमाणु शस्त्रों के विनाशकारी प्रभाव के भय से विश्व इन शस्त्रों को तिलांजलि दे देगा । कुछ समय के लिए ऐसा आभास भी हुआ, किन्तु वह

आशा अधर में ही लटकी रह गयी और परमाणु शस्त्रों का निर्माण तीव्रगति से बढ़ रहा है। आज विश्व विनाश के कगार पर बैठा है।

परमाणु भयोपरति विचारधारा का विकास :—1945 के बाद परमाणु भयोपरति प्रक्रिया, अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की मुख्य आधारशिला बन गई। किंतु उससे संबद्ध भयंकर परिणाम तथा नैतिक दृष्टिकोण से उसकी कटु आलोचना भी हुई। इस नीति के पक्ष एवं विपक्ष में निरंतर साहित्य पढ़ने को मिल रहा है। कुछ लोगों का विश्वास है कि उसके द्वारा यद्यपि हिंसा समाप्त तो नहीं होगी किन्तु कम अवश्य हो सकेगी। कुछ लोग इसकी घोर भर्त्सना करते हुए यह कहते हैं कि भयोपरति सिद्धांत का अर्थ है निर्दोष नागरिकों की सामूहिक हत्या और ऐसी इच्छा।[3] इसके अतिरिक्त शस्त्र नियंत्रण और सीमित युद्ध के सिद्धांत भयोपरति सिद्धांत के ही अनुलग्नक हैं। एक ओर शस्त्र नियंत्रण उसमें स्थिरता लाता है तो सीमित युद्ध भयोपरति अवधारणा को सशक्त बनाता है। ऐसा कौन-सा कारण है कि आज युद्धोपरांत यह नीति इतनी महत्वपूर्ण हो गई, जबकि सदा से ही अन्तर्राज्यीय संबंधों में इसकी विशेष भूमिका रही है।

इसका सहज उत्तर है—परमाणु शस्त्रों का अम्बार। आज शस्त्र इतने घातक और सुदूर तक मार करने वाले हैं कि विपक्षी को युद्ध क्षेत्र में पराजित करने की आवश्यकता नहीं है। वे सीधे ही शत्रु के औद्योगिक संस्थानों, नागरिकों एवं प्रशासनिक तंत्र को नष्ट करने में सक्षम हैं। इनके निर्माण से पूर्व रणक्षेत्र में विपक्षी की थल, नौ तथा वायु सेना को नष्ट करके आक्रामक उसके नगरों, नागरिकों तथा सैन्य संस्थानों की बात सोच सकता था। परमाणु शक्तियों का लक्ष्य अधिकांश में आज युद्ध को रोकना है, न कि उसमें विजय प्राप्त करना।

केवल परमाणु हथियारों के संबंध में ही भयोपरति नीति लागू नहीं होती। यदि महा विनाशक शस्त्र इतनी शीघ्रता से विकसित न हुए होते तो भी यह सम्भव था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, भयोपरति नीति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती। उदाहरणार्थ पश्चिमी संधि का मूल उद्देश्य परंपरागत ही था। उसके द्वारा अमरीकी शक्ति अत्यधिक जर्जर पश्चिमी यूरोपीय राज्यों के साथ इसलिए गठबंधित हो

गई कि सोवियत संघ की बढ़ती हुई शक्ति को रोका जा सके । 1949 की नार्थ एटलांटिक ट्रीटी (नाटो) का मूलभूत आधार यही था कि पश्चिमी यूरोप के विरुद्ध सोवियत संघ के आक्रमण को रोकने का एक मात्र उपाय यही है कि उसको यह स्पष्ट कर दिया जाए कि रूस द्वारा पश्चिमी राज्यों पर आक्रमण का अर्थ होगा अमेरिका से शत्रुता मोल लेना । जर्मनी और जपान के विरूद्ध अमरीकी यौद्धिक क्षमता की धाक विश्व में जम चुकी थी । बहुधा यह समझा जाता है कि अमेरिका द्वारा यूरोप की सुरक्षा की गारंटी मूल रूप से परमाण्विक ही न थी क्योंकि वह समय परमाणु युग के पूर्ण विकास का प्रारम्भिक काल था। उसे बाद तापनाभिकीय शस्त्रों का आविष्कार हुआ और आणविक बाहुल्य उभरा ।[4]

भयोपरति प्रक्रिया पर इतने शीघ्र ही बल देने का प्रमुख कारण यह था कि युद्धकाल में तुष्टीकरण एवं शमन नीति का अनुकरण किया गया था । पश्चिमी गणतंत्रीय राज्यों ने 1930 के दशक में नाजी जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति को अपनाया, फलतः हिटलर नम्र होने की अपेक्षा अधिक विस्तारवादी होने लगा और विश्व को युद्ध से न बचाया जा सका । यही कारण है कि युद्धोपरान्त तुष्टीकरण की नीति अत्यधिक बदनाम हो गई और उसको त्यागना पड़ा । अतः युद्ध के बाद 'म्यूनिख संधि' जैसी वार्ता के लिये कोई स्थान न रहा।[5]

पश्चिमी सरकारों के हृदय में यह भावना इतनी जम गई कि पूर्व एवं पश्चिम के संबंध बिगड़ते गये और दोनों महाशक्तियों के बीच एक खाई उत्पन्न हो गई । फलतः अमरीका ने रूस के प्रति भयोपरति प्रक्रिया को अपनाया । अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाये रखने, युद्धों से बचने तथा अपने प्रमुख सुरक्षा हितों की रक्षा करने के लिये भयोपरति एक साधन के रूप में उभरी । एक समय तो ऐसा आया कि साम्यवादियों से पश्चिमी राष्ट्रों की सुरक्षा के लिये यह एक रामबाण सिद्ध हुआ। निसंदेह भयोपरति का सिद्धांत पनपा और बढ़ा । बौद्धिक परिवेश के संदर्भ में यह वह समय था जब शीतयुद्ध की समस्या सर्वोपरि थी और दोनों महाशक्तियों में परस्पर द्विध्रुवीकरण के संबंध चल रहे थे । इस सदी के पूर्व दशक में अमेरिका का मुख्य उद्देश्य अपने घर तथा अपने मित्र यूरोपीय तथा ऐशियाई देशों की रक्षा का था । भयोपरति प्रक्रिया का साहित्य ऐसी ही सुरक्षा समस्याओं से भरा पड़ा है ।

यद्यपि मूलरूप से भयोपरति सिद्धान्त को महाशक्तियों के ही परस्पर संबंधों के संदर्भ में सोचा जाता है, किन्तु उसका क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है । भयोपरति प्रक्रियाएं एवं सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई अनोखी वस्तु नहीं हैं और न यह केवल युद्धोपरांत की ही देन है । मानव और पशु जगत दोनों ही में भयान्वित करना एक प्रकार का साधारण व्यवहार है । भयोपरति प्रक्रिया मात्र 'प्रतिरक्षा विशेषज्ञ' या परमाणु युद्ध नीति विशेषज्ञों के ही क्षेत्र का विषय नहीं है । भयान्वित करके अपनी बात मनवा लेना या कार्य न करने देना एक साधारण सा व्यवहार है । इस सूत्र को समझना ही भयोपरति सिद्धांत का मूल आधार है ।

परमाणु भयोपरति सिद्धांत की अवधारणा तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष

यह एक सुपरिचित और भ्रांतिरहित सत्य है कि ये सर्व विनाशी शस्त्र अतुलनीय हैं । मानव इतिहास में संभवतः ऐसे विनाशकारी शस्त्रों का कभी प्रयोग नहीं हुआ । किन्तु सैन्य क्रांति का यह अंतिम चरण नहीं है । आज के शस्त्र बीस वर्ष पुराने शस्त्रों से लाखों गुने शक्तिशाली हैं । आज संख्या का स्थान गुणा ने ले लिया है । दस वर्ष से कम के अन्तराल में ही किलो (हजार) टन बमों का स्थान मेगाटन (लाख टन टी० एन० टी०) बम ले चुके हैं । बमवर्षक विमान का स्थान 'डेलिवरी वेहीकिल' एवं एम० आई० आर० वी० (मल्टीपिल इन्डिपेन्डेन्टली टार्गेटेड रीऐन्टी वेहिकिल) ने ले लिया है । जहां पहले सहस्रों बमवर्षक विमानों की आवश्यकता होती, वहां अब एक उपयुक्त प्रक्षेपास्त्र ही पर्याप्त है । गति सटीकता और मारक दूरी बढ़ गई है । ऐसे ही विनाशकारी युग के प्रादुर्भाव के कारण तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर के ही शब्द कुछ आशाप्रद लगते हैं कि शांति के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है या युद्ध अब असंभव है ।[7]

"पानाभिकीय भयोपरति"—शब्दों में विरोधाभास है । भयोपरति प्रक्रिया में ताप नाभिकीय शस्त्रों द्वारा आक्रमण या प्रत्याक्रमण की धमकी देना निहित है । यदि धमकी को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता तो उसके भयोदाहन का प्रश्न कैसे उठ सकता है ? यदि धमकी की प्रक्रिया संपन्न हो सकती है तो इसका अर्थ है दोनों ही पक्ष भयोपरति प्रक्रिया से एक दूसरे को लक्ष्य बना सकते हैं । परमाणु शस्त्रों

के प्रयोग न करने की बात भौतिक होने की अपेक्षा नैतिक अधिक है। यह कहा जा सकता है कि धमकी को कार्यान्वित करना संभव है । यदि ऐसा न होता तो भयोपरति प्रभावहीन हो जाएगी । जिनके पास इन दानवीअस्त्रों के अम्बार हैं, उन राज्यों की हार्दिक इच्छा यही है कि उनका प्रयोग न हो ।

इतिहास में यह प्रथम उदाहरण है कि राष्ट्र, युद्ध की तैयारी में लगे हैं, जिसे वे कभी लड़ना नहीं चाहते हैं । आज राष्ट्र इतनी विनाशकारी शक्ति के होते हुए भी स्वेच्छा से अपने पर अंकुश लगाये हुए हैं । राष्ट्र, कल के लिये तो परमाणु अस्त्रों का अम्बार लगा रहें हैं, किन्तु उनकी रुझान परंपरागत अस्त्रों की ओर है । 'मानव ने परमाणु बम का निर्माण तो कर लिया है, किन्तु वह उसके साथ सुरक्षित रहने के साधन नहीं ढूंढ पाया है[8]। इसमें संदेह नहीं कि तापनाभिकीय शस्त्रास्त्रों का प्रभाव यह है कि वे रूस और अमेरिका जैसी महाशक्तियों को सम्पूर्ण युद्ध में अपने आपको झोंकने से रोके हुए हैं । इनके प्रयोग से दोनों को आत्मविनाश का भय है । दोनों महाशक्तियों में इसी कारण संयम बना हुआ है । यही भय, शांति का कारण है अथवा युद्ध सीमित हो चले हैं; विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद ।

परमाणु ऊर्जा दुधारी तलवार है । इसमें विकास और विनाश दोनों ही निहित हैं । अतः वैज्ञानिक और समाजशास्त्री दोनों ही इस कुचक्र में फंसे हुए हैं । इनकी विनाशकारी प्रकृति से अन्तर्राष्ट्रीय संबंध प्रभावित हो चुके हैं । इन हथियारों के सामने मानव, अस्त्र होते हुए भी निहत्था सा महसूस कर रहा है । बर्टेन्ड ब्रोडी ने कहा है कि परमाणु बम के कारण प्रमुख परिवर्तन यह नहीं हुआ कि युद्ध अधिक हिंसक हो गया है, अपितु यह हुआ है कि इससे संपूर्ण हिंसा क्षणों में संकेन्द्रित हो जाती है[9]। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि परमाणु तकनीक विश्व में तीव्र गति से फैल रही है और आज विश्व के अनेकों राज्य परमाणु बम बनाने में सक्षम हैं । प्रश्न उठता है कि इससे भयोपरति प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? भयोपरति सिद्धान्त के द्वारा हम आणविक आक्रमणों को रोकने की बात सोचते हैं । ऐसा करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं । पहली, यह एक या दो परमाणु शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों से ही संबंधित हो । दूसरी, इन राष्ट्रों में परमाणु शस्त्र

उन लोगों द्वारा नियंत्रित हों जिनको अपने राष्ट्र को सुरक्षित रखने की चिंता है । कोई देश किसी भी आक्रमण का प्रतिकार कैसे कर सकता है जब तक वह यही नहीं जान पाएगा कि आक्रामक कौन है ? कैसे हम 'अपराधियों' या एक छोटे धर्मान्ध गुट को भयान्वित कर रोक सकेंगे ? अन्तर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा भी परमाणु हथियारों की होड़ को कम करना कठिन ही होगा । एक दो राष्ट्रों के मतभेदों को समाप्त किया जा सकता है किन्तु अनेकों परमाणु हथियारों से लेस राष्ट्रों को एकमत करना असम्भव ही होगा । फलतः भयोपरति पर शांति के लिए निर्भर रहना एक समस्या होगी । शस्त्र नियंत्रण में इस बात का ध्यान रखना होगा । साथ ही साथ इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि परमाणु अप्रचुरण संधि (एन० पी० टी०) त्रुटिपूर्ण है। इसमें पक्षपात, असमानता एवं भेदभाव की दुर्गन्ध आती है । महाशक्तियों को केवल समस्तरीय प्रचुरण की चिन्ता है न कि विषमस्तरीय प्रसार की । परिपक्वता किसी भी राज्य का एकाधिकार नहीं है न कोई राष्ट्र अपने विनाश की अभिलाषा रखता है । इसी कारण से भारत ने एन० पी० टी० पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं ।† किन्तु भारत की परमाणु नीति स्पष्ट है कि परमाणु विस्फोट केवल शान्ति कार्यों में प्रयुक्त होगा न कि बम निर्माण में । किन्तु सर्वदा और सभी परिस्थितियों में यह नीति घातक सिद्ध हो सकती है । हमें दूसरे विकल्प भी अपने हाथ में रखने चाहिएं।

हेरल्ड लेसविल[10] और जैकब वाइनर[11] तथा कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि यदि रक्षा के लिए परमाणु हथियारों का प्रयोग किया जाए तो वास्तव में रक्षा के लिए कुछ शेष ही नहीं रहेगा । इन अस्त्रों से बचाव न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शक्ति के स्वरूप में ऐसा परिवर्तन हो गया है, जिसके कारण आधुनिक राज्य-प्रणाली के पूर्व से चला आ रहा उन दोनों का मूल स्वरूप ही परिवर्तित हो गया है । आज यह दशा है कि अधिक सुसंगठित और शस्त्रसज्जित राज्य को भी नष्ट किया जा सकता है । आधुनिक राज्य का मुख्य वैदेशिक कार्य रक्षा या बचाव ही रह गया है क्योंकि अभी तक नये अस्त्रों का कोई उपयोग नहीं है, अतः राज्य का यह कार्य अब लुप्त सा हो गया है । आज एक विरोधाभास का वातावरण है । राष्ट्र मूल्यवान हथियार इस प्रबल इच्छा से खरीद

†See further chapter on Disarmament & Arms Controlled.

रहे हैं कि उनका प्रयोग न हो । हम कुछ हथियारों को इस अभिप्राय से सीमित कर रहे हैं कि उनका स्थान नये शस्त्र ले सकें। क्या सत्ता की राजनीति लुप्त हो चुकी है ? किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता । आज समस्या यह है कि नई और परम्परागत सत्ता की राजनीति में किस प्रकार से तालमेल बैठाया जाए ? शक्ति राजनीति का एक नया रूप उभर रहा है । विश्व की अधिकांश शक्ति और प्रभाव, दो महाशक्तियों में केन्द्रित हो चुके हैं । पूर्व के बहुध्रुवीकृत जगत और आज के जगत में यह अन्तर हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप प्रमुख रूप से इस द्विध्रुवीय विश्व के संकेत पर चल रहा है।† इसे जान हर्ज ने 'परमाणु युग की अनिश्चितता' की संज्ञा दी है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय जगत की रूपरेखा ही जटिल हो गई है[12] ।

आज के संदर्भ में "भयोपरति" का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय नीति निर्धारकों पर, परमाणु हथियारों की तकनीक का संभावित प्रभाव क्या होगा ? उनके पास कौन से विकल्प होंगे, जिनको वे चुन सकेंगे । इन्हीं प्रभावों की पृष्ठभूमि में वे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का परिचालन कर सकेंगे । परम्परागत रूप से राष्ट्र नीति संचालन में, राष्ट्र के कर्णधार 'युद्ध अवलम्बन' को एक प्रभावी विकल्प मानते थे । वे क्लाजविट्ज की इस मान्यता के अनुयायी थे कि राष्ट्र नीति को क्रियान्वित करने के लिये युद्ध एक साधन है । किन्तु इन शस्त्रों के कल्पित प्रभाव ने, विदेश नीति-संचालन के लिये उन्हें एक नया विकल्प प्रदान किया है । इस विकल्प परिवर्तन का मूल तात्पर्य यह है कि वे सैन्य अतिक्रमण के विकल्प को अपने विचारों की परिधि से अलग करने का प्रयास करना चाहते हैं । अतः सशस्त्र आक्रमण की संभावना कम हो गयी है । भयोपरति प्रक्रिया का एक भिन्न ही प्रकार का प्रभाव है । वह प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से दंडित या वंचित करने की धमकी पर निर्भर है । यह मूल रूप से पक्ष 'क' का यह प्रयास है कि वह पक्ष 'ख' को वह कार्य करने से रोके, जिसे 'क' अवांछनीय समझता है । इस कार्य के लिये 'क' पक्ष 'ख' को यह धमकी देता है कि यदि उसने अमुक कार्य किया तो 'ख' को अमान्य मूल्य चुकाना पड़ेगा[13] ।

---

†Henry Kissinger-Nixon's scenario of an emerging 5-power poler world leading to greater stability USA, USSR China, Japan & Europe) has not yet replaced the Bi-Polar instability of 1970s Ed.

यह परिभाषा प्रभावी नहीं है, किन्तु फिर भी यह भयोपरति धारणा को प्रदर्शित करने में सफल है । भयोपरति करके 'क' पक्ष 'ख' पक्ष के इरादों एवं वास्तविक व्यवहार को एक विशेष मोड़ दे देता है —यह दिशा है अकर्मण्यता की । उसके अतिरिक्त प्रभावित करने का प्रयास एक मनोवैज्ञानिक धारणा है । भयोपरति स्त्रातजी 'ख' के मस्तिष्क में एक ऐसा भूत खड़ा कर देती है कि वह उस परियोजना को त्याग देता है जिसको क्रियान्वित करने की सोच रहा है । दूसरे शब्दों में 'ख' किसी कार्य को करना इसलिए छोड़ देता है कि उसके दिमाग में यह बात जमा दी जाती है कि अमुक कार्य उसके लिए घातक और अहितकर सिद्ध होगा । भयोपरति प्रक्रिया में अनुशासित या दंडित करने की अपेक्षा 'धमकी' देना निहित है । इस प्रकार उस दल को जिसके विरुद्ध भयोपरति प्रक्रिया प्रयोग में लाई जाने वाली है, सभी प्रेरक प्रदान किये जाते हैं, जिससे वह कार्यक्रम करने से अलग रहे । भयोपरति संचालन में जिस पक्ष के द्वारा भयोपरति क्रियान्वित की जाती है उसके और विपक्षी के व्यवहारों में घनिष्ट संबंध होता है । विशेष रूप से भयोपरति करने वाले पक्ष का व्यवहार विपक्षी के कार्यों पर अधिक निर्भर करता है । जैसे ही भयोपरति स्थिति स्थापित हो जाती है, वैसे ही 'क' पक्ष 'ख' पक्ष की पहल के अनुसार ही उसे दंडित करेगा ।

इस प्रतिक्रियाशील तत्व के कारण धमकी का रूप, भयोपरति में प्रतिकार करने पर दंडित करने का हो जाता है । किन्तु यह सर्वदा सत्य नहीं है । इसे भली प्रकार स्पष्ट करने के हेतु भयोपरति प्रक्रिया पर सविस्तार विचार करना होगा । अभी तक भयोपरति सिद्धान्त को साधारण और प्राथमिक दृष्टिकोण से आंका गया है । इस स्त्रातजी के क्रियान्वयन में अनेक जटिलताएं और उलझनें सामने आती हैं । उपर्युक्त व्याख्या तो अत्यंत सरल दिखाई पड़ती है । इस संदर्भ में क्लाजविट्ज के शब्द कि 'स्त्रातजी में प्रत्येक वस्तु सरल दिखती है, किन्तु वह उतनी साधारण नहीं होती है,' 'सत्य' से प्रतीत होते हैं ।

इस कथन में सत्यता है कि जो कार्य राजनीति में भय द्वारा प्रारंभ होते हैं, उनका अंत प्रायः मूर्खतापूर्ण ही होता है । जेम्स ई० डाटी[14] ने कहा है कि परमाणु बम के निर्माण को तीस वर्ष से भी अधिक हो चुके हैं । परमाणु हथियारों का मानव मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके बारे में अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं । इन हथियारों के

कारण सरकारें अपनी विदेशी नीति के संचालन में अधिक सतर्क हो गई हैं अथवा उनके कारण वे अधिक लापरवाह होती जा रही हैं जिससे तनाव और भय के बढ़ने के कारण युद्धों की सम्भावना बढ़ेगी या इनके घातक दुष्परिणामों के कारण युद्धों का भय कम हो जाएगा । कुछ लोगों का तर्क है कि परमाणु हथियारों के अविवेकी एवं असंगत रूप से एकत्रित भंडारों ने, अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक निर्णायकों को सच्चे हृदय से इस बात पर सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि वे युद्धों की समस्या को ठीक से समझें । फलतः उन्होंने भयोपरति प्रणाली को युद्ध प्रक्रिया के स्थान पर स्वीकार कर लिया है । दूसरे पक्ष का मत है कि मानव इन शस्त्रों के कारण आत्म-विनाश के कगार पर खड़ा हो गया है । महाशक्तियां अपनी सुरक्षा का आधार यदि इन वीभत्स और परस्पर अतिविनाश के विरोधाभासी सिद्धांतों को मानती हैं तो यह उनकी मूर्खता ही कही जाएगी । मनुष्य के अवचेतन मन द्वारा धमकी को स्वीकार न करना या यह सोचना कि वे शस्त्र कभी प्रयुक्त नहीं होंगे, एक दिन भयंकर सिद्ध हो सकता है ।

परमाणु हथियारों तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में मनोवैज्ञानिक तत्वों के प्रभाव का हमारा वैज्ञानिक ज्ञान, दुर्भाग्य से बहुत कम है । अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय या अन्य स्तरों पर राजनीतिक निर्णय मात्र मनोवैज्ञानिक आधार पर ही निर्भर नहीं होते । यद्यपि मनोवैज्ञानिक तत्व किसी व्यक्ति या समाज के व्यवहार के लिए महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वे समस्त छवि का एक अंग मात्र हैं । इसका हमारे पास कोई अनुभवगत प्रमाण नहीं है कि परमाणु ध्वंसाग्रों के उपलब्ध भण्डार से युद्ध रुक जाएंगे और सभ्यता का विनाश बच सकेगा ।

यह कहना आम बात है कि परमाणु ऊर्जा, परमाणु हथियार और परमाणु युद्धों का भय विश्व में छाया हुआ है । प्रश्न यह उठता है कि क्या यह भय राजनीतिक रूप से प्रभावी है और रहेगा ?–यह सत्य है कि कालान्तर में यह भय एक स्तरीय नहीं रहेगा ? किन्तु यह देखना है कि किस सीमा तक नीति निर्णायकों तथा राजनीतिक समूहों के तर्क संगत एवं असंगत दोनों ही प्रकार के भय सरकारों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं क्योंकि उन विशिष्ट वर्गों का ही अभी तक परमाणु हथियारों पर नियंत्रण एवं अधिकार है । ऐसे जटिल प्रश्नों को कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है । अमरीकी जनता ने 'रेडियो

ऐक्टिव फालआउट' के भय के कारण वायुमंडल में परमाणु हथियारों के परीक्षण पर आपत्ति उठायी थी। इसमें उन्हें प्रशासकीय अधिकारीगण और कांग्रेस का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इसी कारण 1963 में परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (न्यूक्लीयर टेस्ट बेन ट्रीटी) हुई। पश्चिम जर्मनी में 'नाटो' द्वारा सैन्य अभ्यासों के परिणामों के प्रकाशन की तीव्र आलोचना कुछ काल तक हुई। इन अभ्यासों में परमाणु हाथियारों का प्रयोग काल्पनिक विशाल स्थलीय आक्रमणों को विफल करने के लिए सामरिक स्तर पर हुआ। किन्तु इससे उन सरकारों की दृष्टि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, जो 'नाटो' की परमाणु भयोपरति स्त्रातजी को सुदृढ़ बनाना चाहती थीं। वर्तमान काल में उन्हें इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प भी नहीं दिखाई देता। जापान ही एक ऐसा देश था जिसने युद्धकाल में परमाणु हथियारों की विनाश लीला देखी थी। अतः उसे भौतिक और राजनीतिक दृष्टि से इन शस्त्रों के प्रति घोर घृणा हो गई है। किन्तु फिर भी वह एक और अमरीकी रक्षा नीति द्वारा अपनी सुरक्षा पर निर्भर है और दूसरी ओर अन्य सुरक्षा विकल्पों को भी अपने हाथ में रखे हुये हैं। यह उस समय के लिए है जब अमरीकी सुरक्षा गारंटी अप्रभावी हो जाएगी। इसलिए ही उसने परमाणु प्रचुरण संधि (एन० पी० टी०) की पुष्टि नहीं की है[15]।† इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रजातांत्रिक देशों में मनोवैज्ञानिक तत्व जनता, राजनीतिक वर्ग तथा सरकारी निर्णायकों को अनेक तरीकों से प्रभावित करते हैं। अप्रजातांत्रिक राष्ट्रों में 'सरकार' और जनता में पारस्परिक तालमेल कम होता है। सरकार की नीति पर जनता का प्रभाव कम पड़ता है। आज इस बात को सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं कि जिनके पास प्रकट रूप से पर्याप्त परमाणु सैन्य क्षमता है, उन सभी सरकारों के निर्णय लेने वाले घटक भयोपरति प्रक्रिया को अमूल्य समझते हैं। इस विश्वास के आधार पर ही इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार आवश्यक है। (सविस्तार वर्णन के लिये देखें, डार्टी का लेख)

The Psychology of Deterence : G. H. Snyder, Deterrence and Defence : B. M. Russel, Power and Community in world politics) Ch. 3 "Pearl Harbow : Deterence Theory and Decision Theory." J. de Rivera. The Psychological Dimensions of Foreign Policy).

---

†It may however be noted that Japan has ratified the N P T in 1979. Ed.

विवेक की मान्यता :—भयोपरति साहित्य में निर्णायकों की समझ का एक मानपदंड है, जिसके विरूद्ध आचरण का मूल्यांकन भी किया जा सकता है । भयोपरति सिद्धांत में विवेकी निर्णायक के लिए यह मान्यता है कि वह ऐसी परिस्थितियों में युद्ध प्रारम्भ करने में संकोच करेगा जिससे आक्रमण करने का मूल्य इस प्रक्रिया से प्राप्त लाभों से अधिक हो । इस समझदारी का अर्थ है ऐसे व्यवहार से बचना जिसमें लाभ की अपेक्षा हानि की आशंका अधिक हो । विदेशी नीति निर्माण के ऐसे प्रयोगाश्रित अध्ययन अधिक नहीं हैं । किन्तु जो कुछ भी अध्ययन उपलब्ध हैं, वे इस नीति प्रक्रिया के लक्ष्य के वर्णन में संदेह उत्पन्न करते हैं (देखें, स्नाइडर और पेज 1958; हालस्टी 1962) ।

राजनीतिक और सैन्य विश्लेषक, परमाणु भयोपरति प्रक्रिया को, स्त्रातजिक दृष्टि से, 'समस्तरीय' या 'साम्य' विश्व में कारगर मानते हैं । यह मान्यता है कि महाशक्तियों के कर्णधार कभी भी परस्पर निश्चित विनाश की कार्यवाही के तर्कसंगत राजनीतिक लक्ष्य स्वीकार नहीं करेंगे । मेसलो[16] के मानविक मनोविज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी राजनीतिक निर्णायक वर्ग, जो अपने समाज के कल्याण के लिये उत्तरदायी हैं, एक 'रक्षाखोजी तंत्र' बन जाते हैं और उनके सभी घटक 'मुख्यरूपेण रक्षा खोजी औज़ार' के रूप में कार्य करते हैं । मेसलो का यह भी कथन है कि "लगभग प्रत्येक वस्तु रक्षा और बचाव की तुलना में कम महत्वपूर्ण हो जाती है ।" इससे यह आशा की जा सकती है कि वाशिंग्टन, मास्को और पीकिंग में विवेकी राज्य कर्णधार अपने राष्ट्रों को युद्ध में झोंकने से इसलिए कतराएंगे कि रण-क्षेत्र में लड़ने वाले सैनिकों की भांति ही वे और उनके परिवार भी परमाणु हथियारों से नष्ट हो सकते हैं ।

कभी-कभी अविवेक भी व्यक्तियों के निर्णय को प्रभावित कर सकता है । सर्वविनाश के आतंक को देखकर शस्त्र परिसीमन और संघर्ष नियंत्रण पर बल पड़ेगा तथा शांतिमय आर्थिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक और राजनीतिक सहयोग के विकास से प्राप्त लाभों की अवहेलना न हो सकेगी । इस आधार पर यह भी आशा की जा सकती है कि परमाणु आतंक संघर्ष रोकने में प्रभावशाली सिद्ध होगा और विपक्षी को किसी काम के लिए बाध्य करने के निमित्त उसका प्रयोग कभी नहीं होगा ।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय सैन्य स्त्रातजिक स्थिति चिंता का विषय नहीं । इसकी चिंता सर्वदा बनी रहती है कि किन परिस्थितियों में मानव विवेक-भ्रष्ट हो सकता है । तकनीकी दुर्घटनाएं हो सकती हैं । वे संघर्ष, जिनको प्रारम्भ में नियंत्रण में रखने की अपेक्षा की जाती है, सम्भवतः नियंत्रण से बाहर होकर परमाणु युद्ध में परिवर्तित हो सकते हैं । आज परमाणु हथियार तकनीक असंगठित है अतः यह भी सम्भव है कि कोई तीसरा पक्ष ही 'उत्प्रेरक' बनकर महाशक्तियों में परमाणुयुद्ध करा दे ।

धमकी की अवधारणाएं :—मूलभूत रूप से भयोपरति तर्क में यह धारणा निहित है कि धमकी किस प्रकार की है और उस धमकी का भयावरोध से क्या संबंध है ? धमकी देने का अभिप्राय यह है कि उसके पीछे विनाशक क्षमता वर्तमान है । धमकी उतनी ही प्रभावशाली सिद्ध होगी, जितनी धमकी देने वाले के पास विनाशक क्षमता होगी। सिंगर के अनुसार धमकी देने की अवधारणा सरल नहीं, एक जटिल प्रश्न है । उसका मत है कि जब तक "विनाशक क्षमता" का व्यापक रूप से अनुमान नहीं किया जाता, तब तक उसमें कोई सार्थकता नहीं है।

कोहेन (1959) का मत है कि धमकी और शक्ति के परस्पर सबंधों के प्रयोगों से द्विधार्थकता का फल प्राप्त हुआ है । धमकी का उतना ही प्रभाव पड़ता है, जितना विपक्षी उस धमकी के प्रमाद का अनुभव करता है । उसके दोनों ही पक्ष हैं । साधारण शक्ति का प्रयोग भी विपक्षी को हिला सकता है और ठोस धमकी के सामने धमकी पाने वाला देश अडिग रह सकता है । सुप्रसिद्ध बेटल आफ ब्रिटेन (द्वितीय विश्व युद्ध) इसका जीता जागता उदाहरण है ।

इस संदर्भ में ब्राडी ने (पृ० 696-697) तथा अन्यत्र यह कहा है कि धमकी देने से विपक्षी की प्रतिक्रिया क्या होती है, यह तीन तत्वों पर निर्धारित होती है । पहले तो एक पक्ष का दूसरे पक्ष के प्रति द्वेषभाव कितना है । दूसरे, विपक्षी कहां तक यह समझता है कि धमकी देने वाले पक्ष में हानि पहुंचाने की क्षमता है । तीसरे, दूसरे पक्ष की घोषित नीति पर किस सीमा तक विश्वास किया जा सकता है । इस भांति धमकी की जटिल धारणाएं हो सकती हैं ।

ह्वाल स्टेटर (1959) ने इस विचारधारा को परिष्कृत करते हुए कहा है कि भयोपरति प्रक्रिया उसी समय उचित रूप से मानी जाएगी, जब आक्रमण के प्रभाव को वहन करने के बाद देश में सम्भाव्य क्षमता शेष रह जाए । दूसरे शब्दों में हम उसी समय किसी देश को त्रस्त कर सकते हैं, जब हम उससे पहले आक्रमण को वहन कर लें तथा उसके बाद भी हमारी इतनी सम्भाव्य क्षमता रह जाए कि उसके द्वारा हम आक्रामक राष्ट्र को नष्ट करने में समर्थ हों । इस प्रकार 'प्रथम प्रहार क्षमता' की अपेक्षा 'द्वितीय प्रहार क्षमता' को सुदृढ़ करने का प्रयास हो रहा है क्योंकि वास्तविक अर्थ में यही भयोपरति धारणा का मूल आधार है । मिलबर्न ने अपने मनोवैज्ञानिक शोध के आधार पर यह कहा है कि धमकियां कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे स्पष्ट, अस्पष्ट, प्रतीकात्मक या ठोस । फिर भी यह कहना कठिन है कि विभिन्न प्रकार की धमकियां किस सीमा तक भयभीत कर सकेंगी, क्योंकि भयोपरति सिद्धांत के ज्ञान के बावजूद इसका अनुभव अभी तक नहीं हो सका है।

भयोपरति प्रक्रिया के स्तम्भ

(क) **विश्वसनीयता:**—इस विषय पर भयोपरति प्रक्रिया के सिद्धान्त प्रतिपादित करने वालों ने पूरा विचार किया है । इसमें उल्लेखनीय है काफमैन (1956 पृ० 12-38) और कोहेन (1963) । काफमैन ने विश्वसनीयता को प्रकारान्तर से शस्त्रों का गुण माना है, न कि राष्ट्रों का परस्पर संबंध । कोहेन का मत है कि यदि धमकी विश्वसनीय है तो आक्रमण की संभावना कम होती है । दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक (जैसे मेकनेल 1959) मत है कि धमकी के प्रति आक्रामक प्रतिक्रिया स्वाभाविक है । कोई भी तर्क, केवल उस उपलब्धि व क्षमता के ऊपर आधारित है, जिसके द्वारा विपक्षी के ऊपर अस्वीकृत विनाश थोपा जा सकता है । विपक्षी उसी समय धमकी से भयान्वित होगा जब वह यह जान जाएगा कि उस प्रक्रिया का प्रयोग वास्तविक रूप से होगा और उसे लाभ की अपेक्षा मूल्य अधिक चुकाना और दंड भोगना पड़ेगा। दंडित करने की बात केवल साफ-साफ कहनी ही नहीं होगी वरन् उसका विश्वास भी दिलाना पड़ेगा ।

कुछ धमकियां अपने आप में ही विश्वसनीय होती हैं, और कुछ को विश्वसनीय बनाया जाता है । पहले प्रकार की धमकी के दृष्टांत पशु

जगत में देखे जाते हैं । एक शेरनी अपने बच्चों को शिकारी से किस प्रकार बचाती है ? वह अपने इरादों को, पहले दहाड़ कर, जबड़ों को खोलकर, अपनी क्षमता को प्रदर्शित करके व्यक्त करेगी । उसे देखकर शिकारी उसके निकट जाने में अपनी असुरक्षा समझेगा । इस दृष्टान्त में निहित भयोपरति सिद्धांत एकपक्षीय है । विश्वसनीयता का मूल्यांकन उस समय कठिन हो जाता है, जब दोनों पक्षों में परस्पर हानि पहुंचाने का सामर्थ्य हो ।

इन दोनों परिस्थितियों के बीच वाली स्थिति सबसे अधिक वाद-विवाद और तनाव की स्थिति उत्पन्न करती है । उदाहरणार्थ—क्या एक अधिक विश्वसनीय कम हानिकारक धमकी एक अत्यधिक हानि पहुंचाने वाली धमकी की तुलना में कारगर सिद्ध होगी ? क्या दुर्घटना की एक छोटी सम्भावना अधिक प्रभावशाली भयोपरति सिद्ध होगी, अपेक्षाकृत उस महत्वपूर्ण संभावना के, जिसमें कम क्षति की संभावना हो ? इस प्रकार की मानसिकता परमाणु युग में राजनीतिज्ञों की मूलभूत समस्याओं का केन्द्र बनती है और इसका गहन अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।

(ख) **संसूचना** :—भयोपरति मुद्रा का सबसे प्रभावशाली आधार यह है कि विपक्षी को सटीक रूप से यह ज्ञान हो जाए कि किस क्षेत्र में कार्य करना निषिद्ध है और उस निषिद्ध क्षेत्र की अवहेलना का उसे क्या परिणाम भुगतना पड़ेगा ? अतः स्पष्ट और सतर्कता-पूर्वक सूचित करना आवश्यक है । पशु जगत में एक भालू घूम फिर कर अपने पंजों के निशानों द्वारा यह ज्ञात करा देता है कि यह क्षेत्र उसका है (शिकारी दोनों बातों को जान जाता है) —(i) यह क्षेत्र भालू का है, और (ii) उसके अंदर घुसना उसके लिये घातक सिद्ध होगा । किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समस्या जटिल है । उसमें त्रुटि होने तथा सूचना को गलत समझने की भी संभावना है । राज्यों की भिन्न-भिन्न संस्कृति, मूल्य, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विश्वास तथा पृथक्-पृथक् राजनीतिक ढांचे होते हैं । अतः परस्पर सहानुभूति प्राप्त करना, एक दूसरे के लक्ष्यों एवं हितों को समझने की आशा यथेष्ट नहीं है । एक दूसरे को समझने में कठिनाई हो सकती है । ऐसे समय में संसूचना की विधियों का प्रयोग पूर्ण रूपेण करना होगा । सार्वजनिक घोषणाएं, व्यक्तिगत सूचना एवं प्रदर्शनों द्वारा विपक्षी राज्य को अपनी बात वजनदार

और ठीक रूप से बतानी पड़ेगी । उसके उदाहरण हैं 1948 में बर्लिन का 'एअरलिफ्ट' जिसमें सोवियत संघ को निर्विवाद रूप से, उपयुक्त साधनों द्वारा, यह बता दिया गया था कि पश्चिम जर्मनी का क्षेत्र अमरीकी हित में है । इसकी अमान्यता के परिणाम और प्रतिक्रिया भयंकर होगी ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद यही दशा समस्त यूरोप की हो गयी थी। पूर्व और पश्चिम की विभाजन-रेखा स्पष्ट थी । थामस स्केलिंग[17] (Thomas Schelling) ने इस बात पर बल दिया है कि प्रमुख भौगोलिक स्थल चिह्न अथवा प्रमुख 'फोकल प्वाइंट' धरातलीय सीमाओं के विवाद के हल में सुविधा प्रदान कर सकते हैं ।

सीमाएं कृपाण की धार होती हैं, जिस पर देश का जीवन और मृत्यु निर्भर है । भयोपरति करने वाले राष्ट्र की सीमारेखा के उल्लंघन के प्रति प्रतिक्रिया जानना स्वाभाविक ही है । कभी-कभी अनेक समस्याएं सामने आ जाती हैं । साधनों के अभाव में घोषणाओं की पूर्व योजना नहीं बन पाती । यह भी संभव है कि सूचना या घोषणा में अनिश्चितता हो या उसकी घोषणा के बारे में आंतरिक मतभेद हो । एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि निर्णायकों में मतैक्य न हो कि वे एक बड़ी शक्ति द्वारा, छोटे देश पर आक्रमण होने पर उसकी मदद करें अथवा नहीं । फलतः ऐसे राष्ट्र का सहयोग विभिन्न स्तरों का होगा । कुछ राष्ट्र सैन्य कार्यवाही के पूर्ण पक्ष में होंगे, कुछ नरम और कुछ तटस्थ रहना पसंद करेंगे । ऐसी स्थिति में बड़े राष्ट्रों के सामने निर्णय लेने में अनिश्चितता आएगी । इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के कारण त्रुटि होने की संभावना बढ़ेगी ।

किन्तु संसूचना की समस्या केवल धमकी देने वाले राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है । विपक्षी देश में नौकरशाही तंत्र, जो सरकारों के "आंख" और कान" के समान होते हैं इन सूचनाओं का क्या अर्थ निकालते हैं, कहना कठिन है । नीचे से उच्च स्तर तक पहुंचते-पहुंचते सूचनाओं का रूप धुंधला और विकृत हो जाता है । यह भी सम्भव है कि निर्णायक को वह सूचना प्राप्त हो, जो मूल सूचना से बिल्कुल कटी हुई हो । इसका परिणाम यह होगा कि विपक्षी राज्य को, धमकी देने वाले के व्यवहार को समझने में कठिनाई होगी । यदि राजनीतिज्ञ पूर्वधारणा या अपने अंतःकरण की आवाज के आधार पर यह निर्णय लेता है कि विपक्षी शक्ति उस विशेष समस्या पर कठोर कदम न उठा पाएगी तो सभी सूचनाओं का प्रभाव

उलटा ही होगा। इस प्रकार राष्ट्रों द्वारा त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन, नीति निर्धारण में घातक सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ कोरिया युद्ध में चीनी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे अमेरिका द्वारा उत्तर कोरिया के आक्रमण को एक संगीन मामला समझेंगे, किन्तु अमेरिका ने उस चेतावनी की अवहेलना की। चीनी भयोपरति प्रक्रिया आंशिक रूप में असफल रही क्योंकि उसकी सूचना पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हुई थी। इसके साथ यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य था कि अमेरिका को यह विश्वास था कि चीन कोरिया के बारे में हस्तक्षेप नहीं करेगा। वह भी उस समय जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाएं विजय प्राप्त करने के इतने सन्निकट थीं।

(ग) सामर्थ्य :—इस तत्व को मात्र भौतिक क्षमता के परिप्रेक्ष्य में नहीं आंका जाता है। यद्यपि भयोपरति सिद्धांत का मूल तत्व यह है कि विपक्षी को किस सीमा तक क्षति पहुंचाई जा सकती है। यदि भयभीत करने वाले राष्ट्र की धमकी केवल धमकी ही सिद्ध न हो, ऐसी स्थिति में धमकी देने वाले को ऐसी क्षमता की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा वह विपक्षी पर, उसके लाभ की अपेक्षा अधिक अमान्य क्षति पहुंचाने का प्रयास करे। यदि वह राष्ट्र जिसे धमकी दी गई है उससे लाभ अथवा हानि का तुलनात्मक मूल्यांकन नहीं करता, तो धमकी देने वाले राष्ट्र की क्षमता अपूर्ण ही होगी। यदि विपक्षी यह जान जाए कि उसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी तो ऐसी दशा में उसका चुप रहना ही बुद्धिमत्ता का द्योतक होगा।

इस विश्लेषण में तर्कसंगतता की अवधारणा अचूक नहीं है। यद्यपि यह हानि-लाभ का लेखा-जोखा करती है, फिर भी परिणाम इस बात पर निर्भर रहेगा कि वह उसे कैसे आंकता है? वास्तव में विपक्षी द्वारा हानि-लाभ का मूल्यांकन ही भयोपरति प्रक्रिया की कसौटी है। यदि एक मां अपने पुत्र को सिनेमा जाने के लिये मारने की धमकी देती है तो शायद पुत्र को सिनेमा से अरुचि हो जाए। किन्तु यदि सिनेमा देखना उसकी आदत हो गई है तो वह मार सह लेगा, किन्तु सिनेमा जाना नहीं छोड़ेगा। मां की धमकी तभी कारगर और प्रभावी सिद्ध हो सकती है, जब वह कह दे कि अगर वह वहां गया तो मार भी पड़ेगी और उसे कमरे में बंद रक्खा जाएगा। यद्यपि यह एक सरल उदाहरण है किन्तु इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चुनौती देने वाले के हानि-लाभ का मूल्यांकन उसकी आत्मगत प्रक्रिया है। फलतः यह कहा जा सकता है कि भयोपरति करने वाले को विपक्षी के अवरोधन को प्रभावित करना होगा। उसे विपक्षी की "आंख" से देखना होगा कि उस पर कैसा प्रभाव है? ऐसा न करने पर भयोपरति प्रक्रिया निश्चित रूप से असफल हो जाएगी।

परमाणु युग से पूर्व भयोपरति संक्रियाओं में ऐसे अवबोधन का स्पष्ट प्रमाण है। उस युग में युद्ध अधिक हेय और घृणित दृष्टि से नहीं देखे जाते थे, अपेक्षाकृत आज के। तब विशाल सैन्य बल रखने मात्र से भयोपरति नीति का लक्ष्य प्राप्त हो जाता था। उस सैन्यबल द्वारा वे विपक्षी को रणक्षेत्र में पराजित करके उसे यह बोध कराने में समर्थ थे कि शत्रु के क्षणिक लाभों से हानि अधिक होने की संभावना है। इस प्रकार सैन्य बाहुल्य ही आवश्यक था। विशेष परिस्थितियों में तुलनात्मक सैन्य क्षमता का आकलन कठिन होता था, और फलतः दोनों ही पक्ष विजय की आशा में युद्ध में भिड़ जाते थे, क्योंकि लड़ने पर ही वास्तविक हानि या लाभ का अनुपात ज्ञात हो सकता था। अतएव भयोपरति प्रक्रिया दुर्बल होती थी और उसके असफल होने की संभावना अधिक होती थी। किंतु वायु और परमाणु शक्ति के प्रादुर्भाव के कारण एक नाटकीय परिवर्तन हो गया है। परमाणु युद्धों में क्षति की संभावना अधिक हो गयी है और लाभ की कम। इन परमाणु हथियारों द्वारा विनाश का इतना भय है कि उनका प्रयोग भी संदिग्ध प्रतीत होता है। फिर भी यदि भयोपरति सिद्धान्त को सफल होना है तो उसे विश्वसनीय होना पड़ेगा।

वास्तव में भयोपरति नीति का परीक्षण इस संदर्भ में करना पड़ेगा कि किस प्रकार सोवियत संघ द्वारा अमेरिका अथवा उसके मित्र राष्ट्रों पर परमाणु अथवा परम्परागत आक्रमण को रोका जाए। पाश्चात्य चिंतकों का, भयोपरति साहित्य रचने का यही मूल उद्देश्य है। रूस द्वारा आक्रमण के संबंध में अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्रों की समस्याएं भिन्न-भिन्न हैं। इस संदर्भ में जहां तक रूस और अमेरिका का प्रश्न है, उसमें विश्वसनीयता कोई जटिल समस्या नहीं है। अमरिका को, सोवियत संघ द्वारा आक्रमण का प्रत्युत्तर, इस पर निर्भर होगा कि रूस द्वारा आक्रमण किस स्तर का है तथा यह आक्रमण अमेरिका के नगरों अथवा सैन्य संस्थानों में से किस पर किया गया है। अमेरिका के मित्र राष्ट्रों पर आक्रमण की धमकी का निवारण प्रक्षप्ति करके विश्वसनीय बनाना पड़ेगा। इस प्रकार सक्रिय और निष्क्रिय भयोपरति प्रक्रिया में अंतर है। निष्क्रिय भयोपरति प्रक्रिया वह है, जब किसी राष्ट्र पर सीधा आक्रमण हो, तथा सक्रिय भयोपरति सिद्धांत उस समय माना जाएगा जब आक्रमण विपक्षी के मित्र राष्ट्रों एवं अन्य राष्ट्रों पर हो। देखें (R. E. Osgood NATO : The Entangling Alliance and the same authors "Stabilizing the Military Environment" American Political Science Review, Vol. 55 No. 1. March 1961).

निष्क्रिय भयोपरति संक्रिया

इस सदी के पांचवें दशक में लोगों का यह विश्वास था कि अमेरिका पर सोवियत संघ द्वारा आक्रमण को, अमेरिका के पास वर्तमान परमाणु हथियार और उनके ले जाने वाले वाहनों के भण्डारों से ही रोका जा सकता है। एलबर्ट होलस्टेटर ने सैन्य एवं असैन्य अधिकारियों को, कई वर्ष तक यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भयोपरति क्षमता के लिए, मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उसके लिए अतिरिक्त कठोर साधनों की आवश्यकता होती है। उसके मतानुसार भयोपरति तकनीक स्वतः ही नहीं होती। भयोपरति क्षमता के मूल आधार गतिशील एवं अनुपाती दोनों ही होते हैं। उसी के अनुसार विपक्षी की तुलना में निजी स्तर, समान नहीं वरन् उच्च होता है। इसका अर्थ संस्था में अग्रता नहीं है, किन्तु भयोपरति बल भी एक आकर्षक लक्ष्य हो सकता है। आक्रामक का वार सहकर, अवशेष परमाणु क्षमता से आक्रमण करने की क्षमता ही महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में यदि अमेरिका सही अर्थ में रूस द्वारा आक्रमणों को रोकना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि उसके पास ऐसी क्षमता हो, जिससे वह रूस के प्रथम प्रहार को झेलकर अपनी बची हुई क्षमता द्वारा इस पर ऐसा आक्रमण करे, जिससे उसका बहुत कुछ नष्ट हो जाए। आक्रमण प्रत्युत्तर रूप में होगा। इसका परिणाम यह होगा कि रूस को "प्रथम प्रहार" की प्रेरणा ही न होगी। बाद में अमेरिका के तत्कालीन सेक्रेटरी आफ डिफेन्स मैकनामारा[19] ने भयोपरति संक्रिया को स्थायी बनाने के लिए विनाश को मात्रा की परिधि में रखना चाहा और उसको "आश्वासित विनाश" क्षमता की संज्ञा प्रदान की। इससे यह सुनिश्चित हो सकेगा कि सोवियत संघ प्रथम प्रहार करने की पहल नहीं करेगा। यदि वह ऐसा करेगा भी तो वह अपनी जनसंख्या और औद्योगिक क्षेत्रों के महा-विनाश को न रोक सकेगा। इस मत के अनुसार, सोवियत संघ द्वारा प्रथम आक्रमण के बाद अमेरिका के पास इतने स्त्रातजिक सैन्यास्त्र शेष रहने चाहिए, जिनके द्वारा रुस की 20 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक जनशक्ति और आधे के लगभग औद्योगिक क्षमता नष्ट की जा सके।

होलस्टेटर के उपर्युक्त विश्लेषण का यह अर्थ था कि वह अमेरिकी परमाणु-शक्ति को अभंजनीय बनाना चाहता था। इस सदी के छठे दशक के प्रारंभ में प्रक्षेपास्त्र पक्के तहखानों में रखे गए, और पोलेरिस पनडुब्बियों पर सुसज्जित कर दिए गए थे। फिर भी कुछ कठिनाइयां शेष रहीं। कुछ काल के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों महाशक्तियों में परस्पर भयोपरति प्रक्रिया में स्त्रातजिक

स्थिरता का चरम बिन्दु पहुंच चुका है। किंतु छठे दशक के मध्य तक रूस ने भी प्रक्षेपास्त्रों को अभंजनीय बना लिया है। अतः असंतुलन का भय पुनः पैदा होने लगा।

भयोपरति संक्रिया के प्रति दोनों महाशक्तियां भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने लगीं, जिससे समस्याएं बढ़ीं। अमेरिका की यह मान्यता हो गई कि "आश्वासित विनाश" क्षमता ही परमाणु भयोपरति सिद्धांत का संभावित आधार नहीं है। दूसरी ओर रूस की स्त्रातजी का आधार इस विश्वास पर था कि आक्रमण रोकने के लिए रूस को लड़ने के लिए श्रेष्ठ स्तर पर तैयार रह कर और अपने को जीवित रखकर, परमाणु युद्ध जीतना है। अतः रूस ने आक्रामक-सुरक्षात्मक शस्त्र सम्पुटन की अनोखी विधि अपनायी। उसने सुरक्षा पद्धति में "गृह सुरक्षा" को प्रथम स्थान दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई प्रकार के "भयोपरति" साधनों को अपनाया, जिसमें वायु सुरक्षा और ए० बी० एम० (एन्टीबेलिस्टिक मिसाइल) प्रमुख थे। दूसरे शब्दों में सोवियत संघ भयोपरति और रक्षा नीति में विशेष अंतर नहीं मानता। वह विनाश से अपनी सुरक्षा तथा शत्रु द्वारा क्षति पहुंचाने को सीमित रखने को समान रूप से महत्व देता है।

इस प्रकार एक नई परिस्थिति आई। एक पक्ष ने आश्वासित विनाश पर बल दिया तो दूसरे पक्ष ने विनाश परिसीमन पर अधिक ध्यान दिया। फलतः शस्त्र निर्माण में और तीव्रता आने की संभावना हो गई, क्योंकि वे दोनों ही तत्व अन्योन्य हैं। यदि एक पक्ष विनाश परिसीमन में सफल होता है तो दूसरा पक्ष भी आश्वासित विनाश क्षमता को कम करने के लिए बाध्य होगा। छठे और सातवें दशक के पूर्वार्ध में तीव्र तकनीकी प्रगति से यह समस्या और भी जटिल होने लगी। दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने निवारक बल प्रयास में बढ़ोतरी की जाने लगी, जिसे सम्भावित धमकी समझा जाने लगा। बैलिस्टिक मिसाइलों द्वारा सुरक्षित स्थानों अथवा ए० बी० एम० में तो कोई भी कमी हुई नहीं वरन अन्तर-महाद्वीपीय बेलेस्टिक मिसाइलों की सटीकता भी नाटकीय ढंग से बढ़ गई। एक वितरण वाहन बहुल ध्वंसाग्रों की आधुनिक तकनीक भी विकसित हो गई। सटीक लक्ष्य भेद इसलिए महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि इसके द्वारा मजबूत तहखानों में रखे गए प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करना आसान हो गया। इस कारण स्थलीय प्रक्षेपास्त्र पद्धति चिन्ता का विषय बन गई। हथियारों की होड़ और बढ़ चली। दोनों महाशक्तियों का व्यय शस्त्र निर्माण पर बढ़ गया। कोई किसी से कम नहीं रहना चाहता था। इस शस्त्र-स्पर्धा की निरर्थकता को देखते हुए दोनों महाशक्तियां, स्त्रातजिक शस्त्र परिसीमन वार्ता के लिए अग्रसर हुईं। इन "साल्ट" वार्ताओं

के फलस्वरूप ए० बी० एम० के फैलाव को सीमित कर दिया गया है तथा आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों का स्तर निर्धारित हुआ। इस वार्ता से एक लाभ यह अवश्य हुआ कि सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों को ही एक दूसरे को भयोपरति मुद्दे की जानकारी हो गई है। इसी के परिणामस्वरूप परमाणु भयोपरति प्रक्रिया में नैतिकता के मूल्य सामने आए। यह विचार किया जाने लगा है कि विश्व, निर्दोष नागरिकों के बड़े पैमाने पर विनाश को कहां तक नैतिकता की संज्ञा देगा? क्या सरकारें इसके द्वारा नागरिकों को बंधक नहीं बना रही हैं? भावी पीढ़ी ऐसी सरकारों को कभी क्षमा नहीं करेगी। इस द्वेष से मुक्त करने के लिए अमेरीकी रक्षा सचिव, जैम्स श्लेसिंगर ने "नगर विनाश" की अपेक्षा "सैन्य विनाश" को स्त्रातजी पर बल दिया। इस बल विनाश का नीति के पीछे यह भी एक कारण था कि परमाणु युद्ध प्रारंभ होने पर अमेरिकी राष्ट्रपति अकर्मण्य न हो जाएं। वह इस अनिश्चितता के बीच न झूलता रहे कि सोवियत संघ के नगरों पर आक्रमण करो या कुछ भी न करे। वास्तव में "बल विनाश" स्त्रातजी से आश्वासित विनाश क्षमता की नीति पृथक नहीं है। दोनों ही महाशक्तियां इन शस्त्रों के भयानक परिणामों के प्रति जागरूक हैं। इसलिए उन्होंने सीमित युद्ध की बात सोची। सीमित युद्ध की सामरिकता एक छलना है। इसका निश्चित रूप नहीं उभरा है। इसकी परिभाषा अत्यन्त ही जटिल है। इसमें लक्ष्य, सैन्यबल, क्षेत्र, शस्त्रास्त्र तथा परस्पर द्वेष में से किस तथ्य को सीमित होना है, भविष्य ही बताएगा। यह भी कोई ध्रुव सत्य नहीं है कि यह सीमित युद्ध धीरे-धीरे प्रलयकारी युद्धों का स्वरूप न धारण करेंगे।

संक्रिया विस्तारित भयोपरति

अपने ऊपर आक्रमण को रोकने की अपेक्षा अपने मित्र के ऊपर आक्रमण को रोकना भिन्न होता है। प्रश्न यह है कि भयोपरति करने वाला पक्ष किस सीमा तक तीसरे पक्ष को रक्षित करने की धमकी आक्रामक को देगा। संभावित आक्रामक इस तथ्य को तोलकर ही आगे बढ़ेगा। दारोमदार इस बात पर है कि आक्रामक तीसरे पक्ष की रक्षा करने वाली धमकी पर कहां तक विश्वास कर सकेगा। तीसरे पक्ष के लिए भयोपरति प्रक्रिया कार्यान्वित करने का अर्थ है कि वह राष्ट्र विपक्षी की तुलना में अधिक सक्षम है। यदि एक महाशक्ति के पास विपक्षी की प्रथम प्रहार क्षमता को असफल कर देने के साधन हैं तो ऐसी दशा में वह तीसरे राज्य के लिए भी, परमाणु साधनों द्वारा भयोपरति प्रक्रिया को कारगर बना सकता है। एच० काहन (H. Kahan) ने अपनी पुस्तक "थिंकिंग एबाउट द अनथिंकेबिल" में इसको "दूसरे प्रकार" की भयोपरति की संज्ञा दी

। 5 वें दशक में अमेरिका इस योग्य था कि वह पश्चिमी यूरोप को अपनी परमाणविक छत्रछाया में ले सकता था तथा सोवियत संघ द्वारा पश्चिमी यूरोप पर किसी भी परंपरागत आक्रमण को विफल करने में समर्थ था। किंतु बाद में जब रूस ने भी अपनी परमाणु-क्षमता में प्रगति कर ली, तब दोनों महाशक्तियों में भयोपरति संक्रिया एकपक्षीय न रहकर द्विपक्षीय हो गई अर्थात् दोनों ही एक दूसरे को भयोपरति करने में समर्थ हो गए। इससे "नाटो" की अमेरिकी गारंटी में अविश्वसनीयता उत्पन्न हो गई। अतएव अब अमेरिका को "नाटो" राष्ट्रों की रक्षा के लिए दूसरे विकल्प ढूंढने आवश्यक हो गये हैं, क्योंकि अब सक्रिय भयोपरति नीति विश्वसनीय नहीं रही है।

फ्रांस ने इस दुर्दशा से बचने के लिए अपनी परमाणु शक्ति को ठोस बनाने का प्रयास किया। कुछ सीमा तक इस शक्ति का निर्माण उसने अपनी प्रतिष्ठा और राजनयिक लाभ के लिए भी किया। इस प्रकार फ्रांसीसी भयान्वित करने की नीति ने एक महत्वपूर्ण रूप तब धारण कर लिया, जब अमरीकी परमाणविक गारंटी टूटने लगी। गैलौइस[20] ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि नाटो संधि निरर्थक ही है, क्योंकि अब अमेरिका स्वयं ही भंजनीय हो चुका है। अब अमेरिका द्वारा बल प्रयोग का तात्पर्य यह नहीं रहा है कि उससे हमलावर सेना का ही विनाश होगा, किंतु यह बल प्रयोग उसके राष्ट्रीय जीवन के लिए भी घातक सिद्ध होगा। यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा जोखिम अपनी ही रक्षा के लिए लिया जा सकता है, दूसरों अथवा घनिष्ठ मित्र राष्ट्रों के लिए नहीं।[21] इससे यह और परिणाम निकलता है कि एक परमाणविक राज्य अपनी भय निवारक छत्रछाया दूसरे देशों को नहीं दे सकता क्योंकि उसका निजी पर्याप्त परमाणु बल ही अपने आप में एक "अलंघनीय शरण क्षेत्र" के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह बड़ी परमाणु शक्ति को भी अपने विरुद्ध आक्रमण करने से रोक सकता है; क्योंकि आक्रामक जिस लाभ की आशा करता है, वह नगण्य हो जाती है, कारण, वह यह जानता है कि प्रत्याक्रमण द्वारा स्वयं उसके नगरों के विनाश का भय है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणु हथियार "महान समकारी" हो गये हैं। इनसे परमाणु शक्ति सम्पन्न राज्यों के परस्पर संबंधों में एक नया स्थायित्व आ गया है। स्वाभाविक है कि अमेरिका सुदूर स्थित यूरोप के एक या अधिक नगरों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए अपने नगरों की बलि नहीं चढ़ाएगा।

विश्वसनीयता अंतर के प्रति अमेरिका का रुख भिन्न था। अमेरिका ने यूरोप में परमाणु शक्ति के विकास को हतोत्साहित करते हुए 'महा प्रतिकार' के

स्थान पर 'नरम प्रतिक्रिया' की स्त्रातजी को प्रतिष्ठित किया। सत्य तो यह है कि रूस द्वारा स्मस्तरीय परमाणविक क्षमता प्राप्त होने पर 'महा प्रतिकार' की सामरिकता अंतिम रूप से कुंठित हो चुकी थी। आलोचकों ने इस स्त्रातजी को अनुपयुक्त माना। विलियम कोफ मैन ने इस नीति का विरोध करते हुए कहा "यह ऐसा होगा जैसे हम एक गौरैया चिड़िया को मारने के लिये तोप का प्रयोग करें।" यह नीति छोटे आक्रमणों को अपभीत करने में अक्षम है। अमेरिका की 'महा प्रतिकार' की स्त्रातजी (1954) का स्पष्ट अर्थ था कि 'अमेरिका किसी भी स्तर के आक्रमण का उत्तर, आक्रामक देश को सम्पूर्ण परमाणविक साधनों द्वारा देगा।' अमेरिका की इस नीति द्वारा 'रूस को पंचमेल सामरिकता' अपनाने का प्रोत्साहन मिला। जब अमेरिका अपनी अभंजनीयता खो बैठा तब उसको यह आवश्यकता हुई कि वह यूरोप के संदर्भ में, रूस के अनुकूल ही कोई सामरिकता अपनाए।

नरम प्रतिक्रिया ने इस समस्या का समाधान कर दिया। इसका अर्थ है—आक्रमण के विरुद्ध परंपरागत और परमाणविक शक्ति के विशाल बिम्ब में से, उपयुक्त स्तरीय साधनों का चयन करके प्रतिकार करना। इसमें यदि विजय की आशा न भी हो, तो भी युद्ध अवयव ठिठक जाएगा। इससे शत्रु को सम्भावित लाभ न होंगे, वरन कुछ क्षति अवश्य होगी। इस प्रकार भयभीत करने वाले राष्ट्र को यह अवसर प्राप्त होगा कि कुछ हानि उठाकर वह अपने 'अपमान' और सत्यानाश से बच सकेगा। इस भांति विश्वसनीय प्रतिक्रिया को स्थापित करने में जो कठिनाई आ गई थी उसका निवारण अधिक संभव हो जाएगा। यद्यपि अमेरिका भयोपरति सिद्धांत के लिए सुदृढ़ रक्षा को अधिक व्यावहारिक मानता था, यूरोपीय देशों के लिए उसकी यह विचारधारा एक अभिशाप थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऐसे युद्ध निश्चय रूप से उनके ही क्षेत्र में लड़े जाएंगे और आक्रमण को कम क्षतिपूर्ण करने से यह भी संभव हो गया कि रूस किसी भी दिन आक्रमण करने का दुस्साहस कर सकता है।

'नाटो' देशों ने इस भांति इस 'नरम प्रतिक्रिया' नीति को सन् 1967 में स्वीकार कर लिया। यूरोपीय देशों के लिए यह स्त्रातजी 'जोखिम भरी छल योजना' बन गयी।[22] इसका आधार इस अवधारणा पर है कि इसके क्रियान्वयन में धन व्यय होगा और युद्ध की पहल करने के लिए शांति एवं विवेकपूर्ण धमकी देने की आवश्यकता नहीं है। यह आत्महत्या का खुला निमंत्रण है। इसके अपनाने से, अन्ततोगत्वा परमाणु आक्रमण भी हो सकता है। आक्रामक को असामान्य जोखिम का बोध कराया जा सकता है। विपक्षी को पूर्ण हिंसा का भय दिखाकर ही आक्रमण से नहीं रोका जाता किन्तु ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाती

है कि घटनाएं नियंत्रण के बाहर हो जाने की संभावना हो जाती है—और फिर हिंसा का नग्न ताण्डव। यह सामरिकता तलवार की धार पर चलने के समान तथा अत्यंत ही उतावली, अविवेकपूर्ण और घर फूंक तमाशा देखने वाली होगी। इस सामरिकता को सम्भवतः उसकी चरम सीमा तक अपनाने की आवश्यकता न पड़े, यदि विपक्षी को यह विश्वास हो जाए कि भयान्वित करने वाले राज्य के लिए अमुक क्षेत्र या उद्देश्य की प्राप्ति उसकी अपेक्षा अधिक लाभदायक है और उसकी प्राप्ति के लिए वह किसी भी सीमा तक जा सकता है। ऐसी दशा में विपक्षी द्वारा उसे चुनौती देने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

भयोपरति प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि कथनी और करनी को स्पष्ट कर देना चाहिए। भयंकर परिणामों के कारण, इससे यथास्थिति का संतुलन बना रहेगा। यदि भयोपरति की नीति सुदृढ़ और वैधानिक अनुबंध द्वारा स्पष्ट कर दी जाती है, तो चुनौती दिए जाने की कम संभावना होती है। 'नाटो' इसका उदाहरण है। इस संधि द्वारा अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिये अपना उत्तरदायित्व स्पष्ट कर दिया है। जार्ज कैनन ने इसी संधि के आधार पर अमेरिकी विदेश नीति को कर्मकाण्डवादी नैतिक परम्परा की संज्ञा दी है। अमेरिका ने सोवियत संघ को यह स्पष्ट कर दिया था कि पश्चिमी यूरोप उनका वांछनीय क्षेत्र है, और उस पर रूस के अधिकार की चेष्टा का परिणाम उसके लिये भयंकर सिद्ध होगा। अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्तर पर कथन तो सरल है किंतु उसको कार्य रूप में परिणत करना अत्यधिक महंगा पड़ता है। कभी-कभी कथन का प्रभाव पर्याप्त होता है। किसी राष्ट्र की वचनबद्धता जितनी सुस्पष्ट और व्यापक होगी उतनी ही सीमा तक उसकी प्रतिष्ठा और प्रतिभा को धक्का पहुंचेगा। इसी के द्वारा अमेरिका ने अपने सैन्य संगठन स्थापित कर 'नाटो' में भयोपरति प्रक्रिया को कारगर बनाया। यह यूरोप में अमेरिकी वचनबद्धता का प्रतीक है।

अपने वचनों का पालन करने से राष्ट्र की धमकी की विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा बढ़ती है। इसे ऐतिहासिक विश्वसनीयता कहते हैं। अपने वचनों के लिए सब कुछ बलिदान करने वाले राष्ट्र से विपक्षी अधिक त्रस्त होता है। घोर शीतयुद्ध काल में बर्लिन के प्रश्न को लेकर रूस के विरुद्ध अमेरिका डट गया। यदि एक राज्य की भयावरोधी धमकियां असंदिग्ध रूप से स्थापित हो जाती हैं तो उसे उग्र चुनौतियों का भी कम सामना करना पड़ता है। दूसरी ओर यदि किसी सरकार की वचनबद्धता में किसी कारण सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में भयोपरति संक्रिया संचालित करने वाला राष्ट्र अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिये 'सीमित युद्ध या संकटावस्था' उत्पन्न कर उसे नियंत्रित करने का सहारा

लेता है। इसका उदाहरण क्यूबा (1962) की संकटावस्था है। कैनेडी ने खरुश्चेव को यह प्रदर्शित कर दिया था कि वह इस प्रश्न पर अटल रहेगा और झुकेगा नहीं।[23] इसमें संदेह नहीं कि दोनों महाशक्तियों में यदा-कदा झड़प हो जाती है, किन्तु दोनों ही यह स्पष्ट रूप से समझ चुके हैं कि उनकी 'लक्ष्मण रेखा' कहां प्रारम्भ होती है। ठीक समाचार न मिलने से गलतफहमी तथा एक त्रुटि-पूर्ण मूल्यांकन हो जाने के कारण दोनों महान् राष्ट्रों में सीधे झड़प हो जाने की नौबत आ जाती है, किन्तु संकटावस्था के बीच ही मामला सुलझा लिया जाता है। दोनों महाशक्तियां स्त्रातजिक शस्त्र परिसीमन पर कुछ सहमत हो रही हैं, किन्तु भयोपरति प्रक्रिया का भविष्य क्या होगा, कहना कठिन है। क्या यह संभव कि वह भावी तीस वर्षों में उतनी ही सफल रहेगी जितनी कि गत तीस वर्षों से रही है? इस प्रश्न के उत्तर में हमें वर्तमान भयोपरति प्रक्रिया के रथ विरोध के स्वरूप को देखते हुए भविष्य के तकनीकी विकास और संकटग्रस्त समस्याओं का मूल्यांकन करना पड़ेगा। विशेषतः यह भी देखना पड़ेगा कि अन्य छोटी परमाणविक शक्तियों के संदर्भ में दोनों महाशक्तियां परस्पर संतुलन बनाए रख सकेंगी अथवा नहीं?

भयोपरति संक्रिया का भविष्य:—भयोपरति संक्रिया के विवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में हितकारी प्रभाव डाला है। समाजशास्त्री भयोपरति नीति की प्रामाणिकता पर शंका व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। उनकी प्रतिक्रियाएं बड़ी अनिश्चित हैं। विशेषज्ञ इस खोज में हैं कि सैन्य तकनीक का राष्ट्र की विदेश नीति पर क्या प्रभाव पड़ता है? अन्य सामाजिक विज्ञानों के विद्वान भी एक जुट होकर अन्तर-विषयक संदर्भ में इसका हल निकालना चाहते हैं।

जैसे-जैसे सैन्य तकनीक परिवर्तित हो रही है, वैसे-वैसे ही स्त्रातजिक विवाद भी चल रहा है। किन्तु संबद्ध समाजशास्त्रियों ने एक विचारधारा का शिलान्यास कर दिया है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सैन्य स्त्रातजी का पुनः विलयन प्रारंभ हो गया है। इस संबंध में हम एक अभ्यवसायी अनुभवजन्य भयोपरतीय सिद्धांत की आशा रख सकते हैं।[24]

दोनों महाशक्तियों में परस्पर भयोपरति परिस्थिति की यह विशेषता है कि दोनों में ही उच्चकोटि की एक समझदारी उत्पन्न हो गई है तथा दोनों ही अपने पर अंकुश लगाये हुए हैं, और उनके परस्पर सैन्यबल भी अभेद्य हैं। 'साल्ट' समझौते से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे निरंतर शस्त्र तकनीक का विकास कुछ

सीमा तक रोके हुए हैं। राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी स्थिति आशाजनक है। प्रत्येक महाशक्ति विपक्षी के वैधानिक हितों को स्वीकार करते हुए इस बात का भी ध्यान रखने लगी है कि परमाणु युद्धों से बचना उभयनिष्ठ है। ब्रिटेन, फ्रांस, चीन ने यद्यपि महत्वपूर्ण परमाणु क्षमता प्राप्त कर ली है, किंतु उससे भी केन्द्रीय स्त्रातजिक संतुलन के स्थायित्व में कोई विशेष कमी नहीं हो पाई है।

भारत के परमाणु 'क्लब' में प्रवेश कर जाने से तथा ईरान, इजरायल (जो अमेरिका की तथा कथित 'सावधानी' के रहते हुए भी गुप्त रीति से परमाणु उर्जा प्राप्त कर सका), पश्चिम जर्मनी, ब्राजील और अब पाकिस्तान आदि के सन्निकट परमाणु शक्ति हो जाने से, अब यह संभव नहीं रहा है कि इस 'संस्थान' के कुछ गिने चुने ही सदस्य हो सकते हैं। ऐसी शक्तियां आए दिन बढ़ रही हैं। केवल दो महाशक्तियां ही परमाणु-प्रचुरण की 'न्यायाधीश' नहीं हो सकतीं। इस लेख में यद्यपि परमाणु प्रचुरण के क्षेत्र, गति और संभावित परिणामों की पूर्णरूपे व्याख्या नहीं की जा सकती, किंतु इस पर अवश्य प्रकाश डाला जा सकता है कि परमाणविक बहुध्रुवीय विश्व में भयोपरति संक्रिया किस रूप से संचालित हो सकती है। क्या भयोपरति नीति उस विश्व में भी संभव है जब आज की पांच परमाणु-शक्तियां बढ़कर बीस या पच्चीस हो जाएंगी? कई कारणों से इसका उत्तर नकारात्मक ही है।

'नाटो' की समस्या पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। किन्तु एशिया में भयोपरति प्रक्रिया और सुरक्षा संबंधी साहित्य नगण्य सा ही है। कोई भी शस्त्र-पद्धति तभी भयोपरति हो सकती है, जब हमें यह ज्ञान हो जाए कि किस वर्ग को 'प्रतिकार-विरत' करना है। अभी तक केवल अमेरिका अकेले, रुस, चीन तथा एशिया के छोटे और मध्य स्तरीय राज्य तथा यूरोप में साम्यवाद का सामना कर रहा था। किन्तु साम्यवाद का भी विखण्डन हो कर सोवियत संघ और चीन की विचारधाराओं में टकराव आ चुका है। ऐसी स्थिति में यह भी निश्चित है कि कोई भी साम्यवादी पक्ष एक दूसरे को अपभीत कर सकेगा अथवा नहीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवादी क्रांतिकारी वर्ग उभर रहे हैं। कहीं चीनी का प्रभाव है, तो कहीं रूस का। आज वियतनाम-कम्पूचिया संघर्ष में, अप्रत्यक्ष रूप से चीन कम्पूचिया का साथ दे रहा है तो रूस वियतनाम का समर्थक है। एक दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप जारी हैं।

एशिया में सभी हिंसा और आक्रमण साम्यवाद की उपज नहीं हैं। इस क्षेत्र में परमाणविक भयोपरति क्षमता अमेरिका ने प्रदर्शित नहीं की है। एशियाई राज्यों में हिंसा ने कई रूप धारण कर लिए हैं। इनमें प्रमुख राजनीतिक हत्याएं विद्रोह, आतंकवाद, स्वतंत्रता के लिए क्रांति तथा परम्परागत युद्ध। इन परंपरागत युद्धों को परमाणु युद्धों में परिवर्तित न होने देने में अमेरिका का योगदान रहा है।[25]

ऐसी सम्भावना हो सकती है कि वर्तमान परमाणु शक्तियों से कम उत्तर-दायित्वपूर्ण राज्य भी महाविनाशी शस्त्रों का विकास कर लें। वे राज्य, जो अत्यंत सैन्य विचारधारा के पक्षपाती हैं, यथास्थिति से असंतुष्ट अथवा जिसमें अविकसित राजनीति पद्धति हो और तुलनात्मक रूप से जिनमें निति निर्धारण का कार्य कुछ असंगठित और भावुक व्यक्तियों के हाथ में हो, उनके लिये भी परमाणु शस्त्र एक रोचक विकल्प हो सकते ह।[26] यह भी सम्भव है कि इन शस्त्रों के उपलब्ध हो जाने से राज्य कम क्रांतिकारी, कम मतान्ध और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिक संयत हो जाएंगे। इसकी भी सम्भावना है कि ऐसे राज्य अत्यंत जोखिम भरी नीति को अपनाएं। भयानक रूप से जीवित रहने का प्रदर्शन करें। ऐसी दशा में उनको भयभीत करना दुष्कर होगा।

यदि भयोपरति नीति अपनाने वाली सरकार, यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष में और संयत है, तो वह भयान्वित करने वाले राज्य के जीवन मूल्यों को समझने में अक्षम होगी। ऐसी अवस्था में भयोपरति करने वाले राज्य की धमकियां एक 'सनकी राज्य' के विरुद्ध असफल ही रहेंगी, जिसका जीवन दर्शन - यह है कि 'मुझे या तो विजय चाहिए या मृत्यु।'[27] ऐसे राज्यों के विरुद्ध भयोपरति प्रक्रिया अतर्गल ही सिद्ध होगी। अतः भयोपरति संक्रिया का मूल्यांकन करना कठिन हो गया है। मिथ्या अनुमान के किस्से बढ़ते जा रहे हैं। कठिनाई का कारण है ऐसे राज्यों से सम्पर्क स्थापित करना, जिन की मनोभावनाएं ऐसी कुत्सित हैं। दूसरे ऐसे विश्व में, जहां अगणित परमाणु शक्ति संपन्न राज्य होंगें, राज्य परस्पर संधि करेंगे और तोड़ेंगे, सीमाएं रोज टूटेंगी और बनेंगी, शस्त्र पद्धतियां निरंतर परिवर्तित और परिवर्धित होती रहेंगी - वहां भयोपरति नीति कहां टिक पाएगी ?

ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में टकराहटें स्थानीय होती जाएंगी। स्थानीय एवं क्षेत्रीय युद्धों की संख्या बढ़ने से विपक्षी दलों में हथियारों की होड़ बढ़ेगी। यह एक बालक के हाथ में बम होने के समान है। महाशक्तियों द्वारा समर्थित

नियंत्रण और सावधानी बरतने के साधनों के अभाव में भयानक स्थिति पैदा हो सकती है। छोटे राज्य इन परमाणु हथियारों को सुरक्षित भी नहीं रख सकते हैं। फलतः यह सम्भावना है कि इनके प्रयोग में कई प्रकार के से पहले हो सकती है, जिससे अस्थायित्व की स्थिति उत्पन्न होगी। 'इसे पूर्वक्रमिक अस्थायित्व'[28] की संज्ञा दी जा सकती है। इन संघर्षों में परमाणु हथियारों से लैस विपक्षी दल 'पहले मारे वही मीर' की भावना से युद्ध क्षेत्र में विध्वंसक परमाणु हथियार लेकर कूद पड़ेंगे। अकस्मात् आक्रमण की सम्भावना से दूसरे पक्ष द्वारा भी परमाणु हथियार ताने जाएंगें और सम्भवतः गोली भी दागी जा सकेगी। झूठे संकेतों के आधार पर भी परमाणु युद्ध छिड़ सकते हैं। वर्तमान परमाणु 'चौधरी' इसी भावना से शंकित होकर 'परमाणु क्लब' की सदस्यता को अपने तक ही सीमित रखना चाहते हैं। यह भी विवाद का विषय बन गया है।

कुछ भी हो, जब अधिक राज्यों के पास परमाणु शक्ति हो जाएगी तो आज की अपेक्षा भयोपरति नीति का संचालन कठिन ही होगा। यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त कारणों से केन्द्रीय स्त्रातजिक संतुलन का ह्रास होगा अथवा नहीं? भविष्य ही इसका निर्णायक होगा। यदि महाशक्तियां, आज से अधिक, एक दूसरे का विश्वास प्राप्त कर लें तो छोटे राज्यों के लिए परस्पर उत्प्रेरक युद्ध प्रारम्भ करना असम्भव हो जाएगा। महाशक्तियां, यदि अज्ञात क्षेत्र से आक्रमण हो जाए तो किसके विरुद्ध युद्ध ठानेंगी? भविष्य की रूपरेखा बड़ी धुंधली और संदिग्ध वातावरण की है। यदि परमाणु भयोपरति टूटी तो विश्व अपूर्व रूप से नष्ट हो जाएगा। परमाणु युग का सबसे अधिक विरोधाभास परमाणु भयोपरति ही है। इसके द्वारा तुलनात्मक रूप से शांति और स्थिरता प्राप्त हो सकी है किन्तु धीरे-धीरे उसके चटकने के आसार बढ़ रहे हैं। एक ही विकल्प है परमाणु बम के साथ जीवित रहना और उसके विस्फोट पर अंकुश लगाए रखना। क्या कोई व्यक्ति या राष्ट्र आत्महत्या करना चाहेगा? यह प्रश्न बड़ा जटिल है।

संदर्भ

1. Peace and War-Raymond Aron p. 404.

2. Ibid p. 405.

3. इस संदर्भ में देखें G. H. Synder की पुस्तक Deterrence and Defence: कटु आलोचक P. Green की Deadly Logic तथा M. Kaplan (ed) की Strategic Thinking and its Moral Implications.

4. L. W. Martin "The Nixon Doctrine and Europe." J. N. Garnell द्वारा संपादित पुस्तक The Defence of Western Europe, p. 1.
5. इस तथ्य को E. R. May ने अपनी पुस्तक Lessons of the Past : The Use and Misuse of History in American History in American Foreign Policy के अध्याय 2 व 3 में विशेष रूप से उभारा है।
6. Contemporary Strategy (Theories and Policies) : John Bayles (ed) : articles on Deterrence by Phil Williams p. 68.
7. उद्धृत Raymond Aron Peace and War, p. 407
8. उद्धृत Span June 1977 : Five Problems of Nuclear Deterrence by Dr. Fred C. Ikle, Director, US Arms. Control and Disarmament Agency.
9. B. Brodie; The Absolute Weapon p. 79.
10. देखें हैराल्ड लंसविल (H. D. Lasswell) Power and Personality, p. 148.
11. देखें Jacob Viner, The Implication of the Atom Bomb for International Relations in Procedings of the American Philosophical Society, 90 : 54.
12. John H. Herz : International Politics in The Atomic Age, p. 25-26.
13. Deterrence—Phil Williams (Contemporary Strategy ed. John Baylis etc. p. 69.
14. James. E. Dougherty—The Psychology of Deterrence (The American Review : Autumn 1977) pp. 22-23.
15. Ibid.
16. Ibid p. 25.
17. Schelling 'The Strategy of Conflict' p. 123.
18. For details see Bruce L. R. Smith 'The RAND Delicate Corporation' and A. Wohlsteller's article "The Balance of Terror." Foreign Affairs Volume 32, No. 2, Jan. 1959.
19. See R. Ma Namara. The Essence of Security (1968 p. 76 as quoted in Contemporary Strategy), Baylis (ed.).
20. P. Gallois, "United States Strategy and the Defence of Europe" in H. A. KISSINGER, Problems of National Strategy, p. 295.

निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण

—एस० पी० पाण्डेय

सभ्यता के विभिन्न चरणों तथा संस्कृतियों के विविध युगों में ऐसे महापुरुषों, कवियों, दार्शनिकों, धर्म गुरुओं, राजनेताओं एवं मनीषियों का आविर्भाव होता रहा है जिन्होंने विश्व-शांति के संदर्भ में गंभीर चिंतन और मनन किया। इन विद्वानों ने मानव सभ्यताओं के परिवेश में व्यक्ति के अधिकारों की व्याख्या करते हुए शासकों को निरंतर सचेत किया कि वे शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास न करें क्योंकि न्याय से भिन्न उसका अस्तित्व स्थायी नहीं हो सकता।

इन महापुरुषों के अनवरत प्रयासों का सामयिक प्रभाव पड़ा और अनेक सम्राटों ने विचार-स्तर पर निरस्त्रीकरण को आधार बना कर विश्व में मानव कल्याण का कार्य किया। भारत में इस कोटि के अंतर्गत अशोक महान का नाम अग्रगण्य है जिसने अपने शासन काल में अहिंसा और सत्य को आधार बना कर केवल शक्ति प्रयोग को तिलांजलि दी बल्कि समानता एवं सहअस्तित्व के आधार पर पड़ौसी राज्यों के साथ निरस्त्रीकरण की परंपरा भी स्थापित की।

अशोक महान जैसे निरस्त्रीकरण के प्रवर्तकों के बावजूद वास्तविक निरस्त्रीकरण कभी भी संभव न हो सका और विश्व के इतिहास में यह सपना अधूरा ही रह गया।

बीसवीं सदी के प्रारंभ होने के साथ ही स्थिति में नया परिवर्तन आया। परमाणु, रासायनिक एवं जीवाणुविक हथियार संपूर्ण विश्व को क्षण मात्र में ध्वस्त कर सकते है। ऐसे हथियारों के निर्माण तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके संतरण की प्रणाली विकसित हो जाने के कारण निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण का महत्व इस युग में अन्य युगों के अपेक्षाकृत और भी बढ़ गया है। आज तो स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि विश्व की महाशक्तियां अपनी विदेश नीति का स्वरूप निर्धारित करते समय निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण को स्थायी आधार मानने लगी है।

इस शताब्दी के आरंभ होने से पहले अंतर्राष्ट्रीय मंच पर निरस्त्रीकरण का मात्र एक रेखाचित्र खींचा गया था जिसमें कई बार रंग भरने के प्रयास किए गए लेकिन वे रंग फीके पड़ते रहे। असफलताओं के इस अंधकार में सफलताओं की रश्मियां प्रस्फुटित अवश्य हुईं, किन्तु उनका अस्तित्व कभी तो तत्समय और कभी कुछ काल के लिए ही रहा।

वास्तव में विश्वशांति के लिए निरस्त्रीकरण का प्रथम सक्रिय एवं व्यावहारिक प्रयास सन् 1816 में उस समय प्रारंभ हुआ जब रूस के जार ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के समक्ष सभी देशों की सशस्त्र सेनाओं में कटौती का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव को ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रीया ने तो स्वीकार किया, किन्तु यूरोप के अन्य देशों ने नामंजूर कर दिया। परिणामस्वरूप उक्त प्रस्ताव मात्र प्रस्ताव रह गया। इसी प्रकार का एक अन्य प्रस्ताव नेपोलियन तृतीय ने 1863, 1867 और 1869 में रखा। ऐसा ही प्रस्ताव ब्रिटेन ने 1870 में तथा इटली ने 1877 में किया। किंतु इन सभी प्रस्तावों का कार्यान्वियन संभव नहीं हो सका।

19 वीं शताब्दी में निरस्त्रीकरण के इन प्रयासों में सफलता तो नहीं मिली किन्तु इस विषय पर बातचीत अवश्य होती रही। कूटनीतिक स्तर पर असफलताओं के बावजूद सन् 1899 में हेग निरस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन संभव हो सका। इसमें 26 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का परिणाम निराशाजनक रहा क्योंकि हथियारों के निरीक्षण एवं नियंत्रण संबंधी प्रस्तावों पर सब राष्ट्र पारस्परिक सहमत न हो सके। लैकिन डम-डम गोलियां, श्वास अवरोधक गैस तथा गुब्बारों से प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबंध स्वीकार कर लिए गए।

दूसरा हेग निरस्त्रीकरण सम्मेलन सन् 1907 में आयोजित हुआ। इस बार सदस्य राष्ट्रों की संख्या 44 थी। परन्तु शस्त्र निर्माण और उनके विकास की समस्या का उचित समाधान प्रस्तुत न किया जा सका। वास्तव में उस समय शस्त्रों के निर्माण में होड़ हो रही थी जिसके कारण सम्मेलन में सम्मिलित राष्ट्रों ने निरस्त्रीकरण के प्रयास में विशेष रुचि नहीं ली। कुछ नौसैनिक प्रतिबंधों को स्वीकार करने के बाद सम्मेलन महत्वपूर्ण विषयों पर बिना कोई निर्णय लिए ही समाप्त हो गया।

वास्तव में निरस्त्रीकरण को नवीन प्रेरणा प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद मिली। वारसा संधि में जर्मनी को शस्त्र निर्माण न करने देने का जो प्रयास किया गया वह पहला ऐसा प्रामाणिक कदम है। यद्यपि इस संधि का उद्देश्य विश्व के सभी राष्ट्रों के शस्त्र निर्माण को सीमित करना था, परन्तु प्रतिबंध वस्तुतः

केवल जर्मनी के शस्त्र निर्माण पर लगाया गया। आगे चल कर सन् 1932 में राष्ट्र संघ ने एक विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया किन्तु इस सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्र वर्गों में बंट गए। इनमें से एक वर्ग तो सुरक्षा तथा यथास्थिति के सिद्धांत का पक्ष लेता रहा। जबकि दूसरा वर्ग यथास्थिति को समाप्त करने तथा आक्रामक रुख अपनाने के पक्ष में था। परिणामस्वरूप किसी भी स्तर पर सहमति संभव न हो सकी।

उसके बाद का दशक ऐसा रहा जिसमें विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण का संकल्प हास्यास्पद-सा बन गया। सन् 1939 से 1945 तक चलने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध में धन-जन का जो विनाश हुआ, उससे हिंसा के समर्थकों की आंखें खुलने लगीं और हिरोशिमा तथा नागासाकी पर परमाणु बम के प्रयोग से एक व्यापक आतंक फैल गया। युद्ध के समर्थक राष्ट्र अब युद्ध की विभीषिका से कांप उठे। उसके बाद निरस्त्रीकरण के संबंध में गंभीरता से प्रयास आरंभ हुए।

26 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ के मसौदे पर 50 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए। पोलैंड ने बाद में हस्ताक्षर किए। जब इस संस्था ने राष्ट्र संघ का स्थान ग्रहण किया तो निरस्त्रीकरण के प्रथम प्रयासों को एक नया रूप देने का प्रयत्न आरंभ हुआ। राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की धारा 11 और 26 के अनुसार विश्व संस्था को प्राधिकृत किया गया कि वह निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण के लिए आवश्यक सिद्धांतों का मसौदा तैयार करे।

घोषणा-पत्र के इन उपबंधों के अधीन राष्ट्र संघ ने एक ऊर्जा आयोग गठित किया, जिसे निम्नलिखित विषयों पर सिफारिशें देनी थीं—

1. ऐसे उपायों के बारे में सिफारिश जिनसे ऊर्जा की क्षमता का उपयोग केवल शांतिपूर्ण कार्यों के लिए हो, और

2. परमाणु हथियारों तथा अन्य महासंहारक शस्त्रों की पूर्ण समाप्ति के लिए आवश्यक सुझाव।

सुरक्षा परिषद् ने भी इसी प्रकार का एक परंपरागत शस्त्र आयोग गठित किया जिसको निम्नलिखित विषयों पर विचार करना था—

1. शस्त्रों एवं सेनाओं का सामान्य नियमन एवं उनकी संख्या में कमी करना।

2. ऐसे उपायों तथा व्यावहारिक रक्षा-उपायों का सुझाव जिन्हें शस्त्रास्त्रों के नियमन एवं उनकी संख्या में कमी करने की स्थिति में अपनाया जा सके ।

उपर्युक्त दोनों आयोग स्थापित तो कर दिए गए किन्तु इनके समक्ष विभिन्न प्रकार की कठिनाइयां थीं क्योंकि सदस्य राष्ट्रों में मतभेद के कारण ये कोई उपयुक्त निर्णय नहीं ले सके ।

राष्ट्रसंघ के निरस्त्रीकरण संबंधी इन प्रयासों को कोई सफलता तो नहीं मिली, किन्तु विश्व की दो महाशक्तियों ने पृथक्-रूप से पांचवें दशक के दौरान और छठे दशक के प्रारंभ में निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास आरंभ किया । विभिन्न स्तरों पर अनेक बैठकें हुईं, जिनका उद्देश्य विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करके निरस्त्रीकरण के लिए सहमति प्राप्त करना था । इन उद्देश्यों में से कुछ इस प्रकार हैं—

1. सभी प्रकार के परमाणु हथियारों पर प्रतिबंध,
2. परंपरागत निरस्त्रीकरण,
3. अंतर्राष्ट्रीय पुलिस एवं शांति सेना का गठन,
4. शस्त्रों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले विखंडनीय एवं विस्फोटक पदार्थों के उत्पादन में कटौती,
5. परमाणु परीक्षण पर पूर्ण अथवा आंशिक रूप से प्रतिबंध,
6. आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए अनिवार्य वायु सीमा परीक्षण पद्धति,
7. यूरोप तथा विश्व के अन्य क्षेत्रों में परमाणु मुक्त क्षेत्र का निर्माण, और
8. विदेशी भूमि पर सैनिक अड्डों की समाप्ति तथा रक्षा-व्यय में कटौती ।

निरस्त्रीकरण के इन उद्देश्यों को लेकर दोनों देशों के प्रतिनिधियों की बैठकों में परस्पर दोषारोपण का क्रम वर्षों तक चला और निर्धारित उद्देश्यों की उपेक्षा होती रही ।

इस प्रकार पूर्ण निरस्त्रीकरण की संभावनाएं कम होने पर तथा परमाणु एवं सामरिक हथियारों के निर्माण में बढ़ती हुई स्पर्धा को ध्यान में रख कर दोनों महाशक्तियों ने मध्य मार्ग अपनाने का प्रयास शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप 'शस्त्र नियंत्रण' की संकल्पना उत्पन्न हुई ।

निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण में अंतर

निरस्त्रीकरण का तात्पर्य हथियारों की होड़ को समाप्त करने के उद्देश्य से कुछ विशेष शस्त्रों या संपूर्ण शस्त्र प्रणाली के न्यूनीकरण अथवा समाप्ति से है जबकि शस्त्र नियंत्रण का अर्थ सैनिक स्थायित्व की दृष्टि से हथियारों की होड़ को नियंत्रित करना है ।

प्राचीन काल में केवल निरस्त्रीकरण शब्द का ही प्रयोग किया जाता था । किन्तु इसका भाव शस्त्रों के नियंत्रण एवं उन्मूलन तक सीमित था, जबकि वर्तमान समय में युद्ध की संभावनाओं को रोकने के लिए उक्त दोनों बातों के अतिरिक्त अन्य तरीके भी अपनाए गए, जिनके लिए शस्त्र नियंत्रण शब्द की आवश्यकता अनुभव की गई ।

निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण का अर्थ कई स्तरों पर एक जैसा है । उदाहरणार्थ, शस्त्रों पर परिमाण एवं कोटि की दृष्टि से प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए—यह दोनों का उद्देश्य है । इसी प्रकार जनशक्ति परिसीमन, शस्त्र न्यूनीकरण, क्रमिक शस्त्र परिसीमन, रक्षा बजट में कटौती, शस्त्र एवं तकनीक विकास पर प्रतिबंध, परमाणु परीक्षणों पर रोक, सेनाओं का अंतरण एवं नियोजन तथा कुछ क्षेत्रों में विशेष किस्म के हथियार जमाने पर प्रतिबंध आदि इन दोनों की प्राथमिक एकरूपताएं हैं ।

इनके अतिरिक्त बाह्य अंतरिक्ष में सैनिक उपयोग का परिसीमन, हथियारों की होड़ में कमी, संसाधन सृजन का परिसीमन, परमाणु प्रसार पर रोक, आकस्मिक आक्रमणों पर प्रतिबंध लगाने के लिए पारस्परिक व्यवस्था, आकस्मिक युद्धों को रोकने के उपाय, रासायनिक, जीवाणुविक एवं परमाणु युद्ध पर प्रतिबंध और स्थानीय युद्धों को रोकने के उपाय, आदि ऐसी बातें हैं जिन पर विचार विमर्श के बाद संधियों के माध्यम से नियंत्रण किया जा सकता है ।

इन समानताओं से स्पष्ट है कि निरस्त्रीकरण से शस्त्र नियंत्रण का गहरा संबंध है लेकिन इन दोनों विचार-धाराओं के पक्षधरों में तीव्र मतभेद है ।

निरस्त्रीकरण विचार धारा के पक्षधरों का तर्क है कि निरस्त्रीकरण का मूल उद्देश्य शस्त्र परिसीमन होना चाहिए, जिसका चरम लक्ष्य हथियारों को समूल नष्ट करना है । इस विचारधारा के मानने वाले व्यक्तियों को इस बात की आशंका है कि यदि निरस्त्रीकरण का उक्त उद्देश्य न रहा तो मानव जाति का आकस्मिक विनाश अवश्यंभावी है ।

इसके विपरीत शस्त्र नियंत्रण के पक्षधर निरस्त्रीकरण की विचारधारा को वर्तमान परिस्थितियों में अवास्तविक मानते हैं। उनका कहना है कि संघर्षों के चलते रहने की स्थिति में इस तरह का विचार काल्पनिक है। जब तक सुरक्षा-हीन राष्ट्रों को इस बात से आश्वस्त नहीं किया जाता कि उनका शोषण नहीं होगा तब तक निरस्त्रीकरण के बारे में सोचना व्यर्थ है। निरस्त्रीकरण के पक्षधर युद्ध निवारण को भी निरस्त्रीकरण से संबद्ध करना उचित नहीं मानते क्योंकि उनके विचार में युद्ध निवारण से निरस्त्रीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलता बल्कि आतंक-संतुलन और करना पड़ता है, जो दीर्घकाल तक बना रहता है।

शस्त्र नियंत्रण को अल्पकालीन दृष्टिकोण बताते हुए निरस्त्रीकरण के पक्षधर उसे स्थायी शांति स्थापना में सहायक नहीं मानते। इसके अतिरिक्त निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण में यह भी अंतर है कि निरस्त्रीकरण एकपक्षीय हो सकता है जब कि शस्त्र नियंत्रण उभय एवं बहुपक्षीय होता है।

संक्षेप में उपर्युक्त बातों का निष्कर्ष यह निकलता है कि निरस्त्रीकरण का पक्ष अधिक सैद्धांतिक और नैतिक है और उसमें व्यावहारिकता का अभाव है। उसके पक्षधर ऐसे विश्व की कल्पना करते हैं जहां न शस्त्र हों न हिंसा, जो वर्तमान परिस्थितियों में पूर्णतः असंभव है। दूसरी ओर शस्त्र नियंत्रण वर्तमान परि-स्थितियों की उपज है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवेश में वस्तुतः व्यावहारिक है।

विभिन्न राष्ट्रों के मत

इस संबंध में विभिन्न राष्ट्रों के अपने अलग-अलग मत हैं, जो उन्होंने अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से व्यक्त किए हैं। इसी वजह से नीति के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय एकरूपता लाना कठिन कार्य है। विभिन्न कालों एवं परिस्थितियों में राष्ट्रीय हित भी बदल सकते हैं, किन्तु परमाणु युग में कोई भी राष्ट्र स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि वह सिद्धांततः निरस्त्रीकरण का विरोधी है। भौतिक रूप से लगभग सभी राष्ट्र इस विचारधारा को स्वीकार करते हैं किन्तु जब उनके समक्ष इसके कार्यान्वयन की बात आती है तो वे पूर्णरूप से सचेत हो जाते हैं और विश्व शांति के अपेक्षाकृत अपने राष्ट्रीय हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। कुछ प्रमुख राष्ट्रों की विचारधाराएं इस प्रकार हैं—

संयुक्त राज्य अमेरिका :—मानव अधिकारों एवं विश्वशांति के संबंध में अमेरीकी प्रचार-साधनों एवं सरकारी तंत्रों के माध्यम से जो विचार व्यक्त किए

गए हैं, उनके अनुसार अमेरीका ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व शांति की स्थापना एवं शस्त्र नियंत्रण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उसने 'बारूश योजना' प्रस्तुत करके निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण काम किया है। इस योजना का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में एक अंतर्राष्ट्रीय परमाणु विकास प्राधिकरण का गठन करना था। प्रस्ताव में यह व्यवस्था थी कि उक्त प्राधिकरण केवल राष्ट्र संघ महासभा एवं सुरक्षा परिषद् के प्रति उत्तरदायी होगा। उसके द्वारा की गई सिफारिश पर निषेधाधिकार का प्रयोग होगा। उसके द्वारा की गई सिफारिश पर निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं हो सकेगा। साथ ही यह भी व्यवस्था थी कि राष्ट्रीय एवं निजी सभी परमाणविक कार्यक्रमों की अनुमति एवं उनके नियंत्रण का अधिकार परमाणु-शक्ति नियमन का एक उपबंध हो सकता था जिसे सोवियत रूस ने अस्वीकार कर दिया। रूस का तर्क था कि प्राधिकरण की स्थापना होने पर अमेरिका ही इसका अध्यक्ष होगा क्योंकि समस्त परमाणु तकनीक पर उसका एकाधिकार है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण पद्धति पर अमेरीकी प्रभुत्व होने के कारण प्रति-स्पर्धी राष्ट्रों द्वारा स्वतंत्र रूप से परमाणु हथियारों के निर्माण में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकेगी क्योंकि प्राधिकरण उसमें व्यवधान उत्पन्न करेगा। अमेरिका की बारूश योजना जब असफल हो गई तो उसने अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए प्रभावी स्त्रातजिक निवारण नीति अपनाई। मई, 1955 में सोवियत रूस द्वारा प्रस्तुत निरस्त्रीकरण की योजना को अस्वीकार करके अमेरिका ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण पद्धति पर ध्यान नहीं दे रहा है।

सन् 1961 में अमेरिका ने एक शस्त्र नियंत्रण एवं निरस्त्रीकरण एजेंसी का गठन किया और उसके माध्यम से अपनी विचारधारा का प्रतिपादन करने का प्रयास किया। उक्त एजेंसी के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. एक अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापक संस्था का गठन होना चाहिए और उससे राष्ट्रीय शस्त्र न्यूनीकरण का कार्य संबद्ध होना चाहिए।

2. निरस्त्रीकरण उपायों का आरंभ से अंत तक प्रभावी ढंग से सत्यापन होना चाहिए।

3. सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं को पूर्ण निरस्त्रीकरण तथा आंशिक शस्त्र नियंत्रण उपायों की आवश्यकताओं एवं उनके प्रभावों का पूरा वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए।

सोवियत रूस :—निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण के विषय में पिछले कुछ वर्षों के दौरान सोवियत रूस ने कई व्यावहारिक प्रस्ताव रखे। उसने प्रस्ताव रखा कि गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों को सुरक्षा की गारंटी दी जानी चाहिए तथा जिन राष्ट्रों के पास परमाणु-हथियार नहीं हैं उनकी भूमि पर परमाणु हथियार नहीं रखे जाने चाहिएं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के निरस्त्रीकरण के विशेष अधिवेशन में रूस ने एकपक्षीय घोषणा की कि जो भी राष्ट्र परमाणु हथियारों का निर्माण एवं प्रयोग न करने तथा अपनी भूमि पर इन्हें न रखने का आश्वासन देगा उस पर रूसी परमाणु हथियारों का प्रयोग नहीं होगा। उसने यह भी घोषणा की कि वह गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों से इस प्रकार का समझौता करने को तैयार है। किन्तु यह प्रस्ताव इसलिए अव्यावहारिक सिद्ध हुआ क्योंकि अन्य परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार रूस की निरस्त्रीकरण संबंधी यह युक्ति उसकी व्यावहारिकता का परिचय देती है।

चीन :—समस्त परमाणु युग के दौरान चीन ने अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण वार्ताओं में कभी भी प्रत्यक्ष भूमिका नहीं निभाई। उसका सदैव यही उद्देश्य रहा है कि वह स्वयं भी इतना शक्तिशाली हो जाए कि परमाण्विक के आक्रमणों का निवारण कर सके और इस प्रकार समानता के स्तर पर रूस और अमेरिका के साथ बातचीत कर सके। चीन का मत है कि सभी परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र, विशेष रूप से अमेरिका और रूस इस बात की प्रतिज्ञा करें कि वे कभी भी परमाणु हथियारों का पहले प्रयोग नहीं करेंगे और गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र तथा परमाणु मुक्त क्षेत्र के देशों पर इन हथियारों का इस्तेमाल नहीं करेंगे। उसकी यह भी मांग है कि सभी परमाणु शक्ति संपन्न विदेशों में स्थित अपने परमाणु अड्डों को समाप्त कर दें और परमाणु हथियार इस्तेमाल करने वाली सेनाएं एवं परमाणु-शस्त्र हटा लें।

भारत :—भारत आदिकाल से विश्वशांति का हिमायती रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस देश के सम्राटों ने संभवतः कभी कभी विदेशों पर आक्रमण का प्रयास नहीं किया। उपनिषद्कालीन ऋषियों की यह वाणी, "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्", भारतीय विदेश नीति का मार्गदर्शन करती रही। वर्तमान सदी में राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा का मार्ग प्रशस्त कर निरस्त्रीकरण की सुदृढ़ नींव रखी। भारतीय नेता आज भी इसी नीति का अनुसरण करते हैं। पंचशील का सिद्धांत निरस्त्रीकरण की आत्मा है जिसको आधार बना

कर विश्वशांति की स्थापना के लिए भारतीय शासक सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। राष्ट्र संघ महासभा के निरस्त्रीकरण के विशेष अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधियों ने परमाणु ऊर्जा को केवल शांतिपूर्ण कार्यों में लगाने का पक्ष प्रस्तुत करते हुए परमाणु हथियारों की क्रमिक समाप्ति का समर्थन किया और कहा कि भारत कभी भी परमाणु हथियारों का निर्माण नहीं करेगा। क्योंकि वह मानव कल्याण एवं विश्व-बंधुत्व की विचारधारा का एक पोषक है।

ब्रिटेन एवं फ्रांस :—इन राष्ट्रों का दृष्टिकोण भी अमेरीकी दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। फ्रांस के दृष्टिकोण में आंशिक अंतर अवश्य देखा जाता है, किन्तु मूल रूप से वह भी अमेरीकी पक्ष का समर्थन करता है।

अन्य राष्ट्र :—विश्व के अन्य राष्ट्र पूर्ण निरस्त्रीकरण का समर्थन करते हैं। लेकिन चूंकि वे किसी न किसी महाशक्ति से संबद्ध या प्रभावित होते हैं। अतः उनके विचार केवल सिद्धांत रूप में रहते हैं। जहां तक गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का प्रश्न है, उनमें भी सैद्धांतिक मतभेद एवं राष्ट्रीय हित के कारण निरस्त्रीकरण के पक्ष में स्पष्ट सहमति नहीं मिलती। चूंकि विकासशील एवं अविकसित राष्ट्र अपने अस्तित्व के प्रति स्वयं चिंतित हैं अतः निरस्त्रीकरण विषय पर उनके विचार केवल विचार स्तर पर ही रह गए हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शस्त्र नियंत्रण संधियां :—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व में निरस्त्रीकरण की जो चेतना जगी उसके फलस्वरूप समय-समय पर विभिन्न विषयों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर की लगभग 17 महत्वपूर्ण संधियां हुईं। ये संधियां आंशिक शक्ति-संतुलन तथा शांति स्थापित करने तथा तनाव कम करने में सहायक सिद्ध हुईं। (संधियों का विवरण अंत में संलग्न है)

इन संधियों का विषय लगभग वही है जो कि परमाणु प्रसार निषेध संधि के उद्देश्यों में उल्लिखित है। अतः यहां पर परमाणु प्रसार निषेध संधि का ब्यौरा देना तथा स्त्रातजिक शस्त्र परिसीमन वार्ता का उल्लेख करना वांछनीय है।

परमाणु प्रसार निषेध संधि

इस संधि का आधार एक रूसी गणितज्ञ का यह सिद्धांत है कि जैसे जैसे राष्ट्र अधिक संख्या में परमाणु शक्ति-संपन्न होते जाएंगे वैसे वैसे परमाणु युद्ध की संभावना बढ़ती जाएगी। यह संधि 5 मार्च, 1970 से लागू हुई तथा अभी तक 96 राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया है। इसकी मुख्य धाराएं इस प्रकार हैं :

धारा 1 के अनुसार किसी भी राष्ट्र को परमाणु हथियार एवं विस्फोटक पदार्थ हस्तांतरित नहीं हो सकते।

धारा 2 में यह उपबंध है कि संधि में सम्मिलित राष्ट्र न तो परमाणु हथियारों का निर्माण करेंगे और न उन्हें प्राप्त करें। यह प्रतिबंध शांतिपूर्ण कार्यों के लिए विस्फोट करने पर भी लागू होगा।

धारा 3 के उपबंध के अनुसार गैर परमाणु शक्ति वाले राष्ट्रों को अपने शांतिपूर्ण परमाणु कार्य के लिए भी अंतर्राष्ट्रीय परीक्षण की व्यवस्था स्वीकार करनी होगी।

धारा 4 के अनुसार शांतिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु ऊर्जा का पूर्ण उपयोग करने का अधिकार केवल सदस्य राष्ट्रों को ही होगा।

धारा 5 में यह उपबंध है कि यदि परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र परमाणु तकनीक के विकास से कोई लाभदायक ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो उसकी जानकारी गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों को भी दी जाएगी।

धारा 6 के अनुसार सदस्य राष्ट्र आपसी बातचीत के माध्यम से हथियारों की होड़ रोकने के लिए पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में प्रयास करेंगे।

इस संधि पर भारत ने हस्ताक्षर नहीं किए हैं क्योंकि उसके विचार से इस संधि की शर्तें पक्षपातपूर्ण हैं। भारत का कहना है कि यह संधि परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती है, जबकि गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों पर शांतिपूर्ण कार्यों के लिए भी विस्फोट करने की पाबंदी है। इससे भारत के राष्ट्रीय हित की हानि होती है क्योंकि चीन एक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र है और वह भारत का शत्रु है। फिर भी भारत ने सैनिक कार्यों के लिए इसका प्रयोग न करने का आश्वासन दिया है। इसके अलावा इस संधि में परमाणु हथियारों के समस्तरीय विकास पर प्रतिबंध है, जब कि विकास पर कोई प्रतिबंध नहीं है। अतः यह संधि शांति स्थापित करने में असफल रही। जब तक विश्व के परमाणु शक्ति सम्पन्न सभी राष्ट्र अपने परमाणु-अस्त्रागारों को नष्ट करने के लिए सहमत नहीं होते तब तक परमाणु प्रसार निषेध संधि का कोई महत्व नहीं है।

सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता

परमाणु प्रसार निषेध संधि की धारा 6 में दिए गए उपबंधों के अधीन 1969 के उत्तरार्ध में विश्व की दो महाशक्तियों—रूस और अमेरिका ने अंतर्राष्ट्रीय सैन्य शक्ति संतुलन के उद्देश्य से वियना और हेलसिंकी में सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ताएं की। यह कार्य वर्तमान काल में विश्व शांति स्थापना की दिशा में सबसे

महत्वपूर्ण राजनयिक प्रयास है। दोनों महाशक्तियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इस वार्ता में रुचि ली। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि परमाणु प्रसार निषेध संधि पर हस्ताक्षर करने वाले गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न इस बात से आश्वस्त हो जाएं कि महाशक्तियां विध्वंसक परमाणु-तकनीक के परिसीमन के संबंध में गंभीरता पूर्वक विचार कर रही हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात इसका आर्थिक पहलू है जिसके संबंध में इन महाशक्तियों ने यह अनुभव किया कि यदि यह वार्ता असफल होती है तो विश्व में हथियारों की होड़ तेज हो जाएगी और परिणामस्वरूप राष्ट्रों के बहुमूल्य आर्थिक उत्पादन के साधनों का उपयोग विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के विकास एवं निर्माण में होने लगेगा। इस उद्देश्य से दोनों देशों के प्रतिनिधियों की 126 बैठकें हुईं और विभिन्न प्रकार की समस्याओं एवं उनके समाधानों पर गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया। अंततोगत्वा 26 मई, 1972 को दो संधियों पर हस्ताक्षर हुए। संधियों का विवरण इस प्रकार है—

1. ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइल परिसीमन संधि।

2. अंतरिम समझौता।

प्रथम संधि में निम्नलिखित उपबंध शामिल हैं—

(क) रूस और अमेरिका अपने देश की सुरक्षा के लिए ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइलें नहीं लगाएंगे।

(ख) पृथ्वी, आकाश, समुद्रतल आदि में ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइलों के स्थापन, विकास, एवं परीक्षण पर प्रतिबंध रहेगा।

(ग) एक बार में एक से अधिक अंतर्रोधी प्रक्षेपास्त्र छोड़ने के लिए न तो कोई व्यवस्था होगी और न इस प्रकार की तकनीक का विकास एवं परीक्षण होगा।

(घ) सामरिक प्राक्षेपिक मिसाइलों के प्रक्षेपपथ को अवरुद्ध करने के लिए रेडार या प्रक्षेपक की व्यवस्था गैर ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइलों के लिए नहीं की जाएगी।

(ङ) ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइल की प्रणाली पर गैर ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइल प्रक्षेपक, अथवा रेडार का परीक्षण नहीं होगा।

(च) राष्ट्रीय सीमा के बाहर पूर्व-चेतावनी के लिए रेडार व्यवस्था पर प्रतिबंध।

(छ) ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइलों की प्रणाली अन्य राष्ट्रों को अंतरित करने तथा अपनी सीमा से बाहर उसके स्थापन पर प्रतिबंध ।

(ज) अंतमहाद्वीप प्राक्षेपिक मिसाइलों (आई० सी० बी० एम०) के नए अड्डों के निर्माण पर रोक ।

(झ) भूस्थित प्रक्षेपक हल्के एवं भारी अंतर्महाद्वीपीय क्षेप्यास्त्रों के प्रक्षेपण की क्षमता वाले न बनाए जाएं और 1964 से पहले के अंतर्महाद्वीप क्षेप्यास्त्रों के अड्डों का भी विकास न हो ।

(ञ) पनडुब्बियों में लगे प्रक्षेपकों की संख्या न बढ़ाई जाए और निर्माणाधीन अंतर्महाद्वीप क्षेप्यास्त्रों के अतिरिक्त अन्य क्षेप्यास्त्रों की संख्या भी न बढ़ाई जाए, किन्तु उनके स्थानापन्न की व्यवस्था रहेगी ।

(ट) राष्ट्रीय जांच-पड़ताल के तरीकों में हस्तक्षेप न हो तथा जान-बूझ कर कोई तथ्य गोपनीय न रखे जाएं । इन सभी प्रतिबंधों के बावजूद ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइल प्रणाली एवं अंतर्महाद्वीपीय प्राक्षेपिक मिसाइल के अनुसंधान, विकास, परीक्षण, आधुनिकीकरण तथा उनके स्थानापन्न करने पर कोई रोक नहीं है ।

जिस समय सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता प्रारम्भ हुई उस समय दोनों ही पक्षों के सामरिक सुरक्षा कार्यक्रम प्रथम चरण में थे। अतः वे ऐंटी बैलैस्टिक मिसाइल के विकास से उत्पन्न समस्या को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देख रहे थे । इसका लक्ष्य अपनी-अपनी राजधानी की सुरक्षा करना था और अमेरिका की योजना जवाबी हमले की शक्ति को सुरक्षित रखना था। फलतः बातचीत के दौरान दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने हितों को ध्यान में रख कर समझौता कर लिया।

अंतरिम समझौता

अन्तरिम समझौता कुछ चुने हुए सामरिक हथियारों से संबंधित है। इसके अंतर्गत, पृथ्वी पर स्थित अंतर्महाद्वीप क्षेप्यास्त्र प्रक्षेपक, बैलस्टिक मिसाइल प्रक्षेपक तथा अत्याधुनिक पनडुब्बियों (जिनमें परमाणविक क्षेप्यास्त्र लगे रहते हैं) का वही वर्ग शामिल होगा जिनसे दोनों महाशक्तियां एक दूसरे के क्षेत्र को विध्वंस कर सकती हैं

इस संधि का सार यह है कि रूस अमेरिका के यू०एस०-12 ऐंटी बैलेास्टक मिसाइल अड्डों को निषिद्ध करने में सफल हो गया क्योंकि यहां से प्रक्षेपित अस्त्र उसके प्रक्षेपक अड्डे को नष्ट कर सकते थे। दूसरी ओर अमेरिका ने इस संधि के माध्यम से रूस के एस० एस०-9 मिसाइल अड्डे को निष्क्रिय कर दिया क्योंकि इन मिसाइलों का लक्ष्य अमेरिका के सामरिक आयुध थे जिनके कारण रूस किसी भी समय अमेरिका को शक्तिहीन कर सकता था।

यद्यपि इन संधियों का विश्वभर में स्वागत हुआ और शस्त्र नियंत्रण की दिशा में यह पहला कदम माना गया तथापि इन संधियों के उपरांत कुछ अधिक शक्तिशाली शस्त्रों का विकास हुआ जिनकी प्रहार क्षमता पहले से अधिक है। इनके निर्माण में भारी मात्रा में धन लगाया गया। इस प्रकार 1972 की उक्त संधियों के बावजूद नए और अधिक विनाशकारी शस्त्रों यथा बहुलक्ष्यभेदी प्रतिवर्तनीय प्रक्षेपास्त्र (एम० आई० आर० वी०) महा शक्तिसंपन्न अंतर्महाद्वीपीय प्राक्षेपिक मिसाइल, भारी प्रक्षेपास्त्र (एस० एस०-20) एम० एवस सचल प्रक्षेपास्त्र, क्रूज प्रक्षेपास्त्र और बैकफायर बमवर्षक का विकास हुआ जो अत्याधुनिक परमाणु हथियार हैं।

3 अक्तूबर, 1977 को अंतरिम समझौते की अवधि समाप्त हो गई किन्तु दोनों पक्षों ने यह निर्णय लिया कि जब तक दूसरी संधि नहीं होती तब तक दोनों पक्ष उक्त संधि का ही पालन करेंगे।

सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता-2

साढ़े छह वर्षों तक चली निरंतर बातचीत के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ ने 18 जून, 1979 को सामरिक शस्त्र परिसीमन समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के निम्नलिखित तीन भाग हैं —

(1) यह संधि 31 दिसम्बर, 1985 तक लागू रहेगी।

(2) संधि का एक समाचार 31 दिसंबर, 1981 तक प्रभावी रहेगा।

(3) साल्ट 111 के लिए नीति एवं सिद्धांत की घोषणा।

जनवरी 1979 में दोनों राष्ट्रों के सामरिक हथियारों की संख्या इस प्रकार थी —

वर्गीकरण	अमेरिका	सोवियत रूस
कुल सामरिक हथियार	2058	2500
आई० सी० बी० एम० प्रमोचित्र	1054	1400
एस० एल० बी० एम० प्रमोचित्र	656	950
सामरिक बमवर्षक	348	150
ध्वंसाग्र	9000	4500

समझौते में दोनों देशों के सामरिक हथियारों की संख्या बराबर करने की व्यवस्था है। इनकी संख्या इस प्रकार है —

(1) आरंभ में सभी प्रकार के सामरिक प्रमोचित्र जैसे आई सी बी एम साइलो, एस एल बी एम ट्यूब, भारी बमवर्षक दीर्घपरासी वायु-भू प्रक्षेपास्त्र की संख्या 2400 से अधिक नहीं बढ़ सकती किन्तु 1981 के अंत तक यह संख्या घट कर 2250 रह जाएगी।

(2) इस संपूर्ण सीमित संख्या में एम० आई० आर० बी० युक्त आई० सी० बी० एम०, एम० आई० आर० बी० युक्त एस० एल० बी० एम० तथा क्रूज मिसाइलों को दूर तक ले जाने वाले वायुयानों के प्रमोचित्रों की संख्या 1320 से अधिक नहीं बढ़ सकती।

(3) इस उप सीमा में भी इस एम आई आर बी युक्त आई सी बी एम तथा एम आई आर वी युक्त एस एल बी एम एस के प्रमोचित्रों की संख्या 1200 से अधिक नहीं बढ़ सकती।

(4) इस उप सीमा में एम आई आर बी युक्त आई सी बी एम एस के प्रमोचित्रों की संख्या 820 से अधिक नहीं बढ़ सकती।

गुणात्मक परिसीमा

ध्वंसाग्रों की संख्या वर्तमान संख्या रहने दी गई है।

सत्यापन संबंधी कार्रवाई

समझौते के अनुसार दोनों पक्ष अपने ही साधनों द्वारा एक दूसरे राष्ट्र में इस बात की जांच करेंगे कि समझौते की बातें वास्तविक रूप

में लागू की जा रही हैं या नहीं। समझौते में यह भी व्यवस्था है कि कोई भी राष्ट्र जानबूझकर इस जांच में बाधा नहीं पहुंचाएगा और न कोई बात छिपाने का प्रयास करेगा।

साल्ट-3 के सिद्धांत की संयुक्त घोषणा

दोंनों पक्षों ने इस बात की घोषणा की है की साल्ट-3 का मुख्य उद्देश्य सामरिक हथियार का गुणात्मक परिसीमन करना होगा। किन्तु कोई भी पक्ष अन्य प्रश्न भी साल्ट-3 में उठा सकता है।

सोवियत संघ ने यह वचन दिया है कि वह बैंक-फायर बमवर्षक की वर्तमान क्षमता में वृद्धि नहीं करेगा तथा इसका निर्माण प्रतिवर्ष 30 से अधिक नहीं किया जाएगा।

समझौते पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने इसे शांति की विजय घोषित करते हुए चेतावनी दी कि परमाणविक विनाशलीला के बादल अभी भी मंडरा रहे हैं। राष्ट्रपति कार्टर ने यह भी घोषणा की कि यह समझौता साल्ट-3 में हथियारों के और अधिक परिसीमन एवं न्यूनीकरण का मार्ग प्रशस्त करेगा।

हस्ताक्षर के पश्चात् सोवियत राष्ट्रपति एल० ब्रेजनेव ने घोषणा की कि हम प्रत्येक व्यक्ति के सबसे पवित्र अधिकार अर्थात् जीने के अधिकार की रक्षा करने में सहायता कर रहे हैं।

यद्यपि इस समझौते को दोनों पक्ष काफी महत्वपूर्ण मानते हैं किन्तु शस्त्र नियंत्रण की दिशा में यह बहुत छोटा कदम है। इसके केवल वैमनस्य उपशमन में सहायता मिल सकती है। यह दोनों महाशक्तियों की हथियार-होड़ को नहीं रोक सकता। उनकी विध्वंसक क्षमता को बरकरार रखा गया है। समझौते के कारण शस्त्रों की संख्या में जो कमी आएगी वह उनकी गुणात्मक शक्ति द्वारा पूरी हो जाएगी। यह समझौता शस्त्रों के गुणात्मक विकास को नहीं रोक सकता है, जैसे कि अमेरिका के मिनटमैन क्रूज मिसाइल तथा विशाल एम० एक्स० मिसाइल जिन्हें मिनट-मैन के स्थान पर प्रतिस्थापित करने के लिए निर्मित किया जा रहा है समझौते के अन्तर्गत पूर्णरूपेण अछूते हैं। इसी प्रकार सोवियत संघ के तीन बड़े एम० ई० आर० बी० युक्त राकेट एस एस 17, एस एस 19 तथा एस एस 18 जो क्रमशः चार, छह तथा दस ध्वंसाग्र वहन कर सकते हैं,

साल्ट- 2 की सीमा से बाहर है। साल्ट-2 ग्रहों, उनके समुद्रों तथा बाह्य अंतरिक्ष के विसैन्यीकरण के विषय में मौन है। सन 1963 के बाद करीब 1400 उपग्रह सैन्य कार्य के लिए अंतरिक्ष में छोड़े गए हैं। ये उपग्रह गुणात्मक परमाणु हथियारों की होड़ के प्रमुख अंग हैं।

इस प्रकार साल्ट-2 में विश्व शांति तथा शस्त्र नियंत्रण की दिशा में मूलभूत आधारों, तथा महाशक्तियों द्वारा रक्षा व्यय कम करना, परमाणु तथा परंपरागत हथियारों के प्रसार एवं विकास को समाप्त करना आदि, पर ठोस कार्य नहीं किए जा रहे हैं। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों महाशक्तियों ने एक दूसरे को पुनः आश्वासन दिया है कि वे पृथ्वी एवं उसकी सभ्यता का फिलहाल विध्वंस नहीं करेंगे।

निरस्त्रीकरण के परिणाम

शस्त्रीकरण मानव जीवन के लिए अभिशाप है। इसके कारण राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग होता है जिनसे देश के जन-हित कार्यों में कटौती कर दी जाती है। इतना ही नहीं शस्त्रीकरण के परिणामस्वरूप जो क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है और युद्ध को बढ़ावा मिलता है तथा विनाश की तैयारी होती है जबकि निरस्त्रीकरण से अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव में वृद्धि, सभी राष्ट्रों का समुचित आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक असमानता निवारण, वैमनस्य उपशमन एवं विश्व-बंधुत्व की स्थापना होती है।

अतः निरस्त्रीकरण को प्रभावी बनाने के लिए शस्त्रों के गुणात्मक तथा परिणामात्मक विकास में कमी करने के साथ साथ रक्षा-व्यय में कमी करना आवश्यक है। इसके लिए मानव संहार के परमाणु हथियारों को समाप्त करने के प्रयास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

Major Post W. W. II Agreements related to Arms Control

1. Antaractic Treaty—1961
2. Partial Test Ban Treaty—1963
3. Outerspace Treaty—1967
4. Treaty for the Prohibition of Nuclear Weapons in Latin America—1968

5. Non Proliferation Treaty— 1970

6. Sea Bed Treaty—1971

7. U. S. Soviet Nuclear Accident Agreement, 1971

8. Convention on the Prohibition of the development, production & stockpiling of Bacteriological (Biological) and Toxin weapons & on their destruction 1975

9. SALT-ABM Treaty—1972

10. SALT-Interim Agreement —1972

11. US-Soviet Agreement on the Prevention of Nuclear War— 1973.

12. Protocol to the U.S.-Soviet Treaty on the limitation of Anti Ballistic Missile Systems—1976.

13. US-Soviet Treaty on the limitation of underground Nuclear Weapon Tests Signed 1974.

14. Peaceful Nuclear Explosion Treaty Signed 1976.

15. French Soviet Nuclear Accidents Agreement—1976.

16. British-Soviet Nuclear Accidents Agreement—1977.

17. SALT-2 Agreement—Signed—18 June 1979.

NB.—For the texts of these and other arms control agreements and the status of their implementation,

See :—Arms Control : A Survey & Appraisal of Multilateral Agreements (Taylor & Francis, London, 1978, Stockholm International Peace Research Institute.

पुस्तक-सारणी

1. डोवेर्टी, जे० ई० "हाउ टु थिंक अबाउट आर्म्स कन्ट्रोल एण्ड डिसार्मामेंट" क्रेन, रशक एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, 1973
2. हरकाबी, वाई० न्यूक्लियर वार एण्ड न्यूक्लियर पीस इजरायल प्रोग्राम फार साइन्टिफिक ट्रांसलेशन, येरुसलेम-1966
3. क्विन्सी राइट, विलियम एम० इवान, मार्टन ड्यूश "प्रिवेन्टिंग वर्ल्ड वार थ्री साइमन एण्ड शुस्टर न्यूयार्क 1962
4. मार नाथाऊ, एच० जे० "पालिटिक्स एमांग नेशंस" पंचम संस्करण, भारतीय संस्करण 1973 साइन्टिफिक बुक एजेंसी कलकत्ता ।

5. सिपरी प्रकाशन :
   (अ) वर्ल्ड आर्मामेंट एण्ड डिसार्मामेंट इयर बुक 1969/70, 1973, 1976 तथा 1978
   (ब) आर्म्स कन्ट्रोल, टेलर एण्ड फ्रेंसिस लन्दन 1978 तथा स्टाकहोम इन्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट

6. गांगूली, बी० एन०, इकोनामिक कान्सेक्वेंसेज आफ डिसार्मामेंट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई से इन्डियन काउंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स के तत्वावधान में 1963 में प्रकाशित ।

7. वार पीस रिपोर्ट जून 1974 सेन्टर फार वार/पीस स्टडी, स्टडीज, न्यूयार्क ।

8. जैन, जे० पी० इंडिया एण्ड डिसार्मामेंट।
   रैडिएन्ट पब्लिशर्स, नई दिल्ली 1974

9. Adelphi Papers No. 141 & 146.

10. Survival Sep/Oct 78, Documentation—The U. N. Special Session on Disarmaments.

11. Hedley Bull—The control of Arms Race.

रक्षा की अर्थ व्यवस्था (सैन्य सहायता सहित)

—पी० के० एस० नम्बूदिरी*

रक्षा और विकास—ये दोनों संकल्पनाएं यद्यपि राष्ट्रीय विकास के संदर्भ में एक दूसरे से अत्यधिक संबंधित हैं, फिर भी इनका प्रायः गलत अर्थ लिया जाता है, यहां तक कि इन संकल्पनाओं पर ऐसे अवैज्ञानिक तरीके से विचार किया जाता है जैसे कि उनका कोई पारस्परिक संबंध ही न हो और यहां तक कि इनके उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हों । वास्तव में, राष्ट्र के योजनाकारों को स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि ऐसी कौन-सी कूटनीतियां हैं जिन्हें कोई देश, अपने सैनिक विकास और आर्थिक प्रगति के क्षेत्र में इतिहास के किसी एक विशेष युग से उनके व्यय तथा संभाव्य लाभों के परिप्रेक्ष्य में अपना सकता है ।

यहां पर भी, कूटनीतियां और व्यय एक दूसरे से अत्यधिक जुड़े हुए हैं और यही कारण है कि इनमें से किसी एक को चुन लेना कठिन प्रतीत होता है । हिच और मेकीन ने इस दुविधा की स्थिति को इन शब्दों में अच्छी तरह स्पष्ट किया है :

"कूटनीति और व्यय ठीक उसी प्रकार एक दूसरे पर आश्रित हैं जिस प्रकार बंदूक का अगला और पिछला निशाना । अगले और पिछले निशानों को एक दूसरे से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता । अगले लक्ष्य और निशाने के बिना पिछले निशाने की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं है । इसी प्रकार लक्ष्यों की पूर्ति के लिए (अथवा दावपेचों अथवा प्रविधियों) को चुने बिना मितव्ययता नहीं हो सकती । मितव्ययता कार्यों को सैनिक निर्णय लेने के समूचे कार्यों से अलग नहीं किया जा सकता । हालांकि कुछ लोग इस कार्य को बजट तैयार करने वालों तथा नियंत्रकों की जिम्मेदारी बताते हैं ।[1]

---

* रक्षा अध्ययन और विश्लेषण संस्थान,
नई दिल्ली

18—172 एम ऑफ एच आर डेव्ह (एन० डी०)/87

हमें "रक्षा" शब्द का अर्थ सही रूप में समझना होगा। रक्षा संबंधी संकल्पना में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में आमूल परिवर्तन आ चुका है। यह परिवर्तन जितना युद्ध-पद्धति में प्रौद्योगिकी क्रान्ति के कारण हुआ, उतना ही युद्ध की संकल्पना बदलने के कारण भी हुआ था। अब युद्ध का रूप वह नहीं रहा जो गत विश्वयुद्ध से पहले विश्व के सामने था। अब यह पहले जैसा असीमित और संपूर्ण नहीं रहा और न ही इसका सैनिक उद्देश्य, विदेशी क्षेत्रों को विजित करना और विदेशी क्षेत्रों को अपने राज्य में मिला लेना रह गया है।

परमाणु हथियारों के आविष्कार के कारण परंपरागत युद्ध सीमित हो गए हैं। विश्व के किसी भी हिस्से में परंपरागत असीमित युद्ध, जिसका लक्ष्य शत्रु का संपूर्ण विनाश हो, अनिवार्य रूप से फैल कर बड़ी ताकतों के बीच शक्ति-संघर्ष और पूरे विश्व में भयंकर परमाणु युद्ध का रूप ले लेगा। अतएव, स्थानीय संघर्षों में महा शक्तियों का हस्तक्षेप आज अपरिहार्य माना जाने लगा है और विश्वशांति के हित में यह उचित भी है।

यह स्थिति राष्ट्रीय सुरक्षा के विषय में बड़े दिलचस्प प्रश्नों को जन्म देती है। प्रत्येक राष्ट्र को, जब वह यह महसूस हो कि उसके राष्ट्रीय हितों को खतरा है या फिर उसे यह पूरा विश्वास हो जाए कि युद्ध उसके आत्महितों के प्रवर्धन के लिए आवश्यक है, तब युद्ध छेड़ देना उसका परम अधिकार है। इसका अर्थ यह होगा कि या तो कोई देश बाह्य हस्तक्षेप के मुकाबले में अपने हितों को लेकर समझौता कर ले या फिर पहले से ही अपनी सैनिक शक्ति को काफी सुदृढ़ कर ले ताकि अपने निर्णयकर्त्ताओं पर बाह्य दबाव पड़ने की स्थिति आने से पहले ही थोड़े से समय में वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर ले।

राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी संकल्पना :—रक्षा के सीमित क्षेत्र, जिसका अर्थ केवल सशस्त्र सेनाएं और राष्ट्र की अखंडता की सुरक्षा के लिए उनकी गतिविधियां ही लिया जाता है, का स्थान अब राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यापक संकल्पना ने ले लिया है। राष्ट्रीय सुरक्षा में अब केवल अपने राष्ट्र की सीमा की सुरक्षा ही नहीं बल्कि इसमें अपनी संस्कृति, अपने मूल्यों और अपनी आर्थिक परिसंपत्तियों को बाहरी हस्तक्षेप का शिकार बनने से बचाए रखने की योग्यता भी शामिल है। इस अर्थ में, किसी राष्ट्र की सुरक्षा मात्र उसकी सशस्त्र सेनाओं अथवा सैन्य शस्त्रों की परिष्कृति के संदर्भ में ही नहीं होती, अपितु देश के आकार, देश की आबादी, लोगों के मनोबल, देश की औद्योगिक और आर्थिक आधारी संरचना, उसकी राजनीतिक व्यवस्था आदि के संदर्भ में निश्चित होती है।

राष्ट्रीय सुरक्षा पर एक आर्थिक प्रश्न के रूप में विचार करके इसकी व्यवस्था संबंधी समस्या को एक संकल्पना का रूप देने के प्रयास किए गए हैं ।

राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या सिद्धांततः बड़ी आर्थिक समस्या के रूप में समझी जाए । राष्ट्र के अपने कुछ संसाधन होते हैं जिन्हें अर्थशास्त्री आज भी और संभवतया भविष्य में भी परंपरागत अर्थों में भूमि, श्रम और पूंजी की विभिन्न कोटियों में वर्गीकृत करते हैं अथवा करते रहेंगे । राष्ट्र और उससे अलग-अलग नागरिकों के बहुत से उद्देश्यों, राष्ट्रीय सुरक्षा, उच्च जीवन-स्तर, सामाजिक सुरक्षा, तेज आर्थिक विकास आदि के लिए इन संसाधनों का उपयोग किया जा सकता है । उपर्युक्त उद्देश्य वस्तुतः परस्पर प्रतियोगी उद्देश्य हैं । सामान्यतः एक राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जितने अधिक संसाधन जुटाता है, उतने ही कम संसाधन उसके पास सामाजिक सुरक्षा के लिए रह जाएंगे । इसी प्रकार यदि कोई राष्ट्र सामाजिक सुरक्षा में अधिक संसाधन जुटाता है तो उसके पास राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कम संसाधन रह जाएंगे ।

एक अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय सुरक्षा को तीन तत्वों पर आधारित माना जा सकता है । ये हैं : (1) राष्ट्रीय संसाधनों की उपलब्ध मात्रा अब और भविष्य में; (2) राष्ट्रीय सुरक्षा प्रयोजनों के लिए आबंटित इन संसाधनों का अनुपात; और (3) आबंटित साधनों का इस्तेमाल करने की कुशलता ।[2]

इस प्रकार का दृष्टिकोण हमें सुरक्षा की वैज्ञानिक व्यवस्था के अधिक निकट तो लाता है किंतु यह सुरक्षा संबंधी सभी प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत नहीं करता । सुरक्षा संबंधी समस्याओं को आर्थिक विकल्पों की संकल्पना का रूप देने में भी हमें इसी अनुमान को लेकर चलना होगा कि हमारा विकल्प वास्तव में मूल्यों का विकल्प है और अर्थमिति का कोई भी माडल उचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता ।

रक्षा और विकास

अभी तक हम राष्ट्र के सामने आने वाले विकल्पों की समग्रता पर विचार करते रहे हैं, यहां तक तो वस्तुस्थिति सही है । समस्या तब सामने आती है जब हम दो प्रकार के विकल्पों की पारस्परिक सहबद्धता को सही प्रकार से समझें और इसका सही मूल्यांकन किए बिना ही एक प्रकार के विकल्पों को दूसरे प्रकार के विकल्पों से अलग समझने लगते हैं । रक्षा और विकास संबंधी चर्चा करते

समय समग्रता के इस पक्ष को भी ध्यान में रखना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण का अर्थ यह होगा कि एक राष्ट्र के लोगों की प्रगति और उसके आर्थिक और औद्योगिक आधार संबंधी समस्त आर्थिक तथा अन्य क्रियाकलाप भी अप्रत्यक्ष रूप से, उस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा के वर्धन में योगदान देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि देश के विभिन्न क्षेत्रों के विकास को साथ-साथ चलना होगा। उदाहरण के लिए, यदि हमारा औद्योगिक और प्रौद्योगिक स्तर उच्च नहीं है तो हम परिष्कृत शस्त्र-व्यवस्था और उन्नत प्रविधियों में प्रशिक्षित फौजों वाले प्रथम कोटि के रचनात्मक ढांचे की आशा नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि रक्षात्मक ढांचे के लिए आत्मनिर्भर अथवा कम से कम काफी सीमा तक स्वतंत्र रक्षा कार्यक्रम की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, जब तक हमारे पास प्रगतिशील और सम्बद्ध कृषि-क्षेत्र नहीं है तब तक हमारे पास आधुनिकीकृत उद्योग नहीं हो सकते। संक्षेप में, ये सब आपस में इतने अधिक संबंधित हैं कि एक को दूसरे से अलग करना और दूसरे घटकों के संदर्भ के बिना प्रत्येक का स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन करना कठिन है।

किसी देश के अन्य आर्थिक क्रियाकलाप भी उस देश के राष्ट्रीय सुरक्षा लक्ष्य का कार्य होते हैं, इतनी बात कह लेने के बाद हम इस बात की जांच करेंगे कि किस प्रकार एक देश का रक्षा घटक उस देश में ही अधिकांशतया उपयोग किए जाने वाले माल और सेवाओं का उत्पादन करने वाले एक मुख्य आर्थिक घटक के रूप में कार्य करता है। रक्षा क्षेत्र एक विकासोन्मुख देश में, उदाहरणार्थ भारत में, जहां बेरोजगारी आर्थिक बुराइयों का मूल कारण है—रोजगार का केवल प्रचुर स्तर ही प्रदान नहीं करता, बल्कि यह ऐसे प्राविधिक कौशलों के विकास को भी दिशा देता है जो बाद में असैनिक क्षेत्रों में दे दिए जाते हैं। रक्षा क्षेत्र में वस्त्र और अन्य भंडारगत सामान, कार्मिकों के वेतन, भत्ते और सेवावृत्तियों आदि के रूप में किए जाने वाला उपयोग बहुत सारे असनिक क्षेत्रों में माल और सेवाओं की प्रभावी मांग को बढ़ावा देकर आर्थिक गतिविधियों की एक श्रृंखला उत्पन्न कर देते हैं।

आज विश्व 40,000 करोड़ की दर से रक्षा पर खर्च कर रहा है। भारत में ही हम प्रतिवर्ष लगभग 3,000 करोड़ रुपए रक्षा पर खर्च कर रहे हैं। यह मोटे तौर पर हमारे देश के राष्ट्रीय उत्पादन का 4 प्रतिशत है। रक्षा मंत्रालय सरकारी आय का सबसे बड़ा भाग खर्च करता है। प्रायः जो प्रश्न उठाया जाता है, वह यह है कि क्या रक्षा पर इस सीमा तक खर्च करना देश के समग्र विकास संबंधी लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक है? दूसरी तरफ, ये प्रश्न उठाए जा

रहे हैं कि क्या सुरक्षा लाभों को कम किए बिना, इतनी विशाल राशि को अन्य क्षेत्रों में बेहतर तरीके से खर्च नहीं किया जा सकता ?

क्या रक्षा एक बोझ है ?

इस समस्या पर विचार करने में एक आधारभूत मानसिक व्यवधान है। प्राय: विद्वान रक्षा खर्चों को राष्ट्रीय संसाधनों पर एक बोझ के रूप में ग्रहण करते हैं जबकि अन्य सभी खर्चों को वे इस रूप में नहीं लेते।

क्या रक्षा एक बोझ है ? सांख्यिकीय प्रमाणों से इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में अलग अलग देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दरें उन देशों के रक्षा आबंटनों से प्रभावित प्रतीत नहीं होतीं। स्पष्टतया, ऐसे बहुत से प्रभाव हैं जो वृद्धि दर की उत्पत्ति करने में कार्य करते हैं, किंतु उनमें से किसी एक प्रभाव का संबंध खोजना संभवतया उपलब्ध जानकारी से बहुत अधिक अपेक्षा करना होगा। अर्थव्यवस्था पर रक्षा के समस्त व्ययों का एक जैसा प्रभाव संभव नहीं है। उदाहरण के लिए, सशस्त्र सेवाओं को दिए गए वेतन और निर्वाह-भत्तों (उपभोग) के जो प्रभाव स्थानीय अर्थव्यवस्था पर पड़ेंगे वे एक टैंक खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा के प्रयोग पर पड़ने वाले प्रभावों से भिन्न होंगे।

रक्षा का बोझ मात्र इसके अंतर्निहित स्वरूप में ही नहीं है, मात्र इतना ही कि रक्षा संबंधी समस्या जब खड़ी हो जाती है तो वे सभी क्रियाकलाप जिन्हें हम शैक्षिक कह सकते हैं, समाप्त कर के रक्षा में जुटा दिए जाते हैं। धार्मिक विचारों की शिक्षा देने वाले स्कूलों की स्थापना का विकास पर प्रभाव प्रौद्योगिक कालेजों की स्थापना के प्रभाव से भिन्न होगा। किसी देश में रक्षा-व्यय किस तरीके से विकास में सहयोग दे रहा है अथवा उसका प्रतिद्वंद्वी है, यह उस देश की उस समय की परिस्थितियों पर निर्भर करेगा, इसमें सभी स्थानों और सभी कालों पर लागू होने वाले किसी सामान्य नियम का अनुसरण नहीं किया जाता।[3]

रक्षा बनाम विकास संबंधी चर्चा प्राय: वैयक्तिक दायित्व और व्यक्तिपरक निर्णय का पुट ले लेती है। यह मात्र आर्थिक विकल्पों की बात ही नहीं है। अन्तत: स्थिति यह है कि रक्षा के मामले में हम रक्षा पर किए जाने वाले खर्चों से मिलने वाले लाभों को शुद्ध आर्थिक लाभों के संदर्भ में नहीं माप सकते। उदाहरण के लिए यही मान लेते हैं कि भारत की रक्षा तैयारी यदि बेहतर होती तो 1962 का चीनी आक्रमण न होता। सन् 1962 की घटनाओं का मूल्य

हमें कई रूपों में चुकाना पड़ा। पहले हमें रक्षा खर्चों में काफी ऊंची छलांग लगानी पड़ी जिससे आर्थिक योजनाएं अस्त व्यस्त हो गईं और अस्थिर स्थितियां पैदा हो गईं। ऐसे आर्थिक मूल्य के अतिरिक्त यह एक ऐसा सैनिक विध्वंस था जिसने भारतीय सेना की प्रतिष्ठा को गंभीर क्षति पहुंचाई और उनके मनोबल को गिराया। राजनीतिक दृष्टि से भी यह राजनीतिक नेता की लोकछवि तथा भारत की राजनयिक प्रणाली अर्थात् गुट निरपेक्षता पर भी कठोर प्रहार था। इसने देश के राजनीतिक दलों में मतभेद या फूट की स्थिति पैदा कर दी। यह कहा जाता है कि 1962 की इस पराजय ने नेहरू जी के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डाला। अब क्या हम इन सबका हिसाब रख सकते हैं और यह साबित करने के लिए एक आर्थिक ढांचा तैयार कर सकते हैं कि यदि हमने 1962 से पहले की अवधि के दौरान इतने अधिक संसाधन रक्षा पर जुटाए होते तो बाद में हमने कितने आर्थिक संसाधन बचा लिए होते।

संभवतया यह तर्क दिया जाए और वास्तव में यह सुविदित तर्क है भी कि रक्षा की अपेक्षा लोगों की शिक्षा और स्वास्थ्य पर अधिक खर्च किया जाना चाहिए क्योंकि देश के लोग ही सर्वोच्च सम्पत्ति और उनकी शक्ति ही राष्ट्र की वास्तविक शक्ति होती है। यह एक युक्ति संगत तर्क है। इसी तरह यह तर्क भी मान्य है कि उद्योग, कृषि और परिवहन पर अधिक खर्च किया जाना चाहिए। इस विषय पर कोई असहमति नहीं है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, कृषि और परिवहन पर अधिक खर्च किया जाना चाहिए। इसमें भी कोई असहमति नहीं है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, कृषि और परिवहन—ये सभी एक दूसरे का पोषण करते हैं और इन क्षेत्रों के लिए किए गए पूंजी निवेश रक्षा-प्रयासों को भी सुदृढ़ करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाते हैं क्योंकि बाह्य दबावों के प्रति ये राष्ट्र को अधिक सुरक्षित बना देते हैं।

क्या रक्षा अनर्जक है ?

इस संबंध में प्रश्न यह नहीं कि हम रक्षा क्षेत्र के दुर्लभ आर्थिक संसाधनों का अन्य क्षेत्रों में पुनराबंटन क्यों नहीं कर सकते। इस तर्क का मूल यह दंत कथा है कि रक्षा का व्यय अनर्जक होता है और यह देश की आर्थिक संवृद्धि को क्षति पहुंचाता है। इसमें यह भी अनुमान है कि यदि रक्षा क्षेत्र से निधियों की दिशा बदल दी जाए तो इन्हें रचनात्मक और लाभदायक तरीके से अन्य क्षेत्रों में लगाया जा सकता है। तर्क की दृष्टि से ये इस मूल अनुमान पर आधारित है कि रक्षा पर जितना अधिक व्यय किया जाएगा, आर्थिक विकास के उतने ही कम

अवसर होंगे। इसके विपरीत रक्षा पर जितना कम व्यय होगा, आर्थिक विकास के अवसर उतने ही अधिक होंगे। दूसरे शब्दों में, उस विचारधारा के पक्षधर यह तर्क देते हैं कि यदि देश आर्थिक दृष्टि से प्रगति करना चाहता है तो इसे अपने रक्षा संबंधी खर्च कम करने होंगे और उन संसाधनों को रक्षा से हटा कर अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में लगाना होगा।

अब तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उपर्युक्त अनुमान सभी स्थितियों में सही बैठते हैं। इसके विपरीत, विभिन्न देशों में आर्थिक आधार सामग्री को लेकर लंबे समय तक के व्यापक विश्लेषण के आधार पर किए गए अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि ऊंचे स्तर के रक्षा-व्यय और ऊंचे स्तर की आर्थिक संवृद्धि दर इन दोनों में कम-से-कम कोई विपरीत सहसंबंध नहीं है। दूसरी ओर, इन अध्ययनों से निकाले गए कुछ निष्कर्ष यह संकेत देते हैं कि उपर्युक्त दोनों में निश्चित सहसंबंध है।

एमिली बेनाय ने विकासोन्मुख देशों में रक्षा संबंधी व्ययों पर व्यापक अध्ययन किया। उन्होंने अपने अध्ययन के आमुख में यह उल्लेख किया है [4]:—

इस अध्ययन का एक बड़ा आश्चर्य यह निष्कर्ष था कि साक्ष्यों से यह संकेत नहीं मिलता कि किसी विकासोन्मुख देश में, उस देश की वृद्धि पर रक्षा का नितांत विपरीत प्रभाव पड़ा हो। (यहां तक कि इससे इस संभावना के संकेत भी मिले हैं कि कुल मिलाकर रक्षा कार्यक्रमों ने वृद्धि की दर को तेज किया है भले ही यह संभावना पूरी तरह से प्रदर्शनीय नहीं है)। यह आधारभूत निष्कर्ष ऐसा नहीं कि जिसे मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया हो। मेरे पहले के अनुसंधान का प्रमुख विषय यह प्रदर्शित करना रहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के कम किए गए रक्षा क्रियाकलापों के आर्थिक प्रभाव की आशंकाएं निर्मूल हैं (और हाल ही में किए गए अनुवर्ती अध्ययन से इस निष्कर्ष के लिए सांख्यिकीय समर्थन मिला है कि विकसित देशों में रक्षा कार्यक्रमों ने कुल मिलाकर विकास के मार्ग में बाधाएं डाली हैं)। किंतु इस पुस्तक में जिस मुख्य अनुसंधान परियोजना का उल्लेख किया गया है उसमें "अल्प विकसित" अथवा "विकासोन्मुख" अथवा "कम-विकसित" देशों पर ही विचार किया गया है और इनके संबंध में जो साक्ष्य उपलब्ध है उसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि रक्षा क्रियाकलापों के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास पर इस प्रकार का कोई विपरीत प्रभाव पड़ा हो।

इस वर्ष में एक महत्वपूर्ण साक्ष्य यह निष्कर्ष था कि 44 विकासोन्मुख देशों के 1950–65 के औसत रक्षा-व्यय (राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में) विपरीत अर्थों में नहीं बल्कि निश्चित रूप में, तुलनात्मक दृष्टि से काफी लंबे समय तक की उनकी विकास-दरों से सहसंबंधित रहे। इसका अर्थ यह है कि उन देशों में उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं के आकार की दृष्टि से रक्षा पर जितना अधिक व्यय किया गया उतना ही शीघ्र उनका विकास हुआ। जितना अधिक उन्होंने विकास पर खर्च किया, उतनी ही अधिक उनकी रक्षा सुदृढ़ हुई। यह आधारभूत सहसंबंध इतना सशक्त था कि सहस्त्रों में एक बार भी यह नहीं सोचा जा सकता कि यह सब संयोगवश हुआ हो।

यह निष्कर्ष कि रक्षा-व्ययों ने विकास के मार्ग में कोई बाधा नहीं पहुंचाई, शुरू में, यदि सुनिश्चि रूप से विरोधाभासी नहीं तो अविश्वसनीय अवश्य प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि यदि विकासोन्मुख देश रक्षा संबंधी मामूली रक्षा कार्यक्रमों से काम चला पाते और अपने अधिक संसाधन अत्यधिक उत्पादक निवेशों में लगा देते तो उनकी विकास दरों में वृद्धि होती। किंतु वास्तविकता यह है कि अधिकांश अल्प-विकसित देशों में रक्षा पर जो आय खर्च की जाती है उसका केवल थोड़ा सा भाग ही अत्यधिक उत्पादक निवेशों में लगाया जाता है। अधिकांश तो उपयोग में चला जाता है और शेष का भी काफ़ी बड़ा अंश आवास जैसे सामाजिक निवेशों में लगा दिया जाता है जो उपभोक्ता को भावी उत्पादन बढ़ाने से कहीं अधिक संतोष प्रदान कर सकते हैं, या फिर यह उन अर्जक निवेशों में लगा दिया जाता है जो बुरे तरीके से नियोजित हों अथवा जिनका प्रबंध इतना खराब होता है कि उनके कार्य संचालन में बहुत अधिक अपव्यय होता है और इनका योगदान जितना प्रतीत होता है वास्तव में वह उससे कहीं कम होता है। दूसरी तरफ, रक्षा-कार्यक्रम यदि असैनिक अर्थव्यवस्था में योगदान देने की दृष्टि से तैयार नहीं किए जाते, तो भी उन अप्रत्यक्ष तरीकों से योगदान दे सकते हैं जिन्हें अभी तक ठीक प्रकार से स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव, शुरू की यह धारणा कि हमारे निष्कर्ष विरोधाभासी हैं, बिल्कुल अनुचित है। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब मैंने यह देखा कि कुछ संकेत इस तरह के भी दिए गए है कि अल्प-विकसित देशों के रक्षा-कार्यक्रम की प्रणाली के मांग उत्पादक-तंत्र

द्वारा विकास को प्रेरित कर सकते हैं, जिसमें संसाधनों का कहीं अधिक प्रयोग होगा जो अन्य किसी भी तरीके से नहीं किया जा सकता था। मुद्रा स्फीति की मात्रा और वृद्धि की दर-इन दोनों मे महत्व पूर्ण निश्चयात्मक सहसंबंध खोजा गया—हां अत्यधिक मुद्रास्फीति वाले देश इसमें शामिल नहीं किए गए। ऐसे निश्चित संकेत 'ो मिले कि इस तरह ऐसे कुछ देश जो रक्षा व्ययों के असाधारण रूप से ऊंचे स्तरों को बनाए रखना चाहते थे, उन मित्र देशों से, जिनके हितों की राजनैतिक और सैन्य सहायता देने में रक्षा होती थी, भारी मात्रा में आर्थिक और सैन्य सहायता पाने में सफल रहे। बाहरी देशों में सहायता के रूप में प्राप्त इन संसाधनों की चिर-भोग्यता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन नीतियों ने विकास को अच्छी गति दी होगी। इस अध्ययन में, हमारे वास्तविक निष्कर्षों के नीति निहितार्थ क्या होंगे, यह पता लगाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है किन्तु इनमें से कुछ ऐसे हैं जो काफ़ी दिलचस्प प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि रक्षा गतिविधियों के वृद्धि संबंधी प्रभाव वास्तव में उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने वे इस अध्ययन में प्रतीत होते हैं तो आज विकासोन्मुख देशों में रक्षा-आयोजना और विकास-आयोजना में साधारण तौर पर जो समन्वय है उससे कहीं अधिक घनिष्ट समन्वय लाने के पक्ष में सशक्त आधार मौजूद होता। सिद्धांत रूप में, इस तरह के समन्वय से संभवतया सुरक्षा को कोई क्षति पहुंचाए बिना वृद्धि की ऊंची दरें प्राप्तकर ली जातीं अथवा वृद्धि को नुकसान न पहुंचा कर रक्षा को अधिक सुदृढ़ बना दिया जाता। (बहुत से अल्प विकसित देशों में राजनीतिक सैन्य सुरक्षा के लिए पर्याप्त वृद्धि अपने में ही एक महत्वपूर्ण तत्व है, इस तथ्य को देखते हुए, इसमें जितने भी जटिल वस्तुविनिमय (ट्रेड आफ्स रिश्वत) शामिल हैं उन पर स्पष्ट विचार करना आवश्यक हो जाता है)। मिश्रित सुरक्षा-संवृद्धि अदायगियों को इष्टतम बनाने में केवल रक्षा-कार्यक्रमों के पैमाने में ही नहीं अपितु उनके निर्माण में भी परिवर्तन लाने पड़ेंगे। विशेषतया ऐसे परिवर्तन जो विदेशीमुद्रा, उन्नत कौशलों और औद्योगिक प्रकार के संसाधनों की अपेक्षित निविष्टियों को कम करते हैं या फिर ऐसे परिवर्तन जो सैन्य जनशक्ति कार्यक्रमों, द्वि-प्रयोग वाली अधिसंरचनाओं और

नागरिक-कार्रवाई कार्यक्रमों से सिविल अर्थव्यवस्था को प्राप्त होने वाले लाभों में वृद्धि कर दें ।

ऊपर बेनाय के प्रेक्षणों को व्यापक रूप से उद्धृत किया गया हैं ताकि उसके अध्ययन की प्रमुख विशेषताएं प्रकाश में आ जाएं जो हमारे प्रश्न के संबंध में सबसे पहली प्रमुख पृच्छा जांच रहा है। बेनाय ने बहुत सी दंत कथाओं को जड़ से उखाड़ दिया। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह दंतकथा थी कि पाश्चात्य पूंजीवादी अर्थ व्यवस्थाओं के लिए जो सत्य है वही विकासोन्मुख अर्थव्यवस्थाओं के लिए भी है। महत्वपूर्ण आर्थिक कारक यह है कि लगभग सभी विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्थाओं में अप्रयुक्त फालतू क्षमता होती हैं—विशेषतया बेरोजगार जनशक्ति के रूप में। यदि किसी भी तरीके से इस जनशक्ति का प्रयोग किया जाए तो इससे देश में अत्यधिक मांग पैदा हो सकती है। मांग के प्रोत्साहन से अर्थ व्यवस्थाएं व्यापक क्रियाकलापों की अपेक्षाकृत तेज गति को पकड़ लेती हैं और इस तरह वे अप्रत्यक्ष रूप से संवृद्धि दर में सहायक बनती हैं ।

ठोस तर्क : बेनाय अकेले ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो इन निष्कर्षों पर पहुंचे—हां यह सही है कि इस विषय में अब तक किए गए अध्ययनों में उनके अध्ययन सर्वाधिक व्यापक और आनुभविक हैं। एशिया और अफ्रीका में तीसरे विश्व के देशों के सैनिक व्ययों की जांच के बाद 1974 में प्रकाशित एक अन्य अध्ययन से निम्न निष्कर्ष निकले हैं :

उपलब्ध साक्ष्यों से वह संकेत नहीं मिलता कि रक्षा के भारी बजट अनिवार्यतः प्रत्यक्ष रूप से कल्याण बजटों का तिरस्कार करके बनते हैं। रक्षा बजट और कल्याणकारी व्ययों के पारस्परिक संबंध की जानकारी से सामान्य-मूल्य संबंधी इस मूल्यांकन का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि रक्षाव्यय तीसरे विश्व के देशों को उन संसाधनों से वंचित कर रहे हैं जो लोकस्वास्थ्य के सुधार में और शैक्षिक स्तरों को ऊंचा उठाने के महान उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में लगाए जा सकते थे। उपलब्ध साक्ष्य सामग्री से यह संकेत मिलता है कि सरकारी व्यय की इन मदों (रक्षा और कल्याण) के बीच संबंध यदि असंदिग्ध नहीं तो जटिल अवश्य हैं ।

किन्तु इस प्रकार के प्रतियोगी संबंध का प्रस्ताव उस रूप में अपवाद स्वरूप नहीं है जो यह तर्क देता है कि कल्याण-कार्यों के लिए आवंटित बजट, रक्षा-व्यय

कम किए जाने पर, बढ़ाए जा सकते हैं। किंतु रक्षा के अल्प व्ययों को जो साक्ष्य सामग्री उपलब्ध है उससे यह पुष्टि नहीं होती कि रक्षा-व्ययों में कमी के परिणामस्वरूप कल्याण व्ययों में स्वत: वृद्धि हो जाती है। सिद्धांत रूप में इस तर्क में वजन है। एक मद को कम कर के दूसरी मद बढ़ाई जा सकती है। किन्तु व्यवहार में, इस समीकरण में कुछ न कुछ व्यवधान बन जाता है। राजनैतिक सौदेबाज़ी की प्रणाली में, अधिक कल्याण की इच्छा, और सुरक्षा की आवश्यकता में संतुलन बनाना पड़ता है। साक्ष्य से ज्ञात होता है कि सरकारों ने विभिन्न मदों में पुनरावंटन की अपेक्षा उन पर व्यय बढ़ा दिया है[5]।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि देश के क्रियाकलापों के सभी क्षेत्रकों में संतुलित विकास किया जाए। कतिपय क्षेत्रकों में दूसरे क्षेत्रकों की कीमत पर किए गए निवेश एकपक्षीय विकास को जन्म देते हैं और इसके परिणाम हानिकारक होते हैं। किंतु निवेश का कौन सा स्तर अथवा किस प्रकार का मिश्रित रूप सर्वोत्तम उत्पाद प्रदान कर सकता है, इसका निश्चय विशुद्ध आर्थिक माडल के आधार पर नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि किसी देश को राष्ट्रीय सुरक्षा और उसके रक्षा मूल्य का एक तरह से निरूपण नहीं किया जा सकता और परंपरागत लागत-लाभ-विश्लेषण की उन बड़े और दीर्घकालिक राष्ट्रीय उद्देश्यों, जिनका महत्व आर्थिक इकाइयों में नहीं आंका जा सकता, के संदर्भ में कोई संगति नहीं होती।

भारतीय संदर्भ : रक्षा और विकास के प्रति यह द्विभागीय दृष्टिकोण एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे हमने पश्चिम से लिया है। के० सुब्रह्मण्यम विश्व के प्रथम विश्लेषकों में से थे जिन्होंने इस दंतकथा को प्रस्तुत किया है। उन्होंने सुरक्षा और विकास के प्रति भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां अपना कर योजना-निर्माण के इस भारतीय दृष्टिकोण में विकृतियों को सामने लाने का प्रयास किया है।

रक्षा और विकास एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं-यह धारणा भारत और अन्य देशों के शिक्षित वर्गों में काफी लोकप्रिय है। पश्चिमी शिक्षा शास्त्रियों को इस धारणा की सत्यता, अपनी सरकारों को समझाने की अपेक्षा भारतीय विद्वानों को समझाने में सफलता अधिक मिली है[6]।

भारत में सुरक्षा बनाम विकास संबंधी चर्चा में लगातार एक के बाद एक परिवर्तन हुए हैं[7]। ये परिवर्तन किसी प्रकार के आनुवंशिक साक्ष्य का परिणाम नहीं बल्कि नई राजनीतिक-सैनिक स्थितियों की आवश्यकताओं का परिणाम

हैं। उदाहरण के लिए, 1962 के चीनी आक्रमण के आघात से पहले भारतीय नेताओं और भारतीय प्रबुद्ध-वर्ग का यह सामान्य विचार था कि रक्षा-व्यय बेकार के व्यय हैं। इसलिए इनसे बचा जाना चाहिए। उस समय देश की तात्कालिक आवश्यकता आर्थिक विकास थी। रक्षा-मोर्चे पर किए जाने वाले सभी प्रयास कल्याण कार्यक्रमों की कीमत पर करने पड़ते थे। यह दृष्टिकोण और इसके साथ ही निःशस्त्रीकरण, हिंसा तथा युद्ध के प्रति घृणा के परंपरागत सुदृढ़ दृष्टिकोणों के कारण रक्षा उपेक्षित हो गई। जब बड़े उत्साह से पंचवर्षीय योजनाएं चालू की गईं तो रक्षा-तैयारी संबंधी किसी भी योजना पर विचार नहीं किया गया और न ही विकास योजनाओं में इन्हें कोई स्थान दिया गया।

यह सब इसलिए हुआ क्योंकि रक्षा और विकास के प्रति हमारा दृष्टिकोण दो तरह का था। इस दिशा में सोचने की प्रवृत्ति जब तक यह रही कि रक्षा पर खर्च किया जाने वाला एक-एक पैसा विकास कार्यों से हटा कर लगाया जाता रहा है तब तक यह द्विभागीय दृष्टिकोण—भले ही यह कृत्रिम दृष्टिकोण था—बनाए रखा गया। इससे केवल राष्ट्रीय विकास के प्रति समेकित दृष्टिकोण का अभाव और संभवतया एक गंभीर प्रबंधात्मक चूक लक्षित होती है।

रक्षा और विकास के प्रति भारत के समूचे दृष्टिकोण को पेचीदा बनाने वाला एक प्रमुख कारक, योजनागत और योजनेतर व्यय के बीच भेद, पैदा हो गया। यह भेद कब पैदा हुआ—इस संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। हमारे देश ने केंद्रीकृत आयोजना की तकनीक समाजवादी देशों, विशेषतया सोवियत रूस से ली है। इस प्रकार का कृत्रिम भेद जो समग्र रक्षा-प्रयासों को योजनेतर और इसी कारण कम महत्वपूर्ण क्षेत्र में रख देता है, सोवियत रूस की पंचवर्षीय योजनाओं अथवा अन्य समाजवादी देशों में नहीं पाया जाता। गैर समाजवादी देशों में यह भेद नहीं है और वे देश संभवतया रक्षा-प्रयासों को उच्च प्राथमिकता देते हैं। योजनागत और योजनेतर क्षेत्रों के विषय में बीस वर्षों के दृढ़ विचारों ने इस देश के नौकरशाहों, शिक्षा-शास्त्रियों और यहां तक कि सैन्य शास्त्रियों की पूरी की पूरी पीढ़ी को पूर्णतः विश्वस्त कर दिया है कि रक्षा व्यय कम से कम रखे जाने चाहिएं। मच्छर, प्लेग के रोगजनक जीवाणु आदि से रक्षा संबंधी व्यय तो योजनागत व्यय है। 'पतित' महिलाओं का पुनर्वास एक वैध योजनागत खर्च है क्योंकि यह सामाजिक रक्षा है किंतु बाह्य खतरों से देश की रक्षा योजनेतर व्यय है—इसका आधार कोई तर्क नहीं बल्कि मात्र परिभाषाएं हैं[8]।

नई अनुभूति : हाल ही में इस तथ्य का अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है। भारतीय प्रबुद्ध-वर्ग के इन विचारों में 1962 के आक्रमण के परिणाम स्वरूप परिवर्तन हुआ। अब रक्षा-व्यय परिहार्य अपव्यय न रह कर अपरिहार्य अपव्यय बन गया। फिर भी यह अपव्यय तो समझा ही जाता रहा। फिर, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, इस प्रकार की स्थिति के पीछे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं थे बल्कि यह प्रबुद्ध-वर्ग की अपनी धारणाएं थीं। बाद में जब देश की रक्षा-तैयारी ने अपनी पहली कमियों को पूरा कर लिया और भारतीय सेनाएं इस क्षेत्र की प्रमुख लड़ाकू शक्ति बन गईं तो भारतीय नेताओं और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के रक्षा के व्यय संबंधी विचारों में फिर से परिवर्तन हुआ। अब वे यह महसूस करने लगे हैं कि जो कुछ भी रक्षा के लिए खर्च किया गया वह बेकार का खर्च का नहीं था और यह भी कि इसका अपना विकासात्मक कार्य भी है। 1971 की लड़ाई के दौरान जब भारत एक निर्णायक विजेता के रूप में उभर कर आया तो भारतीय शक्ति संबंधी विभिन्न धारणाओं ने उनके रक्षा व्यय संबंधी विचारों को भी प्रभावित किया। अब रक्षा-व्यय को हानिकर व्यय नहीं समझा जाता है।

रक्षा की भूमिका और कार्य की इस नई धारणा के साथ आधुनिक रक्षा ढांचे के चिरस्थापित वस्तु विनिमय भी स्वीकार किए जाने लगे हैं। सेना की अपनी आधुनिकीकरण की भूमिका है जिसे उसने परंपरागत समाज में निबाहना है। उदाहरण के लिए भारत में सैनिक अनुसंधान और विकास तथा रक्षा-उत्पादन-स्थापनाएं, अपने मुकाबले के अनेक असैनिक क्षेत्रों में गति-निर्धारक रहे हैं। वास्तव में, इलेक्ट्रानिक्स और शल्य-शस्त्रों (इन्स्ट्रूमेंटेशन) के मामले में रक्षा-उत्पादन यूनिटों ने असैनिक क्षेत्रकों का नेतृत्व किया है। इस प्रकार असैनिक प्रयोगों में सैनिक प्रोद्योगिकी की प्रोद्योगिक देन भी काफी है।

रक्षा-सेवाएं विभिन्न व्यवसायों की कुशल और अर्ध-कुशल जनशक्ति का भंडार है। ये अत्यधिक अनुशासित श्रमबल है। रक्षा सेवाओं में पदधारी अपनी पदावधि समाप्त होने के बाद फिर से असैनिक क्षेत्रों में चले जाते हैं, वहीं उनका कौशल और उनकी उद्यमशीलता असैनिक क्षेत्रों में खप जाती है। सर्वोच्च तथा बीच के स्तरों के सैनिक पृष्ठभूमि वाले प्रबंधक, सिविल नौकरियों में बेहतर माने जाते हैं क्योंकि सिविल सेवाओं में प्रबंधकों की अपनी नई भूमिका में आकर वे अपने उस अनुशासन और अन्य गुणों को जिन्हें उन्होंने सेवाओं में रह कर प्राप्त किया होता है, दूसरों को सिखाने में अधिक सफल साबित हुए हैं। हाल ही में,

विदेशों में कुशल और अर्ध-कुशल कार्मिक सेवाओं में पदावधि समाप्त करके ये विदेशों में नौकरियां पाकर अपने देश के लिए विदेशी मुद्रा कमाते रहे हैं।

भारतीय स्थितियों में सशस्त्र सेनाओं ने इस देश के दूर-दराज के क्षेत्रों और विविध रूप जनसंख्या में एकता स्थापित करने में विशेष भूमिका निभाई हैं। इस दृष्टि से यह एक प्रमुख कारक है जिसको कभी कभार ही स्वीकार किया जाता है। सेना को एक और महत्वपूर्ण भूमिका जन-जातीय विकास करने में होती हैं। सीमा-प्रदेशों में सड़क-निर्माण और सीमा विकास कार्य, जो सीमा रक्षा की दृष्टि से अनिवार्यतः हाथ में लिए जाते हैं, सुलभ संचार और बेहतर परिवहन की सुविधा देकर अप्रत्यक्ष रूप से जनजातीय सीमा-प्रदेशों के विकास में सहायता पहुंचाते हैं।

संसाधनों का पुनरावंटन : फिर भी, उपर्युक्त सभी प्रेक्षणों का यह अर्थ नहीं कि अधिक रक्षा व्यय केवल आवश्यक ही नहीं बल्कि वांछनीय भी है। दूसरी ओर, आर्थिक संदर्भों में, यह तर्क देना भी संभव है कि रक्षा-व्यय का लगभग दो तिहाई भाग वेतनों, पेंशनों और अन्य उपभोग व्ययों में चला जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस तरह के उपभोग-व्ययों में अर्थ व्यवस्था में मांग बढ़ाने और इस तरह कुछ आर्थिक कार्यकलापों में उच्च स्तर बनाए रखने की बड़ी संभावना है। किंतु शेष पैसा जो उपकरण शस्त्र और गोला बारुद के अर्जन और संचय में चला जाता है, उसको किसी प्रकार की आर्थिक अदायगी नहीं कहा जा सकता। विशेषतया उस स्थिति में जबकि उपर्युक्त वस्तुएं विदेशी बाजारों से खरीदी गई हों। यद्यपि, भारत में हमने उच्च दर्जे की आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है फिर भी अधुनातम जहाज, टैंक और आयुध अभी भी देश के बाहर से ही खरीदे जाते हैं।

यह महत्वपूर्ण बात है कि प्रत्येक देश को अपने संसाधनों और अपने कार्यक्षेत्र के सुरक्षा पर्यावरण पर निर्भर करते हुए अपनी क्षमताओं के अनुरूप सैनिक बुनियादी ढांचा रखना होता है। यह एक प्रकार से खतरे के प्रति बीमा है जो एक देश को विदेशी शक्तियों के, अव्यवस्था और अस्थिरता की स्थिति पैदा करने के प्रयासों से बचाव के लिए करवाना होता है। भारत जैसे क्षमता वाले देशों के लिए यह बात विशेष रूप से सत्य है। भारत की अपनी क्षेत्रीय और सार्व-भौमिक भूमिका है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में, नए शक्ति केंद्रों के उभरने का सदैव प्रतिरोध होता है, शक्ति के वर्तमान एकाधिकारों का यह प्रतिरोध, नए उभरने वाले शक्ति केंद्रों के गुप्त और अप्रत्यक्ष रूप से दमन के रूप में अभि-व्यक्त होता है।

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट बता देना संभव नहीं कि सुरक्षा और एकता को सुनिश्चित करने के लिए, संसाधनों के आबंटन का इष्टतम स्तर क्या होना चाहिए। संभवतया यह भी तर्क दिया जा सकता है कि सुरक्षा और एकता जैसे आधारभूत मूल्यों को, किसी भी कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए। किंतु साथ ही हम यह भी जानते हैं कि परम सुरक्षा जैसी कोई चीज़ नहीं होती और एक देश में कितना भी रक्षा व्यय क्यों न कर लिया जाए इससे उस देश की सुरक्षा और बचाव की गारंटी नहीं दी जा सकती। ऐसी स्थिति में सुरक्षा स्तर सापेक्षिक स्तर हो जाता है। किसी देश की रक्षा तैयारी को केवल उसके तात्कालिक शत्रुओं और संभाव्य शत्रुओं के संदर्भ में बतलाया जा सकता है किंतु उसके साथ ही उस पूरे स्त्रातेजिक वातावरण, जिसमें उस देश को सैनिक कार्रवाई करनी होती है, को ध्यान में रखना होता है। इसका अर्थ यह होगा कि रक्षा-व्यय और युद्ध-तैयारी के प्रति, सारे विश्व की सामान्य प्रवृत्ति इस तरह होने के कारण, इन दोनों के स्तरों को कम ही रखा जाना होगा।

अतएव, किसी देश के रक्षा व्यय, उस देश की केवल रक्षा-क्षमता से संबद्ध नहीं है। वास्तव में, व्यवहार रूप में जो होता है, वह यह है कि राष्ट्र-इतिहास के किसी समय में शक्ति-वर्ग, रक्षा नीति तथा इस नीति को कार्य रूप देने के लिए किए जाने वाले व्यय का स्तर निर्धारित कर लेते हैं। अन्य सब कुछ, यथा घरेलू संसाधन, अन्य अधिसंरचनात्मक सुविधाएं, विदेशों से विनिमय—ये सभी बाद में उसी पूर्व निर्धारित रक्षा लागतों में गूंथे जाते हैं। यहां हमारा संकेत यह नहीं कि रक्षा-व्यय की मात्रा निर्धारित करने से पहले उपर्युक्त परिवर्तनशील विषयों को ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि यह कि वे केवल सतही होते हैं।

सैन्य सहायता

गत समय में सैनिक सहायता राजनय का एक महत्वपूर्ण साधन हुआ करती थी। किंतु कुछ वर्षों से इसका महत्व कम होता जा रहा है। इसके तीन मुख्य कारण हैं। पहला, दाता का देश, जिनकी विश्वनीति विगत में प्रतिपक्षियों के प्रभाव को कम करने के लिए सैन्य सहायता के माध्यम से सैन्य मैत्री संघों की एक कड़ी बना लेना था, अब वे इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सैन्य सहायता के माध्यम की प्रभाविता में विश्वास रखते प्रतीत नहीं होते हैं। दूसरे, दाता-देश आर्थिक दृष्टि से स्वयं ही ऐसी सुविधाजनक स्थिति में नहीं है कि वे दूसरों को पर्याप्त संसाधन प्रदान कर सकें। तीसरे, प्राप्तकर्त्ता देश स्वयं ही ऐसी सैनिक सहायता स्वीकार करने को तैयार नहीं होते हैं जिसके साथ सामान्य राजनीतिक शर्तें जुड़ी होती हैं।

सैनिक सहायता के अंतर्गत दाता देशों से संसाधन रियायती दरों पर प्राप्त-कर्त्ता देशों को दिए जाते हैं। इस प्रकार की सहायता राजनैतिक स्तर पर इन देशों में विशेष संबंध को भी परिचायक होती थी। परंपरागत रूप में, दाता देशों से सैन्य सहायता, सैनिक साज-सामान और सम्बद्ध सामानों की खरीद के लिए अनुदानों और दीर्घकालीन ऋणों के रूप में हुआ करती थी।

शीत युद्ध के युग के दौरान, यह व्यवस्था दोनों पक्षों के लिए उपयुक्त व्यवस्था थी। दाता देश जो इस दुतरफा संबंध में प्रमुख थे, प्राप्तकर्ता देशों की राजनीति और प्रशासन में अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाना चाहते थे। इस उद्देश्य की सिद्धि में सैन्य सहायता एक आदर्श माध्यम रही। फिर, भारी मात्रा में सैन्य सहायता ने प्राप्तकर्ता देश को सैनिक दृष्टि से और कालांतर में राजनीतिक दृष्टि से भी दाता देशों पर आश्रित कर दिया।

सैन्य सहायता कार्यक्रमों में, सैनिक सहायता के अंग के रूप में विशाल पैमाने पर प्रशिक्षण कार्यक्रम भी शामिल होते हैं। इन्हीं प्रशिक्षणों के कारण दाता देशों का विकासोन्मुख देशों की सशस्त्र सेनाओं के मध्यस्तरीय नेतृत्व से संपर्क होता था, जिससे उन देशों का प्राप्तकर्ता देशों के सैनिक मामलों में काफी दखल हो जाता था। अब दाता देश उन नेताओं को प्रतिपक्षी नेताओं के दृष्टिकोणों के बजाय अपने ही सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों में लाने लगे। चूंकि अधिकांश विकासोन्मुख देशों की राजनीति और अर्थ व्यवस्था में सेना का बहुत प्रभाव होता था, इसलिए सैनिक सहायता देकर दाता देश बहुत से विकासोन्मुख देशों की विचारधारा और व्यवहार को अपने अनुकूल बनाने में सक्षम हो गए।

अन्य अभिप्रेरणाएं : सैनिक सहायता की इस सारी गतिविधि के पीछे सशक्त वाणिज्यिक अभिप्रेरणा रही है। सैनिक क्षेत्रक में अनुसंधान और विकास संबंधी निवेश काफी अधिक रहे हैं और आर्थिक दृष्टि से इस तरह के पूंजी निवेश केवल तभी लाभप्रद हो सकते थे जबकि अधिकाधिक बिक्री सुनिश्चित हो। सहायता लेने वाले देशों को दीर्घकालीन भुगतान के आधार पर सैनिक साज-सामान भेंट करने अथवा दे देने के रूप में दाता देश वास्तव में यही करते रहे हैं कि देशीय सैनिक औद्योगिक परिसर को, जो अधिकांशतया गैर-सरकारी क्षेत्रक के अंतर्गत होता था आर्थिक सहायता देते रहे हैं। दूसरे शब्दों में, सैन्य सहायता कार्यक्रमों के कारण उन्नत देशों में शस्त्रों और एकाधिपत्य की होड़ लग गई।

प्राप्तकर्ता देश जो पहले उपनिवेश थे और जिन्होंने नई-नई स्वतंत्रता प्राप्त की थी, उनके इतने अधिक संसाधन नहीं थे जिन्हें वे एक स्थान से हटा कर सैनिक सहायता में लगा सकें। साथ ही उनमें से अधिकांश आंतरिक फूट और उपनिवेशों को समाप्त करने की क्रिया से उत्पन्न बाह्य संघर्षों के कारण टूट चुके थे। उन्हें मुख्य रूप में बाह्य सैनिक सहायता पर निर्भर करना पड़ा। सैनिक संबंध के कारण प्राप्तकर्ता देश पहले से अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त करने लगे।

फिर भी, अब यह रूप बदल चुका है। सैनिक उलझाव और सैनिक उपहारों के विरुद्ध बढ़ती जा रही क्षुब्धता के कारण अब वे अपने अपने सहायता कार्यक्रमों को जारी रख पाने की स्थिति में नहीं है। इसी प्रकार, सहायता पाने वाले देशों की वर्धमान राष्ट्रवादिता इन देशों को किसी एक शक्तिशाली देश के दबाव में आने से रोक रही है।

अतएव, अब सैनिक सहायता की मूल युक्तिसंगतता नहीं रही है। फिर भी, यह अभी भी सत्य है कि उन्नत देशों को सैनिक औद्योगिक परिसर के पोषण के लिए अपने अनेक रक्षा उत्पादों का निपटान अपने देशों से बाहर करना होता है। अब यह अन्य तरीकों से किया जा रहा है। इनमें से एक है पैसा खर्च करके राजनीतिक प्रभाव खरीदना और इस प्रभाव के बल पर सैनिक साज-सामान बेचना। बहुत से देशों में राजनीतिक व्यवस्थाओं को हिला देने वाले और बहुत से नेताओं को राजनीतिक क्षेत्र से निकाल बाहर करने वाले बहुत से अदायगी घपले इस के साक्षी हैं।

संदर्भ

1. चार्ल्स जे० हिच तथा रोलैंड एन मेकीन, 'दि एकानमिक्स आफ डिफेन्स इन दि न्यूक्लीयर एज' हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, (पांचवा मुद्रण, 1967), पृ० 3।
2. —वही— पृ० 3-4।
3. गेविन केनेडी, दि मिलिटरी इन दि थर्ड वर्ल्ड डकवर्थ (लंदन, 1974) पृ० 183–189।

4. एमिल बेनाय, डिफेंस एंड एकनामिक ग्रोथ इन डेवेलपिंग कन्ट्रीज, लेक्सिगटन बुक्स, मेसाचुसेट्स, 1979 पृ० ।

5. गेविन केनेडी, दि मिलिटरी इन दि थर्ड वर्ल्ड डकवर्थ (लंदन, 1974) 172-174 ।

6. के० सुब्रह्मन्यम, डिफेंस एंड डेवेलपमेंट, मिनर्वा (कलकत्ता, 1976) पृ० 6 ।

7. राजू जी० सी० थामस, दि डिफेंस आफ़ इंडिया, ए बजेटरी पर्सपेक्टिव आफ स्ट्रेटेजी एंड पोलिटिक्स मेक्मिलन (दिल्ली 1978) पृ० 124 ।

8. के० सुब्रह्मन्यम-डिफेंस एंड डेवेलपमेंट, मिनर्वा (कलकत्ता, 1976) प० 6-7 ।

भासमुना—से8—172 एम. ऑफ ह्यूमैन आर. डेव्ह, (एन.डो,)/87—14-12-88--1,000

पी०ई०डी० 601
(1000-1987 उप भण्डारी II)

Price : (Inland) *Rs.* 100·00 (Foreign) £11·66 *or* $ 36 00 *Cents.*

महाप्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, नाशिक 422 006 द्वारा मुद्रित तथा नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार सिविल लाइन्स, दिल्ली-11006 द्वारा प्रकाशित ।

1988